“Bhumandalikaran Aur Hindi Upanyas”

Thesis submitted in Partial Fulfillment of the Requirement for the Degree of
“DOCTOR OF PHILOSOPHY” in Hindi

Submitted By

BHANU PRATAP PRAJAPATI

11HHPH04

Under the guidance of

Prof. R. S. SARRAJU

Department of Hindi, School of Humanities
University of Hyderabad
P.O. Central University, Gachibowli,
Hyderabad-500046
Telangana State, India

December 2022

भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

दिसंबर 2022

शोधार्थी

भानु प्रताप प्रजापति

11HHPH04

शोध-निर्देशक

प्रो. आर.एस. सर्राजु
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046

विभागाध्यक्ष

प्रो.गजेन्द्र कुमार पाठक
हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय, हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500046

CERTIFICATE

This is to to certify that the thesis entitled "**Bhumandalikaran Aur Hindi Upanyas**" (**भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास**) submitted by **BHANU PRATAP PRAJAPATI** bearing Regd. No. 11HHPH04 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as we know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of supervisor

Head of Department

Dean of the school of Humanities

DECLARATION

I BHANU PRATAP PRAJAPATI hereby declare that the thesis entitled "BHUMANDALIKARAN AUR HINDI UPANYAS" (**भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास**) submitted by me under the guidance and supervision of Professor R.S. Sarraju is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Date : 17-12-2022

Signature of supervisor

BHANU PRATAP PRAJAPATI

Signature of the student

Reg. No. 11HHPH04

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**BHUMANDALIKARAN AUR HINDI UPANYAS" (भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास)** submitted by **BHANU PRATAP PRAJAPATI** bearing Registration No. 11HHPH04 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

Parts of this thesis have been :

A. Published in the following publications :

1. Bhumandalikaran Ke Daur Ke Pramukh Hindi Upanyas : Ek Vivechan (ISSN No.2454-6283), Chapter 2
2. Bhumandalikaran Ke Daur Ke Hindi Upanyason Mein Mulya Sankraman (ISSN No.2454-2725), Chapter 3

B. Presented in the following conference :

1. Bhumandalikaran Aur Hindi Upanyas, University of Lucknow, (National)
2. Rajendra Yadav Ke Upanyason Mein Samajik Yatharth, Banaras Hindu University (National)

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D. was exempted from doing coursework (recommended by Doctoral committee) on the basis of the following courses passed during his M.Phil. program and the M.Phil. degree was awarded.

Course Code	Name	Credits	Pass/Fail
1.01	Shodh Pravidhi	4	Pass
2.02	Anuvad Siddhant Aur Vividh Ayam	4	Pass
3.03	Computer Anuprayog Evam Anuvad	4	Pass
4.04	M.Phil. Dissertation	8	Pass

Supervisor
Dept. of Hindi

Head of Department
Dept. of Hindi

Dean of School
School of Humanities

अध्यायीकरण

अनुक्रम	पृ. सं.
भूमिका	01-11
प्रथम अध्याय : भूमंडलीकरण : सैद्धांतिक पक्ष	12 - 85
1.1 भूमंडलीकरण : वैचारिक परिप्रेक्ष्य	
1.2 भूमंडलीकरण से तात्पर्य	
1.3 भूमंडलीकरण की परिभाषा	
1.4 भूमंडलीकरण की प्रक्रिया : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	
1.5 भूमंडलीकरण : वैचारिक आधार	
1.5.1 ब्रेटन वुड्स विनिमय दर प्रणाली	
1.5.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष	
1.5.3 विश्व बैंक	
1.5.4 गैट या विश्व व्यापार संगठन	
1.6 उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण (एल. पी. जी.)	
1.7 भूमंडलीकरण : पूँजीवाद का नया रूप	
1.8 भूमंडलीकरण, नव-साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद	
1.9 भूमंडलीकरण : अमेरिकीकरण का पर्याय	
1.10 भूमंडलीकरण के विविध-आयाम	
1.10.1 आर्थिक आयाम	

1.10.2 सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

1.10.3 राजनीतिक आयाम

द्वितीय अध्याय : भूमंडलीकरण : भारतीय परिप्रेक्ष्य 86 -135

2.1 भूमंडलीकरण का भारतीय परिदृश्य

2.2 'वसुधैव कुटुम्बकम्', विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज़) तथा भूमंडलीकरण

2.3 भूमंडलीकरण का साम्य एवं वैषम्य पक्ष

2.4 भूमंडलीकरण तथा भारतीय समाज एवं साहित्य

2.5 भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य

2.5.1 भूमंडलीकरण और हिंदी कविता

2.5.2 भूमंडलीकरण और हिंदी कथा साहित्य

2.5.2.1 भूमंडलीकरण और हिंदी कहानी

2.5.2.2 भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास

तृतीय अध्याय : भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास : एक विवेचन 136 - 230

3.1 गायब होता देश (2014) – रणेंद्र

3.2 ग्लोबल गाँव के देवता (2009) - रणेंद्र

3.3 जिंदगी ई-मेल (2008) - सुषमा जगमोहन

3.4 तीसरी ताली (2011) - प्रदीप सौरभ

3.5 दस बरस का भँवर (2007) - रवीन्द्र वर्मा

3.6 दौड़ (2000) - ममता कालिया

3.7 फाँस (2015) - संजीव

3.8 मुन्नी मोबाइल (2009) - प्रदीप सौरभ

3.9 रेहन पर रग्घू (2008) - काशीनाथ सिंह

3.10 स्वर्णमृग (2012) - गिरिराज किशोर

चतुर्थ अध्याय : भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ 231 - 284

4.1 सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में

4.2 दिखावे के उपभोग की संस्कृति

4.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र-विघटन

4.4 एकल परिवार व्यवस्था

4.5 सह-जीवन प्रणाली

4.6 वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव

4.7 लोक संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता हुआ प्रसार

4.8 देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट

4.9 खान-पान व वेश-भूषा (परिधान)

4.10 धार्मिक स्थिति

पंचम अध्याय : भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक एवं आर्थिक यथार्थ 285 - 338

5.1उपभोक्तावाद का उदय और प्रसार तथा उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि

5.2 संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह

5.3 दलाल, बिचौलियों का बढ़ता प्रभाव

5.4 किसान एवं मजदूरों की समस्या

5.5 यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, सेक्स वर्कर तथा नशाखोरी की प्रवृत्ति

5.6 बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कार्पोरेट जगत का वास्तविक यथार्थ

5.7 पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़

5.8 राजनीतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न

5.9 वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति

5.10 सांप्रदायिक राजनीति तथा राजनीति का अपराधीकरण

उपसंहार 339 - 349

संदर्भ ग्रन्थ सूची 350 - 360

परिशिष्ट 361 - 378

- प्रकाशित शोध-आलेख -1
- प्रकाशित शोध-आलेख -2
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र -1
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र -2

भूमिका

भूमंडलीकरण भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए एक बहुआयामी, विशिष्ट तथा नई परिघटना है एवं इसके सरोकार वैश्विक हैं। भूमंडलीकरण सूचना और संचार-प्रौद्योगिकी के सहारे अपने विकास के उच्च शिखर पर पहुँचने में कामयाब हुआ। एक प्रकार से आज का युग भूमंडलीकरण और सूचना-संक्रांति का युग है। आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखाओं और उपशाखाओं में इसका उपयोग भी बहुतायत रूप में होने लगा है। किसी भी चीज़ को भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से जोड़कर देखना आज की एक खास प्रवृत्ति बन गयी है। यही वजह है कि इसके परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों में एक नए तरीके की क्रांति आयी है, जिसने हमें विचार करने की एक नई दृष्टि के साथ-साथ हमें एक 'विजन' भी दिया है। इस प्रकार भूमंडलीकरण और सूचना-संक्रांति के इस युग ने हमें बहुत कुछ दिया है। यह सच है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप यदि हमने कुछ पाया है तो बहुत कुछ अपना खोया भी है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के साम्य पक्ष भी हैं तो उसके वैषम्य पक्ष भी हैं। जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर बहुत ही व्यापक स्तर पर पड़ रहा है। जहाँ आज इसके साम्य-पक्ष या सकारात्मक-पक्ष का स्वागत हो रहा है तो वहीं इसके नकारात्मक-पक्ष यानी वैषम्य-पक्ष का विरोध भी हो रहा है।

यद्यपि भूमंडलीकरण की शुरुआत पहले-पहल एक आर्थिक परिघटना के रूप में ही हुई थी। लेकिन इसके बाजारवादी पक्ष ने इसे जीवन के अन्य पक्षों तक पहुँचा दिया। आज वित्त और व्यापार के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा प्राकृतिक और पर्यावरणीय आदि सभी पक्षों पर इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इस प्रकार से भूमंडलीकरण हमारे जीवन के सभी पक्षों आंतरिक तथा बाह्य दोनों को बहुत ही व्यापक स्तर पर प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का प्रभाव

भारतीय जनमानस पर इस कदर हुआ है कि आज वह इसके बिना किसी भी चीज़ की कल्पना भी नहीं कर सकता। भारत शुरू से ही एक कृषि प्रधान तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला देश रहा है। यहाँ के प्रत्येक नागरिक को अपनी सभ्यता और संस्कृति से बहुत प्रेम और लगाव रहा है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता ही रही है विभिन्नता में एकता। यहाँ विभिन्न धर्मों एवं विभिन्न संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं लेकिन फिर भी उन सभी में आपसी सौहार्द्र तथा परस्पर समभाव और एकता की भावना है। हमारी प्राचीन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना इसी प्रकार की भावना से प्रेरित एक विशिष्ट संकल्पना थी, जिसमें संसार के समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना की गयी थी। लेकिन भूमंडलीकरण के 'ग्लोबल विलेज' की धारणा सिर्फ एक छलावा है, इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी कोई भावना नहीं है।

भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत बीसवीं सदी के अंतिम दशक से होती है। जुलाई 1991 में वी. पी. नरसिंह राव सरकार द्वारा लागू की गयी नई आर्थिक-नीति के साथ ही भारत में इस प्रक्रिया की शुरुआत होती है, जिसके कारण उदारीकरण और निजीकरण को प्रोत्साहन दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में वित्त तथा व्यापार की खुली छूट मिल गयी। इसी खुली छूट का लाभ उठाकर यहाँ पर बहुत-सी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने में कामयाब हो गईं। इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने बाजारवाद को जन्म दिया और इस बाजारवाद तथा बाजारवादी-संस्कृति ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। इस बाजारवादी-संस्कृति में मनुष्य मात्र उपभोक्ता बनकर रह गया। क्योंकि बाजारवाद सभी को सिर्फ एक उपभोक्ता की दृष्टि से देखता है। तथा इसकी केन्द्रीय धुरी सिर्फ़ अर्थ पर केन्द्रित है। इस प्रकार बाज़ारवाद के इस उपभोक्तावादी युग में आपसी संबंधों की धुरी का आधार भी सिर्फ़ अर्थ या धन हो गया है। इसी अत्यधिक धन की चाह में आज का व्यक्ति या मनुष्य इतना उतावला हो गया है कि उसे और कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। आज के समय में लगभग सभी

के लिए अत्यधिक धन की चाह और भौतिक सुख-समृद्धि ही मूलमंत्र हो गया है। इस प्रकार की जीवन-दृष्टि भूमंडलीकरण की ही उपज है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक नई प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ। लेकिन यह संस्कृति भारत के लिए एक अपसंस्कृति साबित हुई है। वाकई में भूमंडलीकरण द्वारा उपजी संस्कृति आज एक अपसंस्कृति बन गई है। जिसके लिए करुणा, दया, भावना, भाईचारे, आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा है। यह एक प्रकार से लाभ की संस्कृति बनकर रह गयी है। इसमें स्वार्थपरता की भावना और अधिक बलवती हुई है। डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार- "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।" (समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं.-134) इस अपसंस्कृति का प्रसार हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक है तथा इसके बहुत ही खतरनाक पहलू भी हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे अपसंस्कृतियों के उदय को समाज के लिए सबसे भयावह पहलू मानते हुए इसके विषय में लिखते हैं कि- "बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियंत्रित होने लगते हैं। यह नव-सुखवाद सुख की व्याख्या करता है। यह 'प्ले ब्वॉय' और 'पेन्ट हाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौन्दर्य की खोज करती है। स्वच्छंदता के नाम पर यौन अनुशासन क्षीण होता है। पारिवारिक बंधन इस सीमा तक ढीले होते हैं कि

विवाह की संस्था ही अनावश्यक हो जाती है। मनोरंजन के नाम पर ढेर सारी यौन विकृतियों का प्रदर्शन होता है, जिनमें अनेक अप्राकृतिक और असामान्य यौनाचर भी सम्मिलित हैं। साहित्य का भी अवमूल्यन होता है। वह सृजन न होकर नीचे धरातल की व्यावसायिकता बन जाता है...संस्कृति का उद्योग अनेक मैडोनाओं और माइकल जैक्सनों को जन्म देता है, जिनसे विकृतियाँ विस्तार पाती हैं... यह अपसंस्कृति अनियंत्रित विकास और छद्म आधुनिकता की देन है।" (समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं.-171) इस प्रकार देखा जाए तो स्पष्ट रूप से हमारे प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। यही नहीं इस प्रक्रिया ने संपूर्ण भारतीय समाज और संस्कृति के साथ-साथ यहाँ के साहित्य को भी काफी व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। अर्थात् हमारे समाज और संस्कृति के साथ-साथ हमारा साहित्य भी इसके प्रभाव से बच नहीं पाया है। वास्तविकता यह है कि इसके प्रभाव से आज कोई भी बच नहीं पाया है। इसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी को प्रभावित किया है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है। इसलिए समाज में आया हुआ परिवर्तन या बदलाव साहित्य में भी रूप ग्रहण करने लगता है। समय के साथ-साथ परिवर्तन की जो आंधियाँ समाज में आई हैं उनका बहुत ही व्यापक और सूक्ष्म स्तर पर साहित्य में प्रस्तुतीकरण अवश्य हुआ है।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण की प्रवृत्तियाँ 1990 के बाद से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यापक बदलाव आया। जिसे समय-समय पर रचनाकारों और लेखकों ने जाना पहचाना तथा उसे बहुत ही सशक्त ढंग से साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की हिंदी कविताओं, कहानियों, नाटकों, उपन्यासों तथा हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में भूमंडलीकरण की विभीषिका का चित्रण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगता है। लेकिन हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं

की अपेक्षा हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की विसंगतियों और समस्याओं का चित्रण बहुत ही व्यापक स्तर पर हुआ है। इस प्रकार समस्याओं तथा भूमंडलीकरण की विभीषिका के चित्रण के हिसाब से हिंदी उपन्यास अन्य विधाओं की अपेक्षा सबसे अग्रणी रहा है। वैसे भी उपन्यास को मानव जीवन का महाकाव्य कहा गया है। तब तो जाहिर सी बात है कि इसमें अन्य विधाओं की अपेक्षा किसी भी घटना या चरित्र का वर्णन या चित्रण बहुत ही व्यापक ढंग से हुआ होगा। हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति तथा इसके यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासकारों में काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, संजीव, एस. आर. हरनोट, रवीद्र कालिया, रवीद्र वर्मा, राजू शर्मा, गिरिराज किशोर, अखिलेश, प्रदीप सौरभ, रणेन्द्र, राकेश कुमार सिंह, विनोद कुमार, कुणाल सिंह, स्वयं प्रकाश, बद्रीसिंह भाटिया, पंकज सुबीर, अजय नावरिया, विजय सौदाई, सत्यनारायण पटेल तथा महिला उपन्यासकारों में अलका सरावगी, ममता कालिया, मधु कांकरिया, कमल कुमार, नीलाक्षी सिंह, सुषमा जगमोहन, नीरजा माधव, निर्मला भुराड़िया, जयश्री राय आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबंध में भूमंडलीकरण के प्रभाव का हिंदी उपन्यासों के संदर्भ में विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत: प्रस्तुत शोध-प्रबंध में यह देखने और समझने का प्रयास किया गया है कि भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप हिंदी उपन्यासों में सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर क्या परिवर्तन या बदलाव आया है। इस प्रकार इस शोध प्रबंध में भूमंडलीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ भूमंडलीकरण के आर्थिक और राजनीतिक-परिप्रेक्ष्य को हिंदी उपन्यासों के संदर्भ में विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। हालाँकि 1990 के बाद के बहुतेरे उपन्यासों में भूमंडलीकरण की विभीषिका तथा इसकी प्रवृत्ति के दर्शन होने लगते हैं। लेकिन उन सभी उपन्यासों को इस शोध-प्रबंध में सम्मिलित कर पाना

मुझ जैसे शोधार्थी के लिए संभव नहीं था। फिर भी उन उपन्यासों का इस शोध-प्रबंध में उल्लेख प्रस्तुत करना मुझे समीचीन लगा। यही एक प्रकार से शोधार्थी के शोध-कार्य की सीमा-रेखा भी है। शोधार्थी ने कृति को केंद्र में रखते हुए भूमंडलीकरण के प्रभाव की सबसे सशक्त ढंग से विवेचना प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों को ही शोध-प्रबंध का आधार ग्रन्थ बनाया है। जिनमें 1990 से लेकर 2015 तक (यानी लगभग 25 वर्षों के एक कालखंड) प्रकाशित प्रमुख हिंदी उपन्यासों में से समस्या तथा प्रभाव की दृष्टि से प्रमुख हिंदी उपन्यासों का चयन किया गया है तथा उन्हें ही विवेचित और विश्लेषित किया गया है।

इस शोध-प्रबंध में शोधार्थी ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार न्याय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास' विषय पर यह मेरा पहला शोध-कार्य है ऐसा मैं किसी भी प्रकार का दावा नहीं कर रहा हूँ। मेरी जानकारी में मेरे शोध विषय के शीर्षक से संबंधित अथवा विषय से संबंधित अब तक मुझे लगभग चार पुस्तकों का पता चला है। जिनमें डॉ. पुष्पपाल सिंह की पुस्तक 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास', डॉ. ललित श्रीमाली की 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास', डॉ. शिवशरण कौशिक की 'दसवें दशक के हिंदी उपन्यास और भूमंडलीकरण' और प्रकाश मनु की 'बीसवीं सदी के अंत में उपन्यास' प्रमुख हैं। इन पुस्तकों तथा शोध-ग्रन्थों से मुझे सामग्री संकलन में थोड़ी-बहुत मदद भी मिली है। जिसकी वजह से मैं भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास जैसा भारी भरकम शोध-कार्य आसानी से पूर्ण कर सका। मेरा यह शोध-कार्य भविष्य में शोध-कार्य करने वाले शोधार्थियों के लिए किसी भी सीमा तक यदि सहायक हो सका तो मैं अपना यह परिश्रम व्यर्थ नहीं समझूँगा।

प्रस्तुत शोध-विषय की शोध-पद्धति अंतर्विद्यावर्ती है। इसमें निम्नांकित उपागमों का व्यवहार किया गया है- ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक और मूल्यांकनपरक। ऐतिहासिक और आर्थिक परिदृश्य के समानान्तर उपन्यासों की विषय सामग्री का विवेचन किया गया है।

इस शोध-प्रबंध का शीर्षक 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास' है। शोध की सुविधा की दृष्टि से इसे पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। **अध्याय-1 भूमंडलीकरण : सैद्धांतिक पक्ष** में भूमंडलीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसमें भूमंडलीकरण का वैचारिक-परिप्रेक्ष्य, भूमंडलीकरण से तात्पर्य, भूमंडलीकरण की परिभाषा, भूमंडलीकरण की प्रक्रिया एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, भूमंडलीकरण का वैचारिक आधार, उदारीकरण निजीकरण एवं भूमंडलीकरण, भूमंडलीकरण पूंजीवाद का नया रूप, भूमंडलीकरण नव-साम्राज्यवाद एवं उत्तर-उपनिवेशवाद, भूमंडलीकरण अमेरिकीकरण का पर्याय, भूमंडलीकरण के विविध आयाम जैसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय-2 भूमंडलीकरण : भारतीय परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण का भारतीय परिदृश्य, 'वसुधैव कुटुम्बकम् , विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज) तथा भूमंडलीकरण, भूमंडलीकरण का साम्य एवं वैषम्य पक्ष, भूमंडलीकरण तथा भारतीय समाज एवं साहित्य आदि विषयों का विवेचन किया गया है। भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण और हिंदी कविता, भूमंडलीकरण और हिंदी कथा-साहित्य का विवेचन किया गया है। भूमंडलीकरण और हिंदी कथा-साहित्य के अंतर्गत मुख्य रूप से हिंदी कहानी और हिंदी उपन्यास पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय-3 भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास : एक विवेचन के अंतर्गत भूमंडलीकरण के प्रभाव की प्रमुखता से विवेचना करने वाले उपन्यासों के कथ्य पर प्रकाश डाला गया है। जिनमें समस्याओं के चित्रण तथा भूमंडलीकरण के प्रभाव की सशक्त ढंग से विवेचना करने वाले उपन्यासों को आधार बनाया गया है। इसलिए इसमें सिर्फ़ उन्हीं चुने हुए प्रमुख हिंदी उपन्यासों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भूमंडलीकरण के प्रभाव की सशक्त ढंग से विवेचना करने वाले उपन्यासों में 'गायब होता देश', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'जिंदगी ई-मेल', 'तीसरी ताली', 'दस बरस

का भँवर', 'दौड़', 'फाँस', 'मुन्नी मोबाइल', 'रेहन पर रग्घू', तथा 'स्वर्णमृग' आदि प्रमुख उपन्यास शामिल हैं।

अध्याय-4 भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ में सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में, दिखावे के उपभोग की संस्कृति, संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र-विघटन, एकल परिवार व्यवस्था, सहजीवन-प्रणाली, वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव, लोक-संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता हुआ प्रसार, देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट, खान-पान, वेष-भूषा (परिधान) तथा धार्मिक स्थिति आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

अध्याय-5 भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक एवं आर्थिक यथार्थ में उपभोक्तावाद का उदय और प्रसार तथा उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि, संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह, दलाल, बिचौलियों का बढ़ता प्रभाव, किसान एवं मजदूरों की समस्या, यौन-लिप्सा, जिगालों संस्कृति, सेक्स वर्कर तथा नशाखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति, बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कार्पोरेट जगत का वास्तविक यथार्थ, पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़, राजनीतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न, वोट बैंक की राजनीति व दलगत राजनीति, सांप्रदायिक राजनीति एवं राजनीति का अपराधीकरण आदि पर विशेष रूप से विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अंत में **'उपसंहार'** है जिसमें शोध-प्रबंध के उपर्युक्त पाँच अध्यायों में किये गए विवेचन और विश्लेषण का सारांश प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध विषय के चयन से लेकर इसकी अंतिम परिणति तक गुरुदेव डॉ. प्रो. रायवरपु श्री सर्राजु जी (उपकुलपति, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय) का सहयोग और मार्गदर्शन मुझे प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप से हमेशा मिलता रहा जिससे मुझमें सदैव साहस और उत्साह का संचार बना रहा। वस्तुत: आपके उत्साहवर्धन और स्नेहपूर्ण कुशल मार्गदर्शन के कारण पूरी शोध प्रक्रिया में मुझे किसी भी प्रकार की असुविधा या समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए यह शोध-कार्य आपके कुशल मार्गदर्शन का ही सुफल है जिसे मैं आज अंतिम रूप देने में सफल हो सका। इस शोध-प्रबंध के लिए आपके द्वारा किए गए सहयोग को मेरे लिए शब्दों में व्यक्त कर पाना संभव नहीं। यह सच ही कहा गया है कि शोध किसी एक व्यक्ति के परिश्रम का फल नहीं होता बल्कि, अनेक व्यक्तियों के सहयोग का परिणाम होता है। तो यह शोध कार्य भी आपकी गहन सूक्ष्म-दृष्टि और मार्गदर्शन का ही प्रतिफल है। मैं इस कार्य के लिए सदैव आपका आभारी रहूँगा।

इस शोध-कार्य के प्रति हमेशा से मेरा उत्साहवर्धन करने एवं समय-समय पर मेरे शोध-विषय से संबंधित चर्चा-परिचर्चा कर विषय के प्रति मेरी सोच एवं समझ को विकसित करने में आदरणीय गुरुवर डॉ. भीम सिंह मीणा (असोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय) का मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुमूल्य सुझाव एवं सहयोग प्राप्त हुआ। उनका आभार मेरे लिए शब्दों में व्यक्त कर पाना मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन भी है। मैं उनके इस व्यक्तिगत सहयोग के लिए सदैव उनका आभारी रहूँगा।

मैं ईश्वर तथा अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अंत: प्रेरणा और अदम्य साहस के बल पर मैं यहाँ तक पहुँच पाया। यह उन्हीं चरणों का पुण्य-प्रताप है कि आज मैं अपने अकादमिक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि हाशिल करने में कामयाब हो पाया। तत्पश्चात मैं हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिसकी क्षत्रछाया और सुव्यवस्थित तथा अनुशासित शैक्षणिक वातावरण में मुझे शोध-कार्य करने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ।

मैं अपनी एम. फिल की शोध निर्देशिका डॉ. सी. अन्नपूर्णा (प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय) के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने न केवल समय-समय पर शोध-प्रबंध लेखन से संबंधित बातों की जानकारी प्रदान की, अपितु हमेशा से शोध-कार्य को निर्धारित समय पर पूर्ण करने के लिए प्रेरित करती रहीं।

मैं विश्वविद्यालय तथा विभाग के अपने सभी गुरुजनों, प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, प्रो. गजेंद्र पाठक, प्रो. आलोक पाण्डेय, प्रो. वी. कृष्णा, डॉ. एम. श्याम राव, डॉ. आंजनेयलु, डॉ. आत्माराम तथा मित्रों एवं शुभचिंतकों का आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर साहस एवं सहयोग प्रदान कर मेरे इस शोध कार्य को सफल बनाया। अग्रज डॉ. मनोज कुमार मौर्या, डॉ. राज बहादुर यादव, डॉ. प्रमोद कुमार शर्मा, डॉ. धनंजय चौबे, डॉ. राकेश कुमार सिंह, डॉ. विजय कुमार प्रसाद, डॉ. जनार्दन प्रसाद गौंड का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने शोध सामग्री संकलन तथा विषय पर चर्चा-परिचर्चा कर मेरी व्यक्तिगत रूप से सहायता की।

मैं अपने अभिन्न मित्रों डॉ. अमित गोयल, देवमणि त्रिपाठी, डॉ.अरुण कुमार यादव, डॉ.सत्यप्रकाश यादव, मनीष राय, गुरुनाथ यादव, प्रेमचंद विश्वकर्मा के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। जिन्होंने अच्छे ढंग से कार्य करने के लिए सदैव मेरा साहस बढ़ाया।

मैं अपने परिजनों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहूँगा, जिनके सहयोग से मैं यह शोध कार्य पूर्ण कर सका। मैं अपने बड़े भाई राजेश कुमार, रूपेश कुमार तथा छोटे भाई श्याम कुमार, राम कुमार, धर्मेंद्र कुमार तथा अपनी जीवनसंगिनी वीणा जी का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके परस्पर सहयोग तथा व्यवहार से इस शोध प्रबंध को सम्पन्न कर सका।

अपने सहपाठियों सुरेश कुमार, अमरनाथ प्रजापति, चिलवंत प्रकाश गोरोबा, योगेश ऊमाले, दुर्गाराव, अनिल कुमार विश्वकर्मा तथा उन सभी लोगों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मेरी सहायता की तथा शोध कार्य पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया।

भानु प्रताप प्रजापति

अध्याय-1

भूमंडलीकरण : सैद्धांतिक-पक्ष

1.1 भूमंडलीकरण : वैचारिक परिप्रेक्ष्य

1.2 भूमंडलीकरण से तात्पर्य

1.3 भूमंडलीकरण की परिभाषा

1.4 भूमंडलीकरण की प्रक्रिया : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

1.5 भूमंडलीकरण : वैचारिक आधार

1.5.1 ब्रेटन वुड्स विनिमय-दर-प्रणाली

1.5.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष

1.5.3 विश्व बैंक

1.5.4 गैट या विश्व व्यापार संगठन

1.6 उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण (एल. पी. जी.)

1.7 भूमंडलीकरण : पूँजीवाद का नया रूप

1.8 भूमंडलीकरण, नव-साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद

1.9 भूमंडलीकरण : अमेरिकीकरण का पर्याय

1.10 भूमंडलीकरण के विविध-आयाम

1.10.1 आर्थिक आयाम

1.10.2 सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

1.10.3 राजनीतिक आयाम

अध्याय-1

भूमंडलीकरण : सैद्धांतिक-पक्ष

1.1 भूमंडलीकरण: वैचारिक-परिप्रेक्ष्य

समकालीन समय के विमर्शों में भूमंडलीकरण सबसे ज़्यादा विवेचित और विश्लेषित होने वाला का एक महत्वपूर्ण विषय है। इसकी महत्ता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर जो भी परिवर्तन या बदलाव हो रहा है उसे भूमंडलीकरण से जोड़ कर देखना एक चलन बन गया है। आज यह शब्द विद्वानों, चिंतकों तथा दुनिया के तमाम बुद्धिजीवियों एवं विचारकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गया है। इसके लोकप्रिय उपयोग, बौद्धिकों द्वारा विश्लेषण, मीडिया, व्यापारियों तथा समाज वैज्ञानिकों द्वारा शब्द के बार-बार उपयोग ने वैश्वीकरण (भूमंडलीकरण) शब्द को स्थापित करने में मदद दी।[1] विद्वानों द्वारा यह एक प्रक्रिया, एक पद्धति, एक शक्ति और एक युग के रूप में भी प्रयुक्त और व्याख्यायित हो रहा है। बावजूद इसके अभी भी भूमंडलीकरण की अवधारणा का प्रश्न अब तक का सबसे ज्वलंत और जटिल प्रश्न बना हुआ है। अभय कुमार दुबे के अनुसार- "भूमंडलीकरण को समझना बहुत मुश्किल साबित हुआ है। मोटी-मोटी किताबों और लंबे-लंबे लेखों के बीच उसकी हकीकत दिनों-दिन पेचीदा होती जा रही है। वह यथार्थ होते हुए भी आभासी है, जिसे समझने के लिए अनगिनत शब्द खर्च किए जा चुके हैं, लेकिन नतीजे में सिर्फ ऐसी साइबर यात्रा हासिल हुई है जिसकी दुनिया इंटरनेट में कैद होने के बाद भी निराकार होकर पकड़ से बाहर चली जाती है।...भूमंडलीकरण को समझने की परियोजना में एक

---

[1]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 12

खतरा यह भी है कि जब तक हम उसे पूरी तरह समझने का ठोस दावा कर पायेंगे, तब तक वह हमें पूरी तरह बदल चुका होगा।"[2]

भूमंडलीकरण एक ऐसा रोमांटिक शब्द है जिसका अर्थ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग है। भूमंडलीकरण की अवधारणा के संबंध में अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प' में लिखते हैं कि- "शीतयुद्धोत्तर काल में, विशेषकर सोवियत संघ के विघटन के पश्चात, समूचा विश्व भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से संचालित, प्रभावित एवं नियंत्रित है, लेकिन आज तक भूमंडलीकरण को परिभाषित करने में सर्वसम्मति दिखाई नहीं पड़ती है। भूमंडलीकरण के लिए वैश्वीकरण, विश्वायन, विश्वीकरण, ग्लोबलाइजेशन, जगतीकरण, नव-साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, नव-उदारवाद जैसे शब्दों का बहुधा इस्तेमाल किया जाता रहा है। इससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि भूमंडलीकरण की अवधारणा को लेकर कितनी अस्पष्टता है। भूमंडलीकरण की परिभाषा के साथ-साथ इसके स्वरूप और चरित्र को लेकर भी मूलभूत असमानता बनी हुई है।"[3] भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के संबंध में निम्नलिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं-

1. भूमंडलीकरण एक नई अवधारणा है।
2. भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से लाभान्वित देशों एवं वर्गों की मान्यता है कि भूमंडलीकरण विश्व की सारी समस्याओं को दूर करने वाली अचूक संजीवनी बूटी है। जगदीश भगवती जैसे विद्वान का मानना है कि भूमंडलीकरण ने असमानता को कम करने में अहम भूमिका अदा की है।
3. भूमंडलीकरण को 'नव-साम्राज्यवाद' के रूप में परिभाषित करने वालों का मानना है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया आने वाले समय के लिए अभूतपूर्व संकट है।

---

[2]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 26

[3]भूमंडलीकरण और भारत परिदृश्य और विकल्प (2010), अमित कुमार सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 17

4. विकासशील देशों में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का एक ऐसा उग्र व आक्रामक विरोधी वर्ग है जो इसे ही राष्ट्र-राज्य की समस्याओं का प्रमुख कारण मानता है। यह वर्ग भूमंडलीकरण को एक नए अवसर के रूप में नहीं वरन् संकट के रूप में देखता है।
5. भूमंडलीकरण को विश्व के अमेरिकीकरण का पर्याय भी माना जाता है। भूमंडलीकरण को 'वाशिंगटन आमराय' द्वारा समूचे विश्व पर जबरदस्ती थोपने के निर्लज्ज प्रयास के रूप में देखा जाता है।
6. भूमंडलीकरण के द्वारा विश्व-व्यापार में अभूतपूर्व क्रांति आई है। यह वर्ग मानता है कि विकसित व विकासशील दोनों ही देशों में इसका प्रभाव एक समान है।
7. भूमंडलीकरण को एक समानतामूलक प्रक्रिया मानने वालों की कभी कमी नहीं है। भूमंडलीकरण के पैरोकार 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का दंभ भरते हैं। उनका मानना है कि भूमंडलीकरण का लाभ पानी की बूंद की तरह रिस-रिसकर आम व्यक्ति को प्राप्त होगा। इस प्रक्रिया को विद्वानों का एक वर्ग 'निचले पायदान से भूमंडलीकरण' (Globalization from below) की संज्ञा देता है।
8. भूमंडलीकरण को निजीकरण से जोड़कर देखा जाना भी एक आम धारणा है। भूमंडलीकरण के साथ-साथ यह भी भय जुड़ा रहता है कि अगर भूमंडलीकरण की नीतियों को कोई राष्ट्र-राज्य स्वीकार कर लेता है तो सरकारी उद्यमों का स्थान निजी उद्यम ले लेंगे और इससे आम व्यक्तियों का जीना दूभर हो जाएगा। इस व्यवस्था में शासन, अभिजन और पूँजीपतियों का गठजोड़ विशेष रूप से लाभान्वित होता है। रिचर्ड फाल्क इस प्रवृत्ति के ग्लोबलाइजेशन को 'शीर्ष स्तर से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया' (Globalization from above) की संज्ञा देते हैं।
9. यह भी जन-मान्यता है कि यह पूँजीवाद का एक ऐसा नया संस्करण है जो उसे अपेक्षाकृत नए ग्लोबल कलेवर में प्रस्तुत कर लोगों को भ्रमित करता है। रजनी कोठारी इसे 'कार्पोरेट

पूँजीवाद' की संज्ञा देते हैं। इसका एक केंद्र ब्रेटनवुड संस्थाओं में देखा जा सकता है और दूसरा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बोर्ड रूमों में।

10. भूमंडलीकरण को उसके परिणामजन्य 'शिशु बाजारवाद' के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। उपभोक्तावाद के भ्रम-जाल की यह धारणा है कि उपभोक्तावाद ने मनुष्य के जीवन को पहले से कहीं अधिक रंगीन और परिपूर्ण बनाया है। भूमंडलीकरण के इस स्वरूप को 'उपभोक्तावादी भूमंडलीकरण' भी कहा जाता है।

11. भूमंडलीकरण ने समूचे विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' का रूप प्रदान किया है।[4]

वास्तव में इस अवधारणा के साथ कुछ वैचारिक, सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक मतवाद भी जुड़े हुए हैं। इसे बदलती वर्तमान स्थिति का एक लघु लाक्षणिक नाम भी बताया जाता है। विश्वव्यापी, विभिन्न दिशाओं, आयामों तथा विभिन्न गति से बदलती वर्तमान स्थिति को कोई एक नाम देना सरल काम नहीं है।[5] भूमंडलीकरण को अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजनीति के विद्वानों, वैज्ञानिकों, इतिहासकारों, धर्म संस्थापकों एवं दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयास किया है। अर्थशास्त्रियों ने भूमंडलीकरण का केंद्रबिन्दु विश्व व्यापार संगठन को मानते हुए इसे अंतरराष्ट्रीय व्यापार के क्रियाकलाप से जोड़ा है। यही क्रियाकलाप भूमंडलीकरण के दौर में राजनीति, समाज और संस्कृति को विश्व भर को प्रभावित करता है। समाजशास्त्री इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सोच और संस्कार में क्रांतिकारी परिवर्तन को अर्थव्यवस्था में परिवर्तन का कारण मानते हैं। राजनीति के विश्लेषकों का मानना है कि शीत युद्ध के दौर में पूँजीवादी विचारधारा ने साम्यवादी विचारधारा को शिकस्त दी जिससे भूमंडलीकरण के सपने की संभावना प्रबल हुई। वैज्ञानिकों ने दुनिया के संकुचन में

---

[4]भूमंडलीकरण और भारत परिदृश्य और विकल्प (2010), अमित कुमार सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 19

[5]लेख-वैश्वीकरण : विमर्श और यथार्थ के विविध आयाम, कमल नयन काबरा, बहुवचन (त्रैमासिक), अंक-6, जनवरी-मार्च, 2001, पृष्ठ सं. 169

अभूतपूर्व टेक्नोलॉजी की प्रगति, अत्याधुनिक संचार एवं यातायात साधनों को इसका कारण माना है। इतिहासकारों ने इसको राजाओं, दार्शनिकों, धर्म संस्थापकों द्वारा हजारों वर्षों पहले दिग्विजय की महत्वाकांक्षी अभिलाषा की पुनरावृत्ति के रूप में देखने का प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि इन विभिन्न विद्वानों को सत्यता का मात्र एक ही पक्ष हाथ लगा।[6]

निष्कर्षत: भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे हाथी और सात अंधों की कथा। इस कथा में अंधों को हाथी को परिभाषित करने का कार्य दिया गया था। इनमें से जो भी अंधा हाथी के जिस अंग को छूता है उसे ही पूरा हाथी समझ बैठता है और अपने सीमित अनुभव के आधार पर हाथी नामक जानवर का खाका विस्तार से खींचने लगता है। कुछ ऐसा ही हाल भूमंडलीकरण के विशेषज्ञ-विश्लेषकों का भी है। मतलब अपनी डफली, अपना राग। इसी मतभेद तथा विवाद के विषय में कमल नयन काबरा अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण के भँवर में भारत' की प्रस्तावना में लिखते हैं कि- "यह एक विवादास्पद विषय भी है और रहेगा। मात्र सैद्धांतिक आधार पर ही नहीं, अपितु ठोस नीतियों, परिणामों, विकल्पों और भावी दिशा-निर्धारण के दृष्टिकोण से भी।"[7] वह आगे लिखते हैं कि- "नवसाम्राज्यवाद, विश्वव्यापी बाजारीकरण, नवउदारवाद आदि अनेक विशेषणों से जिन आधुनिक प्रक्रियाओं को परिभाषित किया जाता है, ये सब भूमंडलीकरण के ही या तो अलग-अलग नाम हैं, अथवा उसके विभिन्न पक्षों पर विशेष ज़ोर देने वाले अलग-अलग पद हैं। ग्लोबलाइज़ेशन के नाम से दुनिया भर में मशहूर विचार, अवधारणा अथवा प्रचार के लिए चुना गया शब्द हिंदी में अब आमतौर पर भूमंडलीकरण के नाम से जाना जाता है। परंतु इस अवधारणा को विश्वीकरण तथा यदा-कदा जगतीकरण के नाम से भी जाना जाता है।"[8] अर्थात् भूमंडलीकरण एक

---

[6]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, पृष्ठ सं. 4

[7]भूमंडलीकरण के भँवर में भारत, कमल नयन काबरा, (पुस्तक की प्रस्तावना से साभार) पृष्ठ सं. viii

[8]भूमंडलीकरण के भँवर में भारत, कमल नयन काबरा, (पुस्तक की प्रस्तावना से साभार) पृष्ठ सं. xi

महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट परिघटना है तथा इसका स्वरूप बहुआयामी है। अपने इसी बहुआयामी स्वरूप के कारण भूमंडलीकरण आज सभी के लिए अलग-अलग स्थितियों का संयुक्त, प्रचलित, चर्चित अथवा बहुप्रचारित नाम या प्रतीक बन गया है।[9] वास्तव में भूमंडलीकरण की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि भूमंडलीकरण का वास्तविक अर्थ क्या है? भूमंडलीकरण किसे कहते हैं? तथा इसका वैचारिक आधार क्या है?

1.2 भूमंडलीकरण से तात्पर्य

भूमंडलीकरण इस समय एक ऐसा चर्चित और आम शब्द हो गया है जिसका उपयोग आज ज्ञान-विज्ञान की लगभग प्रत्येक शाखाओं तथा उप-शाखाओं में बहुतायत होने लगा है। परंतु फिर भी अधिकांशतया इस चर्चित शब्द का प्रयोग किसी एक सटीक अर्थ में नहीं हुआ है। कुमुद शर्मा के अनुसार भूमंडलीकरण स्वयं में एक अवधारणा, प्रक्रिया और अभियान-तीनों है। भूमंडलीकरण का सबसे प्रमुख चरित्र यह है कि वह राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंघन करता है।[10] सर्वप्रथम भूमंडलीकरण की अवधारणा को समझने तथा उसे परिभाषित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय समाजशास्त्र के मुख्य पत्र ने स्टोकहोम में स्वीडेन के विदेश मंत्रालय के सहयोग से सन् 1998 में एक सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में समाज वैज्ञानिकों ने वैश्वीकरण को परिभाषित करने का प्रयास किया। वहाँ प्रस्तुत किए गए कतिपय पत्रों को 'इन्टरनेशनल सोश्योलोजी' (खंड 15, सं. 2000) में प्रकाशित किया गया। इस अंक के अतिथि संपादक अपनी भूमिका में लिखते हैं कि- ''वैश्वीकरण की अवधारणा 1990 के प्रारंभिक वर्षों में आई। यह 1992 में या कि ऐनी (Ianni) और रोबर्स्टन (Roberstson) ने

---

[9]लेख-वैश्वीकरण : विमर्श और यथार्थ के विविध आयाम, कमल नयन काबरा, बहुवचन त्रैमासिक, अंक-6, जनवरी-मार्च, 2001, पृष्ठ सं. 169

[10]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 28

पहली बार वैश्वीकरण की अवधारणा को काम में लिया। इससे पहले यानि 1990 तक दुनिया की प्रमुख भाषाओं के किसी भी शब्दकोश में वैश्वीकरण पद का प्रवेश नहीं हुआ।"[11]

इस प्रकार से देखा जाए तो वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण एक नया शब्द है तथा इसका इतिहास महज 25 से 30 वर्षों का ही है। 'वैश्वीकरण' और 'भूमंडलीकरण' एक दूसरे के पर्याय हैं तथा इनका अर्थ भी एक ही है। हालांकि प्रसिद्ध दार्शनिक ज्याँ बोद्रिला वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण में अंतर स्थापित करते हैं। उनके अनुसार- "वैश्वीकरण का संबंध मानवाधिकार, स्वतंत्रता, संस्कृति और लोकतंत्र से है। जबकि भूमंडलीकरण प्रौद्योगिकी, बाज़ार, पर्यटन और सूचना से ताल्लुक रखता है"।[12] पुष्पेश पंत के अनुसार- "वस्तुतः वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण पर्यायवाची पद हैं। दोनों का अर्थ एक ही है। भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण पद की व्याख्या करना बहुत कठिन है। क्योंकि वस्तुतः बहुत स्पष्ट तथा सर्वमान्य नहीं होने के कारण वैश्वीकरण एक बहुअर्थीय अवधारणा है। यह एक ऐसा बहुआयामी विषय है जिसके अंतर्गत आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी पक्ष आते हैं। मानवाधिकार हो, पर्यावरण, लिंग न्याय या जनतंत्र, अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती हो या टेक्नोलाजी का अभूतपूर्व प्रसार सभी बुनियादी तौर पर भूमंडलीकरण से जुड़ जाते हैं।"[13] इसी बात को दीपक नय्यर कुछ इस तरह कहते हैं- "भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भूमंडलीकरण का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। इतना ही नहीं, भूमंडलीकरण शब्द का इस्तेमाल दो तरह से हुआ है जो कि स्वयं एक प्रकार के भ्रांति को उत्पन्न करता है। जब इसे सकारात्मक अर्थ में लेते हैं तो इसे विश्व अर्थव्यवस्था में बढ़ रही एकीकरण (जुड़ाव) की प्रक्रिया के रूप में वर्णित करते हैं। अपने आदर्श रूप में इसका प्रयोग विकास की एक ऐसी रणनीति को निर्धारित करने के संदर्भ में किया जाता है जो विश्व अर्थव्यवस्था के साथ तेजी से हो

---

[11]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 320

[12]लेख-भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण बनाम सांस्कृतिक संघर्ष, डॉ. पवन कुमार मिश्र, http://haridhari.blogspot.in/2013/05/blog-post_15.html

[13]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत (पुस्तक की भूमिका से साभार) पृष्ठ सं. 1

रहे एकीकरण पर आधारित होता है। कुछ लोग जहाँ इसे विमुक्ति (या मोक्ष) के रूप में देखते हैं वहीं अन्य लोग इसे नरकीय-दंड के रूप में देखते हैं।"[14] अभय कुमार दुबे के अनुसार- "भूमंडलीकरण के तीन मूलभूत अर्थ हैं जिनमें पहला अर्थ है एक विश्व-अर्थतंत्र और विश्व-बाज़ार का निर्माण जिससे प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था को जुड़ना होगा। पहले गैट (GATT-General Agreement on Tariffs and Trade) अर्थात् शुल्क तथा व्यापार पर सामान्य समझौते के जरिये यह प्रक्रिया चलायी जा रही थी, लेकिन अब उसका स्थान W.T.O. (WORLD TRADE ORGANIZATION) अर्थात् विश्व व्यापार संगठन ने ले ली है। दूसरा अर्थ है इसी अर्थतंत्र और विश्व-बाज़ार की जरूरतों के अनुसार दुनिया की राजनीति को संचालित करना। और तीसरा अर्थ है सूचना और संचार साधनों (कम्प्यूटर, इंटरनेट, मोबाईल आदि) के माध्यम से दुनिया में राष्ट्रों, समुदायों, संस्कृतियों, और व्यक्तियों के बीच दूरी को कम से कमतर करना।[15] गिडेंस इसे समय-स्थान दूरीकरण कहते हैं।[16]

चूंकि वैश्वीकरण सिर्फ आर्थिक परिघटना नहीं है, इसके अन्य और भी कई रूप हैं आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि। इसलिए इसका कोई एक निश्चित या सटीक अर्थ लगाना मुश्किल है। 'वैश्वीकरण' या भूमंडलीकरण का कोई एक सटीक अर्थ है भी नहीं। लेकिन अगर ध्यान से देखा जाए तो भूमंडलीकरण की अवधारणा में जो मूलभूत बात छिपी है वह है-प्रवाह। यह प्रवाह विचारों का भी है, वस्तुओं का भी है, पूँजी का भी है और लोगों (जीविका तथा व्यापार के लिए दुनिया के विभिन्न हिस्सों में लोगों की आवाजाही) का भी है। इन्हीं प्रवाहों की वजह से ही एक पारस्परिक निर्भरता या यों कहें कि एक विश्वव्यापी जुड़ाव संभव हुआ है। हालांकि यह विश्वव्यापी जुड़ाव एक छलावा है जिसके बारे में डॉ. लोकेशचंद्र लिखते हैं- "वैश्वीकरण का अर्थ विश्व विजय है, इसमें अलग-अलग तंत्रों की,

---

[14]लेख-भूमंडलीकरण एवं विकास, दीपक नय्यर, (अनुवादक: इन्द्रजीत कुमार झा) , पृष्ठ सं. 7

[15]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 439

[16]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 315-16

अलग-अलग राष्ट्रों की भागीदारी नहीं। वैश्वीकरण एकेश्वरवाद का रूपांतरण है जिसमें अनेक राष्ट्रीय अस्मिताओं को, विभिन्न मूल्य-बोधों को समाप्त कर अधिनायकवाद की स्थापना है।...एक विश्व के नाम पर सब राष्ट्रों को आर्थिक, सांस्कृतिक और सुरक्षात्मक दासता में बाँधा जा रहा है।"[17]

वस्तुतः वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ है- स्थानीय या क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में सम्पूर्ण विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैं तथा एक साथ कार्य करते हैं। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का एक संयोजन है।[18] लगभग यही बात विनोद बिहारी लाल भी लिखते हैं- "सामान्य रूप से वैश्वीकरण का अर्थ विश्वव्यापी स्तर पर सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं, सभ्यताओं, संस्कृतियों के परस्पर अबाधित सम्मिश्रण की प्रक्रिया है।"[19] यूरोपीय कमीशन ने भी वैश्वीकरण को अनिवार्य रूप से एक प्रक्रिया ही स्वीकार किया है। इस प्रक्रिया में सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू भी होते हैं पर मूल रूप से यह अपने विमर्श में आर्थिक है। कमीशन के शब्दों में- "यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न देशों के बाज़ार और उत्पादन पारस्परिक रूप से एक दूसरे पर अधिक से अधिक निर्भर रहते हैं और इस निर्भरता का कारण व्यापार तथा वस्तुओं की गतिशीलता और पूँजी तथा तकनीकी तंत्र का प्रवाहित होना है।"[20] अब प्रश्न यह है कि क्या भूमंडलीकरण कही जाने वाली प्रक्रिया पूरी हो चुकी है अथवा कम से कम, एक निश्चित रूप और रुझान ग्रहण कर चुकी है। क्या दुनिया के सब हिस्सों में भूमंडलीकरण का समान रूप नज़र आता है, अथवा यों कहें कि कम से कम एक न्यूनतम सब जगह दिखाई देने वाला रूप ग्रहण कर चुका है? चूंकि निरंतर परिवर्तन इस संसार की सबसे ज्यादा

---

[17]भाषा साहित्य और संस्कृति, संपा. विमलेश कांति वर्मा, पृष्ठ सं. 442

[18]मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से, http://hi.wikipedia.org तिथि 22/01/2014, समय 10:50

[19]आलेख-वैश्वीकरण : अपरिमित संभावनाएं, गहरे खतरे, विनोद विहारी लाल, समकालीन भारतीय साहित्य, भूमंडलीकरण विशेषांक, जुलाई-अगस्त, 2011, पृष्ठ सं. 70

[20]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 321

अपरिवर्तनीय विशेषता है। इसलिए भूमंडलीकरण को एक पूर्ण या पूर्णप्राय घटना या प्रवृत्ति न समझकर एक लगातार चालू प्रक्रिया अथवा परिवर्तनों की दिशा मानना ज्यादा उचित होगा।[21] इस प्रक्रिया के दौरान इतिहास में यह पहली बार हो रहा है कि स्थानीय और वैश्वीय (Local and Global) लोग एक कड़ी के रूप में बंध गए हैं। यह सब कुछ पिछले दस-बीस वर्षों में ही हुआ है। और दूसरा महत्वपूर्ण कारण है संचार साधनों में वृद्धि, एवं सूचना तकनीक तथा आवागमन के साधन का सुलभ होना।...पिछले लगभग तीस वर्षों में सेटेलाइट संचार व्यवस्था का विकास इस भांति हुआ है कि दुनिया के लोग एक दूसरे के साथ आराम से संपर्क कर सकते हैं। इन सब प्रक्रियाओं को जो दुनिया भर के सामाजिक संबंधों को गहरा और घनिष्ट कर रही हैं, समाजशास्त्री वैश्वीकरण कहते हैं।[22] विनोद बिहारी लाल के शब्दों में- "अपनी जगह पर रहते हुए भी आर्थिक गतिविधियों का संचालन विश्व की आवश्यकता के अनुसार ढालने की इस प्रक्रिया को नाम दिया गया है- 'ग्लोबलाइजेशन', जिसमें 'ग्लोबल' और 'लोकल' दोनों का कल्पनाशील मेल हुआ है"।[23] इस समय बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कारोबार पूँजी की विकरालता के कारण राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर दुनिया में फ़ैल रहा है और फैलकर अपना खेल खेलने के लिए सारी परंपरागत सीमाओं, बंधनों, नियमों, कानूनों, मर्यादाओं को तोड़ रहा है। यही है भूमंडलीकरण।[24] भूमंडलीकरण को साधारणतया राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार आर्थिक क्रियाकलापों के विस्तार के रूप में वर्णित किया जा सकता है। 1950 से ही विश्व अर्थव्यवस्था का एक प्रगतिशील अंतरराष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण हुआ है। तथापि भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया में त्वरित गति के चिह्न 20वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में ही दिखाई देते हैं। तथा इस

---

[21]लेख-वैश्वीकरण : विमर्श और यथार्थ के विविध आयाम, कमल नयन काबरा, बहुवचन त्रैमासिक, अंक-6, जनवरी-मार्च, 2001, पृष्ठ सं. 169

[22]आधुनिकता,उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 313

[23]आलेख-वैश्वीकरण : अपरिमित संभावनाएँ, गहरे खतरे, विनोद बिहारी लाल, समकालीन भारतीय साहित्य, भूमंडलीकरण विशेषांक, जुलाई-अगस्त, 2011, पृष्ठ सं. 71

[24]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 258

परिदृश्य में तीन आर्थिक आयाम उभरते हैं-अंतरराष्ट्रीय व्यापार, अंतरराष्ट्रीय निवेश एवं अंतरराष्ट्रीय वित्त। ये तीनों इसके किनारों को तरासते हैं। लेकिन भूमंडलीकरण का तात्पर्य इससे कहीं ज्यादा है। यह शब्द राज्य-राष्ट्र की सीमा से परे आर्थिक क्रियाकलापों (कारोबार) एवं आर्थिक क्रियाओं से संबंधित संगठनों के विस्तार को अभिव्यक्त करता है। और भी स्पष्ट रूप में कहें तो इसे विश्व अर्थव्यवस्था में बढ़ रहे आर्थिक खुलेपन, बढ़ रही आर्थिक अंतर्निर्भरता एवं गहरे होते आर्थिक एकीकरण के साथ जुड़ी प्रक्रिया के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है।[25] भूमंडलीकरण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए विद्वानों द्वारा दी गयी इसकी परिभाषाओं का अवलोकन जरूरी है।

1.3 भूमंडलीकरण की परिभाषा

एंथोनी गिडेंस के अनुसार - (दि कन्सिक्वेंसेज आफ माडरनिटी) "विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में बढती हुई अन्योन्याश्रतता या पारस्परिकता ही भूमंडलीकरण है। यह पारस्परिकता सामाजिक और आर्थिक संबंधों में होती है। इसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं।"[26]

हार्वे डी ने अपनी पुस्तक (दि कंडीशन आफ पोस्ट मोडरनिटी -1989) में भूमंडलीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी है -"वैश्वीकरण , इसलिए समय और स्थान की गति और गहनता से जुड़ा हुआ है। आपका हमारा बाजार, ब्याज दर, भौगोलिक गतिशीलता आदि समय और स्थान उतार-चढाव के साथ जुड़े हुए हैं। यह जुड़ाव सहज नहीं है।"[27]

मेलकाम वाटर्स ने अपनी पुस्तक (ग्लोबलाइजेशन-1998) में भूमंडलीकरण की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि- "वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था पर

[25]लेख-भूमंडलीकरण एवं विकास, दीपक नय्यर, (अनुवादक: इन्द्रजीत कुमार झा), पृष्ठ सं. 7

[26]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 316

[27]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 316

जो भौगोलिक दबाव होते हैं, पीछे हट जाते हैं और लोग भी इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं कि अब भूगोल की सीमाएं बेमतलब हैं।"[28]

वेलरस्टेन (हिस्टोरिकल केपिटेलिजम) – "वैश्वीकरण को आगे ठेलने वाली शक्ति और इसमें निहित जो तर्क है, वह पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था है। अर्थात् वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसका कारण पूँजीवाद का विस्तार और उसकी समृद्धि है।"[29]

रोजेनाऊ (टरव्युलेंस इन वर्ल्ड पोलिटिक्स-1990) की परिभाषा कुछ इस प्रकार है –"उद्योगवाद और उत्तर-उद्योगवाद आज ऐसी वैश्वीय सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक शक्तियां बन गई हैं जो वैश्वीकरण का पोषण करती हैं।"[30]

गिलपीन (दि पोलिटिकल इकोनोमी ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स-1987) ने भूमंडलीकरण को इस प्रकार से परिभाषित किया है- "मैं इस विचारधारा का हूँ कि उदार अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए किसी न किसी प्रभुत्व का होना अनिवार्य है। हमारा ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि प्रभुत्वशाली उदार शक्ति की अनुपस्थिति में अंतरराष्ट्रीय सहयोग को पाना बहुत कठिन है। इसके अभाव में संघर्ष की संभावना बराबर बनी रहती है। आज दुनिया में बाज़ार की जो सफलता दिखाई देती है वह अनुकूल प्रभुत्वशाली शक्ति के अभाव में संभव नहीं है।"[31]

यूरोपीय कमीशन के अनुसार- "यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न देशों के बाज़ार और उत्पादन पारस्परिक रूप से एक दूसरे पर अधिक से अधिक निर्भर रहते हैं और इस निर्भरता का कारण व्यापार तथा वस्तुओं की गतिशीलता और पूँजी तथा तकनीकी तंत्र का प्रवाहित होना है।"[32]

---

[28]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 322

[29]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 318

[30]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 316

[31]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 319

[32]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 321

राबर्ट्सन के अनुसार- "एक प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण की अवधारणा का संबंध संसार का सिमट जाना है और यह दुनिया एक है इसकी चेतना का गहरा जाना है। वैश्वीकरण अपने आप में सम्पूर्ण विश्व की चेतना है।"[33]

एल्ब्रो (Albrow) के अनुसार- "वैश्वीकरण का संदर्भ उन सभी प्रक्रियाओं से है जिससे विश्व के सभी लोग एक विश्व समाज में सम्मिलित हो जाते हैं, जिसे वैश्विक समाज (Global Society) कहा जा सकता है।"[34]

टैर्नर के अनुसार- "वैश्वीकरण एक सुघढ़ शब्द है, जिसका अर्थ है : विश्व-समाज का निर्माण। एक ऐसा समाज जिसके एक भाग में आर्थिक, राजनीतिक, पर्यावरणीय तथा सांस्कृतिक घटनाएँ दुनिया के दूसरे हिस्सों में रहने वालों के लिए भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। वैश्वीकरण वस्तुत: संचार व्यवस्था, यातायात तथा सूचना तकनीकी में हुई बहुत अधिक प्रगति का ही परिणाम है। इससे आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, व्यापार में न केवल वृद्धि हुई है, बल्कि व्यक्तियों, समूहों, संस्कारों और विभिन्न संस्थाओं के बीच सामंजस्य भी पैदा हुआ है। वैश्वीकरण ने संस्थागत आधारों को स्थानीयता से उठाकर वैश्विक स्तर पर पहुंचाया है। यही वैश्वीकरण की विशेषता है।"[35]

अभय कुमार दुबे के अनुसार- "भूमंडलीकरण एक बेहद ताकतवर परिघटना है जो सब कुछ बदल दे रही है। वह दोनों तरफ से बदलती है यानी वह हालात को अपने सार्वभौम साँचे में तो ढालती ही है, उसके प्रति उसके विरोधियों की प्रतिक्रिया भी एक खास तरह के परिवर्तन को जन्म देती है जो शुरू में भूमंडलीकरण के खिलाफ लगता है, पर अंतिम विश्लेषण में उसकी संरचनाओं की मदद करता पाया जाता है।"[36]

---

[33]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 334

[34]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 27

[35]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 18-19

[36]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 27

अभिजीत पाठक के अनुसार- "यह सच है कि भूमंडलीकरण स्वयं आधुनिकता का तार्किक परिणाम है। क्योंकि आधुनिकता जैसा कि यह पश्चिम में उत्पन्न हुई, अंतर्निष्ठ रूप से सार्वभौमकारी प्रकृति की है।...लेकिन जिसे हम भूमंडलीकरण कहते हैं, आधुनिकता में अपनी जड़ें होने के बावजूद इसने हमारे समय में नया अर्थ और संवेग धारण कर लिया है।"[37]

अर्जुन अप्पादुराई के अनुसार- "वैश्वीकरण वह प्रक्रिया जिसमें एकीकरण के कई साधनों का उपयोग होता है। जैसे हथियारों का संग्रहण, विज्ञान, नई तकनीकें, भाषा, प्रभुत्वस्थापन, कपड़ों की नई स्टाइल और संगीत के नए प्रयोग, विभिन्न देशों की परस्पर कूटनीति, आर्थिक आदान-प्रदान, सांस्कृतिक आदान-प्रदान। इन्हीं सब का प्रसार तथा वितरण वैश्वीकरण की प्रक्रिया का निर्माण करता है। वैश्वीकरण विश्व के सांस्कृतिक इतिहास का नया उत्पाद है।"[38]

एस. एल. दोषी के अनुसार- "वैश्वीकरण यदि इमानदारी से कहा जाये तो केवल अंतरराष्ट्रीय संबन्धों का समाजशास्त्र ही नहीं है। यह विश्व व्यवस्था सिद्धांत भी नहीं है। सिद्धांत तो केवल वैश्वीय आर्थिक पारंपरिकता का अध्ययन करता है। इसका केंद्र, आर्थिक संबन्धों को ही देखना होता है। वैश्वीकरण का तात्पर्य किसी एक औद्योगिक समाज के रूप में देखना भी गलत होगा। इस सिद्धांत के निर्माताओं का कहना है कि वैश्वीकरण में दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाएं साथ-साथ काम करती हैं। एक प्रक्रिया तो सजातीयकरण (Homogenization) की है और दूसरी विशिष्टीकरण (Differentiation) की। इसका तात्पर्य है कि इस प्रक्रिया में स्थानीयता (Localism) और वैश्वीकरण (Globalization) दोनों काम करते हैं। यहाँ एक और महत्वपूर्ण टिप्पणी करनी चाहिए कि वैश्वीकरण के सिद्धांतवेत्ता परम्परागत समाजशास्त्र को नकारते हैं।"[39]

---

[37]आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता, अभिजीत पाठक, पृष्ठ सं. 57

[38]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 18

[39]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 315

कमल नयन काबरा के अनुसार- "भूमंडलीकरण विश्व-स्तर पर बाज़ार की इकाइयों, ताकतों और प्रक्रियाओं को निजी उद्देश्यों और विवेक के आधार पर स्वतंत्र रूप से काम करने की आजादी देने के सिद्धांत पर टिकी व्यवस्था है।"[40]

उपर्युक्त परिभाषाओं में विद्वानों ने अपनी-अपनी परिभाषाओं के माध्यम से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को समझने तथा समझाने का प्रयास किया है। एंथोनी गिडेंस ने भूमंडलीकरण की व्याख्या करते हुए इसे (भूमंडलीकरण) आधुनिकता का बहुत बड़ा परिणाम माना है। तथा इनकी मान्यता है कि भूमंडलीकरण ने समय और स्थान को सामाजिक जीवन में नए तरीके से परिभाषित किया है। जिसे वह (गिडेंस) समय-स्थान का दूरीकरण भी कहते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत भूमंडलीकरण की परिभाषा में दो कारक महत्वपूर्ण रहे हैं वह हैं समय और दूरी। दूरीकरण के द्वारा उपस्थित तथा अनुपस्थित को जोड़ने के लिए समय और स्थान को व्यवस्थित किया जाता है।

हार्वे डी, गिडेंस की समय और स्थान की व्याख्या को थोड़ा आगे बढ़ाते हैं। उनका मानना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से समय और स्थान अनुरेखीय नहीं हैं। इनमें हमेशा निरंतरता नहीं रहती। इसमें उतार-चढ़ाव होता रहता है लेकिन इसके बावजूद वैश्वीकरण बढ़ जाता है। इसके लिए वह पूँजीवाद को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि- पिछले दिनों में पूँजीवाद आशातीत रूप में आगे आ गया। सोवियत रूस के विघटन ने पूँजीवाद को बाज़ार की खुली छूट दे दी। और इसमें समय और स्थान दोनों ही बदल गए। परिणामस्वरूप विश्व में एक वैश्वीय व्यवस्था कायम हो गयी। इस प्रकार समय और स्थान ने वैश्वीकरण को एक नई दिशा दे दी। इस प्रकार हार्वे डी समय और स्थान को नई दिशा का सूचक मानते हैं।

---

[40]भूमंडलीकरण के भँवर में भारत, कमल नयन काबरा, पृष्ठ सं. 298

मेलकाम वाटर्स की परिभाषा के अनुसार भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय अंत:क्रियाओं का व्यापक समावेश रहता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में भौगोलिक तथा राष्ट्रीय सीमाओं के जो दबाव और बंधन होते हैं वह शिथिल पड़ जाते हैं।

वेलरस्टेन भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवाद का विस्तार और उसकी समृद्धि देखते हैं। यह परिभाषा गिडेंस और हार्वे से बिलकुल अलग है। यदि समय और स्थान में दूरीकरण हुआ है, तो इसका कारण वह पूँजीवाद की विश्व अर्थ-व्यवस्था को मानते हैं। उनके अनुसार आज भूमंडलीकरण का जनक पूँजीवाद है।

रोजेनाऊ अपनी परिभाषा में तकनीकी तंत्र को प्रमुख मानते हैं। इनके अनुसार आज दुनिया में जो भी पारस्परिकता, अंतर्निभरता है उसका कारण तकनीकी तंत्र है। इसके साथ वह अंतरराष्ट्रीय राजनीति को भी जोड़ते हैं। वह उद्योगवाद और उत्तर-उद्योगवाद को भूमंडलीकरण को पोषित करने वाली शक्ति के रूप में देखते हैं।

गिलपीन अपनी परिभाषा में शक्ति की राजनीति की बात करते हुए उसे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया मानते हैं। तथा प्रभुत्वशाली राष्ट्र के उदार व्यवहार की प्रशंसा करते हुए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवाद का अहम योगदान मानते हैं। वह यह भी मानते हैं कि आज की दुनिया में बाज़ार की सफलता बिना प्रभुत्वशाली शक्ति के संभव नहीं।

राबर्ट्सन भूमंडलीकरण को संपूर्ण विश्व की चेतना मानते हुए इसके संकुचन की बात करते हैं। इनके अनुसार दुनिया सिमट रही है जिससे एकता की भावना और गहरी होती जा रही है।

एल्ब्रो और टैर्नर की परिभाषा काफी मिलती जुलती है। दोनों ही भूमंडलीकरण के कारण एक विश्व समाज व्यवस्था तथा एक विश्व समाज निर्माण की बात करते हैं।

अभय कुमार दुबे भूमंडलीकरण को एक व्यापक परिघटना मानते हुए इसे परिवर्तन का सूचक मानते हैं। वहीं पर अभिजीत पाठक भूमंडलीकरण को आधुनिकता की तार्किक परिणति के रूप में देखते हैं। अर्जुन अप्पदुराई भूमंडलीकरण को 'विश्व के सांस्कृतिक इतिहास का नया उत्पाद' के रूप में देखते हैं। कमल नयन काबरा इसे निजी उद्देश्यों तथा विवेक के आधार पर स्वतंत्र रूप से काम करने वाली एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं।

इस प्रकार सभी विद्वानों द्वारा दी गयी भूमंडलीकरण की परिभाषाओं की व्याख्या तथा परीक्षा के बाद जो तत्व या पक्ष उभरकर सामने आता है वह है 'पूँजी'। अर्थात् भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में 'पूँजी' ही वह कारक है जिससे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया संचालित होती है। अर्थात् 'पूँजी' भूमंडलीकरण की मूल और आधारभूत आवश्यकता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बहुत ही बड़े स्तर पर अत्यधिक तीव्र गति से अंतरराष्ट्रीय पूँजी या वित्त का प्रवाह तथा अंतरराष्ट्रीय लेन-देन होता है। इस प्रकार देखा जाए तो तीव्रगामिता भूमंडलीकरण का स्वभाव ही है। तथा 'पूँजी' ही वह तत्व है जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक संबन्धों को गति प्रदान करती है। जिससे विश्व के लोग आपस में एक-दूसरे से जुड़ते हैं। चाहे भले ही यह जुड़ाव लाभ की राजनीति से प्रेरित क्यों न हो। इस प्रकार भूमंडलीकरण 'पूँजी' आधारित वह व्यवस्था है जो विकसित देशों का पोषण करती है। विकासशील तथा तीसरी दुनिया के देशों के लिए यह महज एक छलावा है।

1.4 भूमंडलीकरण की प्रक्रिया : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और इसकी शुरुआत को लेकर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ हम विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों तथा मतों के परिप्रेक्ष्य में इसकी समीक्षा करेंगे तथा इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानने तथा समझने का प्रयास करेंगे। इसकी प्रक्रिया को लेकर तीन प्रकार के

दृष्टिकोण एवं मत उभरकर सामने आते हैं। जिनमें प्रथम है कि- भूमंडलीकरण कोई नई अवधारणा अथवा कोई नई चीज़ नहीं है। यह तो मानव इतिहास के आरंभ से ही चल रही है। उनका तर्क है कि यह सब तो इससे पहले भी होता रहा है और आज के भूमंडलीकरण के प्रारंभिक रूप सदियों पूर्व तथा मानव सभ्यता के इतिहास में दिखाई देते हैं। ऐसे लोगों में नयन चंदा भी एक हैं। नयन चंदा प्रतिष्ठित 'फार इस्टर्न इकॉनोमिक रिव्यू' के पूर्व संपादक भी रह चुके हैं। चंदा का मानना है कि भूमंडलीकरण कोई नई चीज़ नहीं, यह तो इतिहास में शुरू से ही देखने को मिलता रहा है। यूनानी हो या रोमवासी, ईरानी-तूरानी हो या हिन्दुस्तानी, अरब हो या चीनी, सभी प्रतिभाशाली उद्यमी, परिश्रमी, महत्वाकांक्षी, भूमंडलीय स्तर पर काम करते रहे हैं।[41] नयन चंदा 840 ई. में निर्मित बोरोबुदूर मंदिर को भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत निर्मित मानते हैं। सुदूर भारत से लाकर बौद्ध धर्म के प्रवर्तक की शिक्षाओं को हजारों जावा वासी कलाकारों और मजदूरों ने मंदिर की दीवारों पर उकेरा। हालाँकि राबर्ट्सन इसे इतिहास के आरंभ से देखता है तो वाल्सटेन इसका आरंभ 16वीं सदी से मानता है।[42] वाल्सटेन के अनुसार विश्व की पूँजीवादी संरचना की आधारशिला 16वीं शताब्दी में रख दी गई थी। आज भले ही वैश्वीकरण को नया कहा जाता है, लेकिन प्रक्रिया नई नहीं है। लगभग 1450 ई. के आसपास यह प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी।[43] बलास्कवी का मत है कि जब से यूरोप से अन्य देशों की खोज यात्राएं प्रारंभ हुई थीं, वैश्वीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। इन खोज यात्राओं का उद्देश्य नए बाज़ारों और यूरोपीय उद्योगों के लिए कच्चे माल प्राप्त करना था। यह सब कुछ 15वीं शताब्दी की बात है।[44] भूमंडलीकरण को मानव इतिहास के आरंभ से जोड़कर देखने वाले लोग भूमंडलीकरण को मानव जनसंख्या, और सभ्यता के विकास पर नज़र रखने वाली एक सदियों लंबी परंपरा के रूप में देखते हैं

[41]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, पृष्ठ सं. 31

[42]लेख-वैश्वीकरण का समाजशास्त्र, श्रीप्रकाश मिश्र, नया ज्ञानोदय, अंक 127, सितंबर 2013, संपा. रवीन्द्र कालिया, पृष्ठ सं. 16

[43]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 28

[44]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 28

और इसका प्रारंभिक रूप रोमन साम्राज्य, पार्थियन साम्राज्य और हान वंश के समय में शुरू हुए ‘रेशम मार्ग’ (Silk Route) में देखते हैं। रेशम मार्ग प्राचीन काल और मध्य काल में ऐतिहासिक व्यापारिक मार्गों का एक जाल था जिसके जरिये एशिया, यूरोप और अफ्रीका जुड़े हुए थे। इसका सबसे जाना-माना हिस्सा उत्तरी रेशम मार्ग है जो चीन से होकर पश्चिम की ओर पहले मध्य एशिया में और फिर यूरोप में जाता था और इसी से निकलती एक शाखा भारत की ओर जाती थी। सिल्क रूट मध्य और दक्षिण-पश्चिम एशिया में लगभग 6000 कि.मी. तक फैला हुआ था और चीन को भारत, पश्चिमी एशिया और भूमंडलीय क्षेत्र से जोड़ता था। सिल्क रूट के साथ वस्तुओं, लोगों और विचारों ने चीन, भारत और यूरोप के बीच हजारों कि.मी. की यात्रा की। 1000 ई. से 1500 ई. तक एशिया में लंबी-लंबी यात्राओं द्वारा लोगों में वैचारिक आदान-प्रदान होता रहा। इसी दौरान हिंद महासागर में समुद्रीय व्यवस्था को महत्त्व मिला। तथा दक्षिण-पूर्व एशिया और मध्य एशिया के बीच समुद्री मार्ग का विस्तार हुआ।[45] इस प्रकार कल और आज के भूमंडलीकरण का अंतर सिर्फ़ इतना है कि पहले केवल तैयार की गयी वस्तुएं ही एक देश से दूसरे देशों को जाती थी, किंतु अब इनमें कच्चा माल, प्रौद्योगिकी और लोग भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार इन लोगों का मानना है कि भूमंडलीकरण कोई नई परिघटना नहीं है और न ही अकस्मात् आ धमकी है। इसकी (भूमंडलीकरण) प्रक्रिया तो मानव इतिहास के आरंभ से ही चल रही है जो समय के साथ त्वरित होती गई है।[46]

विद्वानों के दूसरे समूह का मानना है कि भूमंडलीकरण पूँजीवाद के साथ जुड़ा रहा है। इस दृष्टि से उसका आधुनिकीकरण से गहरा रिश्ता रहा है। इसके विपरीत ऐसे भी लोग हैं जो यह मानते हैं कि भूमंडलीकरण उत्तर-औद्योगीकरण और उत्तर-आधुनिकता का ही एक हिस्सा है और इस प्रकार वह एक नई घटना है। इस विचारधारा के लोगों का मानना है कि बीसवीं सदी के चौथे दशक में उत्तर-

---

[45]लेख-भूमंडलीकरण, संपा. मिथिलेश वामनकर, https://vimi.wordpress.com/2009/02/12/155separate/

[46]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, डॉ. गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 9

औद्योगीकरण, उत्तर-आधुनिकीकरण और पूँजी के विशृंखलन के साथ इसकी उत्पत्ति और विकास हुआ। अभी तक उसका विकास शनै: - शनै: हो रहा था, बीसवीं सदी के चौथे दशक से उसकी गति एकदम से तेज़ हो गयी है।[47]

गहराई से विचार कर देखेंगे तो उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोणों के बीच कोई बुनियादी अंतर नहीं है। वस्तुतः भूमंडलीकरण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में हमेशा ही रही है। हाँ, वर्तमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों के दौरान अंकुरित होने लगी थी।...15वीं 16वीं शताब्दी से आरम्भ हुई प्रक्रिया आधुनिकीकरण और पूँजीवाद से जुड़ी रही है। इसलिए चारित्रिक दृष्टि से वह अपनी पूर्ववर्ती प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न रही है।[48] इस प्रकार डॉ. गिरीश मिश्र के अनुसार भूमंडलीकरण की प्रक्रिया हमेशा से रही है लेकिन वर्तमान भूमंडलीकरण को वह चारित्रिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न मानते हैं। डॉ॰ गिरीश मिश्र अपने लेख 'भूमंडलीकरण के बीस साल' में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के संबंध में लिखते हैं कि- "इसकी शुरुआत 1989 में हुई जब इसके वैचारिक आधार 'वाशिंगटन आम राय' का प्रतिपादन जॉन विलियम्सन ने किया, वैसे उसकी पृष्ठभूमि थैचर और रीगन के सत्तारूढ होने, अर्थशास्त्रियों के शिकागो स्कूल का दबदबा बढ़ने, सोवियत संघ एवं समाजवादी खेमे के अवसान के कारण अमेरिका के एकमात्र महाशक्ति बन जाने तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन के शक्तिहीन होने और आत्मनिर्भर स्वतंत्र अर्थव्यवस्था की बात नव-स्वतंत्र देशों में भुलाने के साथ तैयार हो गई थी।"[49] डॉ. गिरीश मिश्र भूमंडलीकरण की शुरुआत यदि 'वाशिंगटन आमराय' से मान रहे हैं तो जाहिर-सी बात है कि भूमंडलीकरण एक नयी परिघटना है।

---

[47]लेख-वैश्वीकरण का समाजशास्त्र, श्रीप्रकाश मिश्र, नया ज्ञानोदय, अंक 127, सितंबर 2013, संपा. रवीन्द्र कालिया, पृष्ठ सं. 15

[48]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, डॉ. गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 9

[49]लेख-भूमंडलीकरण के बीस साल, डॉ. गिरीश मिश्र, (देशबंधु, दैनिक समाचार पत्र, 4 दिसंबर, 2009)

हालांकि डॉ. पुष्पेश पंत भी अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण' की भूमिका में एक जगह भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत को सदियों पहले मानने के कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं। लेकिन वो सिर्फ तर्क ही प्रस्तुत कर उसे स्व-विवेक पर छोड़ देते हैं। वे लिखते हैं कि-"आज जो प्रक्रिया या प्रवृत्ति भूमंडलीकरण के नाम से जानी जाती है, सदियों पहले आरंभ हो चुकी थी। भले ही इसे अलग-अलग युगों में अलग-अलग नाम दिया गया हो। धरती पर रहने वाले प्राणी हमेशा ही परस्पर निर्भर रहे हैं और मनुष्य जाति को एक होने का अहसास रहा है और विश्वबंधुत्व का पाठ पढ़ाने की जरूरत आम आदमी के लिए भी कभी नहीं पड़ी है। ईसा के जन्म से सैकडों वर्ष पहले से दुनिया के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले, अलग-अलग सभ्यताओं के वारिस अंतरराष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा ले रहे हैं। यह याद रखने लायक है कि ईसा के जन्म के कई सदी बाद यही भू-भाग सभ्य एवं सुसंस्कृत थे और यूरोप कहें, अफ्रीका तथा एशिया, मिस्र, सुमेर और ईरान, यूनान, भारत और चीन यही पुरानी दुनिया थे- पूरी की पूरी। यदि इन सभी के बीच आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंधों में घनिष्ठता थी और राजनयिक संपर्क भी तो क्या इसे भूमंडलीकरण का नाम देना सार्थक नहीं?"[50] जाहिर है कि यहाँ पर पुष्पेश पंत भूमंडलीकरण की शुरुआत सदियों पहले मानने के पीछे तर्क तो देते हैं लेकिन वो स्वयं इसके पक्ष में नहीं हैं। वह उसी पुस्तक की भूमिका में ही अन्यत्र भूमंडलीकरण की शुरुआत को लेकर अपना स्पष्ट मंतव्य भी व्यक्त करते हैं कि- "समकालीन भूमंडलीकरण की अवधारणा किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्वाभाविक विकास नहीं समझी जा सकती भले ही कुछ विदेशी विद्वान् ऐसा प्रयत्न करते रहे हैं। 21वीं सदी वाले भूमंडलीकरण की जड़ें हजारों वर्ष पहले नहीं तलाशी जा सकती। आज जिस सन्दर्भ में भूमंडलीकरण की चर्चा गर्म हुई है वह अमेरिकी पूँजीवाद, पश्चिमी जनतंत्र वाली प्रणाली के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है"।[51] वहीं पर कुमुद शर्मा जी का मानना है कि- "विश्व की नई आर्थिक प्रक्रिया,

---

[50]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, (पुस्तक की भूमिका से) पृष्ठ सं. 1

[51]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, (पुस्तक की भूमिका से) पृष्ठ सं. 3

जिसे ‘भूमंडलीकरण’ कहा जा रहा है, को एक ऐसी घटना के रूप में नहीं देखा जा सकता, जिसका एक स्वतंत्र अस्तित्व हो या जिसका जन्म आकस्मिक रूप से हो गया हो। इसकी जड़ें दुनिया की बड़ी शक्तियों, जिन्हें अमीर देश या साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी कहा जा सकता है, के पारस्परिक युद्ध के पश्चात हुए उनके विध्वंस में समाहित हैं। इनके विरुद्ध हुए सफल औपनिवेशिक युद्धों से इनके ‘दिन दूनी रात चौगुनी’ तरक्की करते हुए आर्थिक तंत्र को इतना आघात पहुँचा कि विश्व में उनका आर्थिक वर्चस्व खतरे में पड़ गया। विश्व की राजनीति में अपना वर्चस्व बनाए रखने और घरेलू मोर्चे पर विकसित होनेवाले जन-आंदोलनों पर अंकुश लगाने के लिए चिंतित इन शक्तिशाली राष्ट्रों में यह खतरा मँडराने लगा कि वे अपने आर्थिक साम्राज्य को पुन: कैसे स्थापित करें। शक्तिशाली देशों की इसी सोच के पश्चात विभिन्न देशों के बीच अंतरराष्ट्रीय व्यापार की नई प्रक्रिया शुरू हुई, जिसे ‘भूमंडलीकरण’ (ग्लोबलाइजेशन) नाम दिया जा रहा है।”[52] लेकिन यदि वास्तव में देखा जाए तो भूमंडलीकरण कोई नई अवधारणा या परिघटना नहीं है और ना ही अकस्मात् आ धमकी है। हमारी प्राचीन उक्ति ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ इसी प्रकार की एक संकल्पना थी। अर्थात् भूमंडलीकरण की प्रक्रिया किसी ना किसी रूप में मानव इतिहास के आरंभ से ही चल रही है। तथा इसका संबंध पूँजीवाद के साथ भी रहा है। और इस प्रकार उसका आधुनिकीकरण से गहरा रिश्ता है। हालाँकि भूमंडलीकरण शब्द बीसवीं सदी के अंतिम दशक में ज्यादा और व्यापक रूप से प्रयोग में आया। इसके विकास और विस्तार में सूचना तथा संचार-क्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हालांकि इसमें टेक्नोलॉजी (संचार क्रांति) की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन यह स्पष्ट है कि टेक्नोलॉजी के तमाम चमत्कारों के बावज़ूद भूमंडल का एक दुनिया में परिवर्तित होना 1960 और 70 के दशक तक भी एक दूर का सपना ही बना हुआ था। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के बावजूद 20वीं सदी के चौथे दशक तक विश्व बुरी तरह विभाजित ही था। उस समय वैश्विक या भूमंडलीय शब्द का प्रयोग गंभीरता से नहीं

[52]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 18

किया जाता था। अंतरराष्ट्रीय विशेषण ही विश्व स्तर पर राजनीति, आर्थिक क्रियाकलापों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए काम में लाया जाता था।[53]

इस प्रकार भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण आज के युग की बहुआयामी, विशिष्ट तथा नई परिघटना है, जिसने पिछले कुछ वर्षों से पूरी दुनिया तथा दुनिया के समस्त लोगों के जनजीवन को प्रभावित किया है। यदि भूमंडलीकरण एक नई परिघटना है तो जाहिर सी बात है कि इसका इतिहास महज़ दस-बीस वर्षों का ही है। डॉ. पुष्पपाल सिंह के अनुसार- "विचारणा ('थॉट', 'थियेरी') के रूप में भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, उन्मुक्त बाज़ार व्यवस्था या कहें खुला, उदार बाज़ार आदि की चर्चा प्राय: 25-30 वर्ष पूर्व प्रारंभ हो गई थी किंतु इस दिशा में विशेष सक्रियता पिछले 15-20 वर्षों, विशेषत: 1989-90 से तीव्रतर रूप धारण करती चली गई।"[54] लेकिन इस अल्प-अवधि में इसे सिद्धांत में बाँटने का भी प्रयास किया गया है। नोम चोमस्की का कहना है कि- "सैद्धांतिक रूप में वैश्वीकरण शब्द का उपयोग, आर्थिक वैश्वीकरण के नव-उदार रूप का वर्णन करने में किया जाता है।"[55] नोम चोमस्की अन्यत्र अपना मत व्यक्त करते हैं कि- "शक्तिशाली लोगों ने 'वैश्वीकरण' पर अनाधिकार कब्ज़ा कर लिया है और उसे अंतरराष्ट्रीय एकीकरण के अपने विशिष्ट संदर्भ तक सीमित कर दिया है, जो स्वयं उनके हितों को प्रतिबिंबित करता है।"[56] समाजशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण का सिद्धांत वैश्वीय सांस्कृतिक व्यवस्था (Global Cultural System) की पड़ताल करता है। उनका कहना है कि आज की वैश्विक संस्कृति को लाने वाले कई प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास हैं। इन विकासों में सेटेलाईट-सूचना व्यवस्था, उपयोग के वैश्विक प्रतिमान का उद्गम और कोस्मोपोलिटन (सर्वव्यापी) जीवन पद्धति का आविर्भाव है। वैश्वीकरण के कारण उदारीकरण और निजीकरण भी आये

---

[53]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, पृष्ठ सं. 11-13

[54]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 16

[55]मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से, http://hi.wikipedia.org तिथि 22/01/2014, समय 10:50

[56]शक्ति और वैश्वीकरण पर विचार, नोम चोमस्की, (अनुवादक: आदित्य नारायण सिंह), पृष्ठ सं. 3

हैं। इन्होंने राष्ट्र-राज्यों की भूमिका को कमजोर बना दिया है। अब वैश्वीय सैनिक व्यवस्था कायम हो गयी है। एक ऐसी सोच भी विकसित हुई है जो सम्पूर्ण संसार को एक इकाई मानकर चलती है। कुल मिलाकर वैश्वीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें भौगोलिक दबाव कमजोर हो गए हैं और इसी तरह सांस्कृतिक और सामाजिक संबंधों की जमावट भी ढीली पड़ गई है।[57] आज विश्व के लगभग सभी देश भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और इसके प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। आज के समय में सूचनाओं, विचारों, वस्तुओं तथा पूँजी के साथ ही लोगों का भी (आजीविका और व्यापार बढ़ाने के लिए लोगों का एक देश से दूसरे देश में आवागमन) आदान-प्रदान जो इतनी तीव्र गति से एक देश से दूसरे देश में निर्बाध रूप से हो रहा है, इसका मूल कारण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया है। आज कुछ ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जैसे कि व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा, रक्षा आदि। इन सभी क्षेत्रों में लगभग सभी देश परस्पर संबंध तो रख ही रहे हैं साथ ही अन्य कई प्रकार के भी संबंध रखे हुए हैं या रख रहें हैं। अर्थात् सभी क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ रही है एंथनी गिडेंस इसे ही वैश्वीकरण कहते हैं।

भूमंडलीकरण : विकास और विस्तार के क्रमिक चरण

भूमंडलीकरण उन्नीसवीं सदी के मध्य में पूँजीवादी एक विश्वव्यापी व्यवस्था बन गया और संसार के लगभग सभी देश अपनी घरेलू उत्पादन-पद्धतियों में अंतर के बावजूद विश्व पूँजीवाद से कमो बेश जुड़ गए। इसके पूर्व आर्थिक संबंध मुख्यतया विश्व व्यापार या देशों के बीच मालों के परस्पर विनिमय के रूप में देखे जा सकते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य से पूँजी निर्यात अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबन्धों की एक मुख्य विशेषता बन गया। तथा पूँजी निर्यातक देशों की जरूरतों के अनुकूल औपनिवेशीकरण के स्वरूप में बदलाव लाया गया।

[57]आधुनिकता,उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 315

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ तक काफी त्वरित रही। मालों, पूँजी और लोगों का अंतरराष्ट्रीय प्रवाह लगातार बढ़ता गया। इसका मुख्य कारण था मुक्त व्यापार। इसके परिणामस्वरूप व्यापारिक अवरोध खत्म हुए और रेलमार्गों के निर्माण तथा वाष्पचालित जहाजों के आने से परिवहन लागत में व्यापक स्तर पर कमी आयी। किंतु 1914 और 1991 के बीच भूमंडलीकरण की प्रक्रिया धीमी हो गयी। दो विश्व युद्धों, बोल्शेविक क्रांति, सोवियत खेमे के उदय, उपनिवेशवाद की समाप्ति और भारत जैसे अनेक नवस्वतंत्र देशों द्वारा अपने बाज़ार और संसाधनों को अपने स्वतंत्र आर्थिक विकास के लिए आरक्षित करने तथा शीतयुद्ध के तेजी आने से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया बाधित हुई। इस दौरान व्यापारिक अवरोध और पूँजी-प्रवाह पर नियंत्रण फिर से लगा दिया गया। 1930 के दशक की महामंदी का इस पर असर पड़ा।

1970 के दशक से ही कतिपय ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने भूमंडलीकरण के स्वरूप और दिशा में बाहरी बदलाव ला दिया। ब्रेटन वुड्स प्रणाली का अवसान हो गया। क्योंकि अमेरिका अपनी मुद्रा डॉलर का मूल्य स्थिर बनाए रखने के अपने वादे से मुकर गया। तथा डॉलर के साथ अन्य परिवर्तनीय मुद्राओं को अपनी परस्पर विनिमय-दरों को बाज़ार की शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ दिया गया। और इसके साथ ही भूमंडलीय पूँजी बाज़ार अस्तित्व में आया। विश्व व्यापार संगठन (उसकी पूर्ववर्ती संस्था गाट) जैसे संगठनों ने इसे एक आकार देने के साथ ही साथ इसके संचालन के नियम और कानून भी बनाए। सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व क्रांति ने वस्तुओं और पूँजी के प्रवाह को और अधिक तीव्रता प्रदान की।

वहीं दूसरी ओर 1989-90 में सोवियत संघ और समाजवादी खेमे के अवसान के बाद दुनिया में सिर्फ अमेरिका ही एक मात्र महाशक्ति बचा। और अमेरिका की मुद्रा डॉलर एक महामुद्रा। गुट निरपेक्ष आंदोलन और आत्मनिर्भर स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के निर्माण की बात पीछे छूट गयी। तथा पूँजी, बाज़ार, प्रौद्योगिकी आदि के लिए भारत जैसे नवस्वतंत्र देशों की अमेरिका व उसके सहयोगी देशों के

साथ ही उसके द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित संगठनों पर निर्भरता बढ़ गई। एक प्रकार से अमेरिका ही उनका मार्गदर्शक बन गया। ऐसे समय में अमेरिका ही एक ऐसा देश था जो आर्थिक रूप से मजबूत था इसलिए अन्य पश्चिमी देशों के साथ मिलकर उसने आर्थिक पुन:निर्माण और व्यापारिक बाधाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से चार प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का गठन किया। जिससे बिना किसी अवरोध के विश्व में मुक्त व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ। ये संस्थाएं – ब्रेटन वुड्स (एक्सचेंज रेट सिस्टम), अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.-इंटरनेशनल मानेटरी फंड), विश्व बैंक और गैट (जी.ए.टी.-जनरल एग्रीमेंट आन ट्रेड एंड टैरिफ) थीं। अमेरिका के नेतृत्व में बनीं इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से ही भूमंडलीकरण की रुप-रेखा तैयार की गई। जिससे विश्व के अनेक देशों को, जो अपने पैरों पर खड़ा हो सकने की हालत में नहीं थे, उन्हें आंशिक सहारा मिला। लेकिन इसका प्रत्यक्ष लाभ अमेरिका जैसे अमीर देशों को ही मिला। वे न केवल विश्वयुद्ध में हुए आर्थिक तबाही से बाहर निकले बल्कि विश्व में उनका आर्थिक सिक्का भी जमने लगा। इस तरह आर्थिक जगत् में एक ऐसी व्यवस्था पनपने लगी जिससे तीसरी दुनिया के देशों के बाजार पर अमीर और शक्तिशाली देशों का कब्ज़ा होने लगा। इसी विस्तार को अमीर और शक्तिशाली देशों द्वारा भूमंडलीकरण का नाम दिया गया। तथा ऐसे समय में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया सिर्फ त्वरित ही नहीं हुई बल्कि उसका स्वरूप भी बदल गया।

इस प्रकार वर्तमान तथा आधुनिक भूमंडलीकरण की शुरुआत यहाँ से हो गयी। अभय कुमार दुबे के अनुसार भूमंडलीकरण उस सफर का नाम है जो उन्नीसवीं सदी के सातवें में आधुनिकता ने शुरू किया था। आधुनिकता को इंसान के सोच- विचार में तरह-तरह की क्रांतियाँ करने का श्रेय दिया जाता है, लेकिन उसकी व्याख्याओं में यह पहलू सबसे कम उभर कर आ पाता है कि वह भूमंडलीकरण की वाहक भी है।...भूमंडलीकरण को यदि आधुनिकता की आर्थिक अभिव्यक्ति के रूप

में देखा जाय तो अपने सफर के पचास साल में वह काफी तेज़ रफ्तार से दौड़ता नज़र आता है।[58] डॉ. पुष्पपाल सिंह ने आधुनिक भूमंडलीकरण के क्रमिक विकास के चार चरण बतलाए हैं। आधुनिक भूमंडलीकरण का पहला चरण प्राय: 1850-1914 ई., अर्थात् प्रथम विश्व युद्ध तक। जिसमें मोहाविष्ट करनेवाली अर्थ-व्यवस्था आंग्ल-अमेरिकी नियंत्रण में पल्लवित और पुष्पित होती है। भूमंडलीकरण का दूसरा चरण 1914-1950 ई. तक। इस काल में यद्यपि तकनीकी विकास की गति तीव्र रही किंतु इसके बावजूद भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की गति कुछ धीमी रही। भूमंडलीकरण का तीसरा चरण 1951-1990 ई. तक। भूमंडलीकरण के इस दौर में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अमेरिका में जाकर बसने वाले प्रवासियों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती चली गयी। और 1990 ई. से अद्यतन भूमंडलीकरण का चौथा चरण माना है। यही वह चरण है जिसमें यह निश्चय ही एक आँधी की गति से दुनिया भर में छाकर पैर जमा चुका है। यही वह समय है जब वैश्वीकरण मात्र और मात्र अमेरिकीकरण बनकर रह गया है। यही वह समय है जब वाशिंगटन आमराय का क्रियान्वयन प्रारंभ हुआ।[59] इसके अलावा रोनाल्ड रॉबर्ट्सन ने वैश्वीकरण की संरचना को पांच सोपानों में बाँटते हुए उसकी पृष्ठभूमि को रेखांकित किया है। उनके अनुसार भूमंडलीकरण के पाँच सोपान निम्न हैं :

1. बीजाणु (वर्ष 1400-1750) – यह वह युग था, जब ईसाई प्रमुख के पद की समाप्ति हो चुकी थी, धर्म के प्रभुत्व में शिथिलता आ चुकी थी और राष्ट्रवाद का उदय हो चुका था। राष्ट्रवाद की यही भावना राष्ट्रीय हितों के संबंध में भी विचार करने लगी थी।
2. उद्भव (1750-1875) - इस युग में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का मात्र विकास ही नहीं हुआ, उसे मजबूती भी मिलने लगी थी। यूरोप में अंतरराष्ट्रीयतावाद तथा सार्वभौमिकतावाद की अवधारणा को भी बल मिलने लगा था। ये दोनों ही भावनाएँ यूरोप

[58]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 27

[59]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, डॉ. पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 23

को अन्य देशों के साथ संबंध स्थापित करने को प्रेरित कर रही थीं, चाहे वे संबंध औपनिवेशिक ही क्यों न हों।

3. विस्तार (1875-1925) - इस काल में विश्व की एक अंतरराष्ट्रीय इकाई के विकास की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। विश्व पंचाग का निर्माण हुआ। प्रथम विश्व युद्ध हुआ तथा वृहद् स्तर पर आवास-प्रवास प्रारंभ हुआ। इस अवधि में गैर-यूरोपीय देश भी राष्ट्र-राज्य की श्रेणियों में सम्मिलित होने लगे।
4. प्रभुता के लिए संघर्ष (1925-1969) – यह समय शीत युद्ध का रहा। लीग ऑफ नेसन्स तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इसी समय में तीसरी दुनिया की अवधारणा भी उभरी।
5. 1969-1992 – इस काल में अंतरिक्ष शोध का बहुत विस्तार हुआ। वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं पर चिंतन प्रारंभ हुआ। वैश्विक जनसंचार विकसित हुआ और तकनीकी विस्तार हुआ।

वस्तुतः वैश्वीकरण के कालचक्र को इन्हीं सोपानों में देखा जा सकता है। तथा वैश्वीकरण की नई उभरती शक्तियों की जड़ को 1980-90 के दशक में देखा जा सकता है। इस दशक में राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाओं ने वैश्वीकरण की संरचना के निर्माण पर व्यापक प्रभाव डाला। इन घटनाओं में शीत युद्ध की समाप्ति हुई, समाजवादी सोवियत रूस का विखण्डन हुआ, बर्लिन दीवार टूटी और पश्चिमी आर्थिक उदारवाद प्रारंभ हुआ।[60]

लेकिन सही मायने में भूमंडलीकरण सोवियत संघ के विघटन के बाद से ही माना जा सकता है, सोवियत संघ के विघटन के पहले दुनिया दो ध्रुवीय थी। एक पूँजीवादी अमेरिका और दूसरा समाजवादी सोवियत संघ। इसे विचारक अभय कुमार दुबे ने अपनी पुस्तक ‘भारत का भूमंडलीकरण’

---

[60]वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नरेश भार्गव, पृष्ठ सं. 29

में अधिक स्पष्ट ढंग से समझाया है। उनका कथन है कि- "ब्रेटन वुड्स समझौते के पांच साल बाद भूमंडलीकरणों के इस शीत-युद्ध ने एक नया गुल खिलाया। 1949 में सत्तारूढ़ होने के फ़ौरन बाद चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने अपनी डॉलर आमदनी को अमेरिकी सरकार की लम्बी पहुँच से बचाने के लिए पेरिस में 'बैंके कमर्शियाले पौर ल यूरोप डू नार्ड' नामक बैंक में जमा करना शुरू कर दिया। खास बात यह थी कि इस बैंक की मिल्कियत सोवियत संघ के हाथ में थी और इसका बेतार के तार का पता था 'यूरो बैंक'। चीनियों की देखा-देखी रूसियों ने भी अपनी डॉलर आमदनी या तो पेरिस के बैंक में या फिर लंदन के 'मास्को नरोदनी बैंक' में जमा करनी शुरू कर दी। यूरोप के बैंकरों ने देखा कि उनके बैंक में एक ऐसी विपुल डॉलर धनराशि जमा है। जो न तो जमा करने वाले देश नियम कानूनों से नियंत्रित होती है और न ही वह ब्रेटन वुड्स प्रणाली के दायरे में आती है। वे इन उन्मुक्त डॉलरों का व्यापार कर सकते हैं। यही डॉलर पेरिस के बैंक के पते की तर्ज पर यूरो डॉलर कहलाये। यूरो डॉलर मार्केट का जन्म हुआ, जिसकी ख़ुफ़िया तो कभी खुली गतिविधियाँ, ब्रेटन वुड्स प्रणाली के नियामक अमेरिका को चिंतित करती रहीं। यह बाजार अमेरिका से भी डॉलरों को अपनी ओर खींच रहा था। अमेरिका ने इस प्रक्रिया को रोकने के लिए कानून तक बनाया पर उससे काम नहीं चला। साठ के दशक में जब अमेरिका में मुद्रास्फीति बढ़ी और डॉलर कमजोर होना शुरू हो गया तो सारी दुनिया में डॉलरों को सोने में भुनाने की होड़ मच गयी। अपना सोने का भंडार खाली हो जाने के डर से अगस्त 1970 में राष्ट्रपति निक्सन ने एकतरफा कार्यवाही करके डॉलर धारियों से यह अधिकार छीन लिया और इस तरह ब्रेटन वुड्स प्रणाली ध्वस्त हो गयी। निर्धारित विनिमय-दर के बजाय चलायमान विनिमय-दर का प्रचलन हुआ। अर्थशास्त्र की भाषा में यह मुक्त बाजार के बिना वित्तीय पूँजी के भूमंडलीकरण की शुरुआत थी।"[61]

[61]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 30

1.5 भूमंडलीकरण का वैचारिक आधार (वैचारिकी के आधार-स्तंभ)

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर के वैचारिक आधार को 'वाशिंगटन आमराय' के नाम से जाना जाता है।[62] इसे कई लोग 'नव-उदारवाद' या 'बाजार रूढ़िवाद' के नाम से भी पुकारते हैं। 'वाशिंगटन आमराय' का सृजन जॉन विलियम्सन ने 1990 ई. में किया था। यह आमराय वाशिंगटन की 15वीं और 19वीं सड़क के बीच बनी थी। जॉन विलियम्सन ने इसमें अपना दस सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। उसके विषय में उनका विचार था कि- लैटिन अमेरिका में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति को वह स्वीकार्य होगा। इसीलिए उन्होंने इसे 'वाशिंगटन आमराय' नाम दिया। जैसा कि यह विदित है कि 15वीं सड़क पर अमेरिकी ट्रेजरी विभाग और 19वीं सड़क पर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाएँ स्थित हैं। इस आमराय में नीतियों के उस न्यूनतम समूह को इंगित किया गया जो वाशिंगटन स्थित संस्थाएँ 1989 में लैटिन अमेरिकी देशों को अपनाने के लिए कह चुकी थीं। वाशिंगटन आमराय अमेरिकी सरकार (अमेरिकी ट्रेजरी विभाग, फेडरल रिजर्व और वाणिज्य विभाग) और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund), विश्व बैंक (World Bank), और इंटर-अमरीकन डेवलपमेंट बैंक जो बाद में GATT- General Agreement on Tariffs and Trade के स्थान पर बने विश्व व्यापार संगठन (WTO-World Trade Organization) के समान दृष्टिकोण का सूचक थी। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इस आमराय से लैटिन अमरीकी और बाद में तीसरी दुनिया के देशों से कोई लेना-देना था जिन पर जबरन थोपी गई।

तीसरी दुनिया के जिन देशों के लिए वाशिंगटन आमराय प्रतिपादित की गई उनकी न परिस्थितियों का ध्यान रखा गया और न उनकी भागीदारी आमराय बनाते समय जरूरी समझी गई। वाशिंगटन आमराय राज्य की सक्रिय भूमिका को अस्वीकार करती है। उनका मानना है कि आर्थिक

---

[62]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, गिरीश मिश्र व ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 11

क्षेत्र में राज्य कम से कम दखल दे। उसकी धारणा है कि राज्य संरक्षणवाद, सब्सिडी और अपने स्वामित्व में उद्यमों को स्थापित कर अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालता है। राज्य को आर्थिक उदारता, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण और समष्टिगत स्थिरता (मैक्रोस्टेबिलिटी) को बढ़ावा देना चाहिए। वाशिंगटन आमराय में दस बाते हैं:

1. राजकोषीय अनुशासन : बजटीय घाटे को सीमित रखने के लिए कठोर कदम।
2. सार्वजनिक व्यय संबंधी प्राथमिकताओं में परिवर्तन : सब्सिडी में कटौती और गरीबी निवारण के कार्यक्रमों की लगभग समाप्ति।
3. कर संबंधी सुधार : कराधान के आधार का विस्तार और कर की सीमांत दर में कमी।
4. वित्तीय उदारीकरण : ब्याज की दरों का बाज़ार द्वारा निर्धारण।
5. विनिमय दर : इसका निर्धारण ऐसे हो कि गैर परंपरागत निर्यात बढ़े।
6. व्यापार का उदारीकरण : कोटा समाप्त हो और दस वर्षों में सीमा शुल्क को कम से कम 10 प्रतिशत के आसपास किया जाय।
7. विदेशी प्रत्यक्ष निवेश : उसके प्रवेश में कोई बाधा न हो तथा देशी निवेश के साथ पूरी समानता दी जाय।
8. निजीकरण : राजकीय उपक्रमों का निजीकरण हो।
9. विनियमनों को हटाना : नई देशी-विदेशी फ़र्मों के प्रवेश पर रोक या किसी तरह का प्रतिबंध न हो।

10.संपत्ति संबंधी : संपत्ति संबंधी अधिकारों को प्राप्त करने, इस्तेमाल में लाने और हस्तांतरण में कोई रुकावट न हो।[63]

'वाशिंगटन आमराय' के गठन से पहले नई आर्थिक नीति और व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के उद्देश्य से पश्चिमी देशों ने मिलकर चार प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का गठन किया। इससे बिना किसी बाधा के संपूर्ण विश्व में मुक्त व्यापार संभव हुआ। अर्थात् इन्होंने विश्व में मुक्त व्यापार का मार्ग खोल दिया। ये संस्थाएँ हैं- ब्रेटनवुड्स एक्सचेंज रेट सिस्टम, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष , विश्व बैंक, गैट आदि।[64]

अमेरिका के नेतृत्व में गठित इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के गठन के द्वारा ही भूमंडलीकरण की रूप-रेखा निर्मित हुई। इससे विश्व के अनेक देशों को, जो अपने पैरों पर खड़ा हो सकने की स्थिति में नहीं थे, उन्हें कुछ सहारा मिला। लेकिन इसका प्रत्यक्ष लाभ अमेरिका जैसे अमीर देशों को ही मिला। वे न केवल विश्वयुद्ध में हुए आर्थिक बदहाली और तबाही से बाहर निकले बल्कि विश्व में उनका आर्थिक सिक्का भी जमने लगा। इस तरह आर्थिक जगत् में एक ऐसी व्यवस्था पनपने लगी जिससे तीसरी दुनिया के देशों के बाजार पर अमीर और शक्तिशाली देशों का कब्ज़ा होने लगा। इसी विस्तार को अमीर और शक्तिशाली देशों द्वारा भूमंडलीकरण का नाम दिया गया। इस प्रकार इन संस्थाओं के माध्यम से ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया संचालित एवं गतिशील हुई। इस प्रकार भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में इन संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अत: ये ही भूमंडलीकरण की वैचारिकी के आधार-स्तंभ हैं। इसलिए इन संस्थाओं का संक्षिप्त विवेचन यहाँ जरूरी है।

---

[63]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, गिरीश मिश्र व ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 12

[64]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 21

1.5.1 ब्रेटनवुड्स विनिमय-दर प्रणाली (ब्रेटनवुड्स एक्सचेंज रेट सिस्टम)

विकसित अर्थात् अमीर देशों की सुविधानुसार उनकी स्थिति को सुदृढ़ और मज़बूत करने का कार्य ब्रेटनवुड्स विनिमय-दर प्रणाली ने किया। 1944 ई. में अमेरिका के न्यू हैम्पशायर के ब्रेटनवुड्स में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन मेवार्ड कीन्स के नेतृत्व में अनेक राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। उनके बीच एक महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय समझौता हुआ, जिसे ब्रेटनवुड्स एग्रीमेंट (ब्रेटनवुड्स समझौता) के नाम से जाना गया। इस समझौते के अंतर्गत पहली बार अंतरराष्ट्रीय लेन-देन के संबंध में एक सर्वमान्य 'कानूनी' मसौदे पर विभिन्न देशों ने हस्ताक्षर किए। इस समझौते से पहले अंतरराष्ट्रीय लेन-देन और व्यापारिक विनिमय में 'सोने' को मानक बनाया जाता था। लेकिन इसकी समस्या यह थी कि सोने के मानक को ऊपर-नीचे नहीं किया जा सकता था। जिसकी वजह से विभिन्न देशों में आर्थिक संकट गहराने लगता था। अत: ब्रेटनवुड्स एग्रीमेंट में सोने के इस गैर लचीलेपन को दूर किया गया। और सभी सदस्य देशों की मुद्राओं को अमेरिकी डॉलर और सोने के संदर्भ में मूल्यांकित किया गया। सिद्धांत रूप में डॉलर की यह स्थिति हो गई थी कि अंतरराष्ट्रीय बाज़ार में डॉलर के बदले सोना दिया और लिया जा सकता था। इस तरह डॉलर, जो अमेरिकी मुद्रा था, अब अंतरराष्ट्रीय मुद्रा भी बन गया। ब्रेटनवुड्स समझौते को चलाये रखने के लिए अमेरिकी डॉलर के मूल्य को बनाए रखना जरूरी हो गया। इस तरह विश्व का व्यापारिक और वित्तीय विनिमय अमेरिकी डॉलर पर निर्भर हो गया।

अमेरिका द्वारा ब्रेटनवुड्स व्यवस्था की समाप्ति

ब्रेटनवुड्स समझौते से शुरुआत में अमेरिका को बहुत अधिक लाभ हुआ। अंतरराष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय विनिमय अमेरिकी डॉलर में होने लगा। अमेरिकी डॉलर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा में परिवर्तित हो गया। भुगतान भी अमेरिकी डॉलर में होने लगे। लेन-देन में डॉलर को सोने के तुल्य मानकर अंतरराष्ट्रीय व्यापार में डॉलर, इसके अतिरिक्त सरकारी और निजी खजाने को डॉलर में

आरक्षित किया जाने लगा। इसी बीच पश्चिमी यूरोप और पूर्वी एशिया के राष्ट्रों की अभूतपूर्व आर्थिक प्रगति हुई। इन औद्योगिक राष्ट्रों ने 'शुल्क' और 'कोटा' के माध्यम से व्यापारिक प्रतिबंधों को लगभग समाप्त कर दिया। भूमंडलीय व्यापारिक व्यवस्था में अमेरिकी डॉलर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

वियतनाम युद्ध और अमेरिकी कंपनियों द्वारा बाहर के देशों में पूँजी-निवेश करने के कारण अमेरिका का बजट घाटा बढ़ने लगा। इसी बीच अपनी उच्च-प्रौद्योगिकी और उत्पादन के सहारे जर्मनी व जापान का ट्रेड सरप्लस (यानी आयात से ज्यादा निर्यात) होने के कारण उनके यहाँ डॉलर का ढेर लगने लगा। 1971 तक नकदी डॉलर की देनदारी इतनी अधिक बढ़ गई कि डॉलर की आधिकारिक साम्यता को बनाए रखना कठिन हो गया। लोगों का विश्वास डगमगाने लगा। इसलिए 15 अगस्त, 1971 को राष्ट्रपति निक्सन ने डॉलर और सोने के वित्तीय संबंध को समाप्त करने की घोषणा कर दी। इस तरह ब्रेटन वुड्स प्रणाली का अपने आप अंत हो गया। इस प्रकार अमेरिका जब तक ब्रेटन वुड्स प्रणाली उसकी आर्थिक सर्वोच्चता की गारंटी बनी रही उसने उसे चलाया। जब डॉलर का वर्चस्व खतरे में पड़ गया तो उसने ब्रेटन वुड्स विनिमय-दर प्रणाली खत्म कर दी। उसकी जगह अब उसने मिश्रित प्रणाली (हाइब्रिड सिस्टम) लागू कर दी है।[65]

1.5.2 अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF-International Monetary Fund) एक अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्था है। इसकी स्थापना 1944 ई. में की गई थी। विभिन्न देशों की सरकार के 45 प्रतिनिधियों ने अमेरिका के ब्रेटेन वुड्स में बैठक कर अंतरराष्ट्रीय आर्थिक समझौते की रूपरेखा तैयार की थी। 27 दिसंबर, 1945 को 29 देशों के समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद आई.एम.एफ. की स्थापना हुई। इसका मुख्यालय वॉशिंगटन डी० सी०, संयुक्त राज्य अमेरिका में है। वर्तमान में इसके 189 देश सदस्य

[65]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 26

हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने बड़ी अहम भूमिका निभाई। इसका उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना, अंतरराष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना, स्थायी आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, भुगतान संबंधी समस्याओं के संतुलन का सामना करने वाले सदस्य देशों के लिए संसाधन उपलब्ध कराना है। ब्रेटेन वुड्स प्रणाली के अंतर्गत निहित शर्तों को पूरा करने और विभिन्न देशों के भुगतान संतुलन में पैदा हुई बाधाओं का निवारण करना था। एक प्रकार से अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देशों के केंद्रीय बैंकों का केंद्रीय बैंक बन गया। सदस्य देश अपनी मुद्रा अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष में जमा करा देते और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष बदले में सदस्य देशों के भुगतान संतुलन में आई बाधाओं को दूर करने के लिए अपने कोष से ऋण देने लगा। प्रारंभिक दौर में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का वास्तविक कार्य शेयर बाज़ार के सट्टेबाज़ों से ब्रेटन वुड्स प्रणाली की रक्षा करना था। साथ ही विदेशी मुद्रा बाज़ार में सदस्य देशों की मुद्राओं को सहारा देना था।

बाद में यही (अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष) तीसरी दुनिया (विकासशील) देशों के लिए गले की हड्डी सिद्ध हुआ। क्योंकि उन्हें मानवीय दृष्टिकोण के कारण ऋण की सुविधाएं नहीं दी गई थीं। अपितु तीसरी दुनिया के देशों पर कब्जा करने के उद्देश्य से नई टेक्नोलॉजी देने व उन्हें आर्थिक विकास के नाम पर अधिक से अधिक ऋण उपलब्ध कराया गया था। ताकि जब वे ऋण के बोझ तले इस सीमा तक दब जाएँ कि उसे चुकाने की स्थिति में न हों, तो उन्हें विवश किया जा सके कि वे विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने देश में प्रवेश देकर व्यापार करने की छूट दें। इसलिए ऋण देते समय कई नियम और शर्तें उन पर जबरन थोपी गईं। जिससे उस देश की व्यवस्था में बाध्यकारी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाए। अंतत: देश में सामाजिक उथल-पुथल और अराजकता का वातावरण फैल

जाए और वे भूमंडलीकरण का नारा देकर तथा 'ग्लोबल विलेज' (विश्वग्राम) का सुनहरा सपना दिखाकर विकासशील देशों को ठग सकें।[66]

1.5.3 विश्व बैंक

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देने में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की तरह विश्व बैंक का भी अपना विशेष योगदान रहा है। यह एक अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्था है तथा इसका मुख्यालय वाशिंगटन डी. सी. में है। यह जुलाई 1945 ई. में अस्तित्व में आया। इस समय विश्व बैंक के 189 देश सदस्य हैं। इसके वर्तमान अध्यक्ष जिम योंग किम हैं। विश्व बैंक का Motto या आदर्श वाक्य है 'Working for a World Free of Poverty' अर्थात् विश्व को गरीबी से मुक्ति दिलाना। विश्व बैंक की स्थापना का उद्देश्य राष्ट्रों के विकास-कार्यों एवं उनके आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए लंबी अवधि का ऋण प्रदान करना था, ताकि विश्व बाज़ार में मुक्त व्यापार और प्रतिस्पर्धा से बचने का कोई बहाना उन देशों के पास न रहे। विश्व बैंक का गठन विश्व के संपन्न देशों की पूँजी से हुआ। उसमें अमीर देशों ने सकल घरेलू उत्पाद और अन्य कारकों के अनुपात में पूँजी लगाई है। विश्व बैंक अन्य राष्ट्रों की उन परियोजनाओं के लिए कम ब्याज-दरों पर दीर्घावधि के लिए ऋण प्रदान करता है, जो आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद होती हैं और जिन पर निजी क्षेत्रों से ऋण लेना संभव नहीं होता। ऋण लेने वाले देश इस ऋण की अदायगी अमीर देशों का अपने देश के श्रेष्ठतम उत्पादन का निर्यात करके करते हैं।[67]

1.5.4 गैट (GATT) या विश्व व्यापार संगठन (WTO)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब संपन्न राष्ट्र गहरे आर्थिक संकट की चपेट में थे, तब युद्ध से बरबाद या प्रभावित राष्ट्रों ने अपने घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने की विवशता से आयात और निर्यात

---

[66]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 23

[67]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 23

की जानेवाली वस्तुओं पर शुल्क लगा दिया, ताकि उनके उत्पादन अन्य देशों के उत्पादन के मुक़ाबले बाज़ार में प्रतिस्पर्धा कर सकें। इस मुक्त बाज़ार हेतु अपने उत्पादनों पर शुल्क लगाकर राष्ट्रों ने जो बाधाएँ खड़ी की थीं, उन बाधाओं को अमेरिका हटाना चाहता था, ताकि विश्व में मुक्त व्यापार का मार्ग प्रशस्त हो सके। इसी कारण राष्ट्रों के बीच शुल्क और व्यापार पर एक सामान्य समझौतों के लिए 'गैट' (GATT- General Agreement on Tariffs and Trade) संस्था का संगठन हुआ, जो 1955 की शुरुआत में 'विश्व व्यापार संगठन' (WTO- World Trade Organization) के नाम से जानी जाने लगी। विश्व व्यापार संगठन के गठन के साथ ही विश्वव्यापी आर्थिक सहयोग के नए युग की शुरुआत की घोषणा की गई और कहा गया, 'एक ऐतिहासिक उपलब्धि, जो विश्व अर्थव्यवस्था को प्रबल करेगी और समूची दुनिया में अधिक व्यापार, अधिक पूँजी-निवेश, अधिक रोजगार और अधिक आय के अवसर पैदा करेगी।'

इस संगठन के देशों ने एक के बाद एक समझौते करके व्यापारिक प्रतिबंध या बाधाओं को खत्म कर शक्तिशाली और संपन्न देशों के अनुकूल उनके हित में कार्य किया। संपन्न देशों के हित को साधनेवाले इस संगठन ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को सरल बना दिया। विश्व व्यापार संगठन के अंतर्गत व्यापार-नियमों का निर्माण कुछ इस प्रकार से किया गया कि विकासशील देश मुक्त बाज़ार व्यवस्था के अंतर्गत काम करके आसानी से अपने अर्थतंत्र को विकसित देशों के अधीन होने दें। 'गैट' समझौते के माध्यम से पूँजीवाद का आक्रमण सभी विकासशील देशों पर हुआ। इसके माध्यम से विकसित देशों द्वारा दुनिया के अन्य देशों (विकासशील) का आर्थिक दोहन करने की रणनीति तैयार की गयी। 1993 में विश्व व्यापार संगठन का 'उरुग्वे राउंड' संपन्न हुआ जिसने विकासशील देशों की

अर्थव्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया, जो कृषि तथा टेक्सटाइल पर आधारित थी। भारत भी ऐसा ही एक राष्ट्र था।[68]

निष्कर्षत: ब्रेटनवुड्स विनिमय-दर प्रणाली, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, गैट और 'वाशिंगटन आमराय' ये ही वह संस्थाएँ रही हैं जिनसे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को संचालित किया जाता रहा है। इस प्रकार से यह संस्थाएँ ही भूमंडलीकरण की वैचारिकी के वैचारिक आधार हैं। हालांकि इन संस्थाओं का गठन विश्व में आर्थिक पुनर्निर्माण और व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के उद्देश्य से किया गया था। लेकिन इन संस्थाओं की व्यापार नीतियाँ वास्तव में वैश्विक कार्य व्यापार (भूमंडलीय कार्य व्यापार) द्वारा सभी को आर्थिक समृद्धि प्रदान नहीं करती। वह सिर्फ विकसित और शक्तिशाली देशों के हित के लिए और उनके आर्थिक तंत्र को सुदृढ़ करने के लिए कमजोर (विकासशील) देशों को अपना मोहरा बनाती हैं। व्यापार के लिए विकासशील देशों का व्यापारिक कंपनियों द्वारा लगातार शोषण होता रहा है।

1.6 उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण (एल. पी. जी)

भारत की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने तथा उसे सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से 1990 के दशक में एक महत्वपूर्ण और नीतिगत बदलाव लाया गया। यह बदलाव और कुछ नहीं बल्कि आर्थिक सुधारों पर केन्द्रित एक नई आर्थिक नीति की घोषणा थी। जिसे तत्कालीन प्रधानमंत्री वी. पी. नरसिंह राव की सरकार ने लागू किया था। हुआ यह कि जब वर्ष 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था एकदम से चरमरा गई और भारत का विदेशी मुद्रा भंडार एक दम से खाली हो गया तो ऐसे समय में भारत को अंतरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (IBRD) (जिसे विश्व बैंक के नाम से भी जाना जाता है) तथा अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शरण में जाना पड़ा। ऐसे समय में इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने देश को 7

[68]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 24

बिलियन डॉलर का ऋण इस संकट का सामना करने के लिए दिया। किंतु इस ऋण के लिए इन संस्थाओं ने भारत पर कुछ नियम व शर्तें थोपीं; जिसमें प्रमुख रूप से शामिल था कि भारत उदारीकरण करेगा तथा निजी क्षेत्रों पर लगे प्रतिबंधों को हटाएगा। भारत सरकारी हस्तक्षेप कम करेगा। तथा अन्य देशों के साथ विदेशी व्यापार संबंधी लगे प्रतिबंधों को समाप्त करेगा।

भारत ने इन संस्थाओं द्वारा थोपी गयी सभी प्रकार की शर्तों को मान लिया और नई आर्थिक नीति की घोषणा की। यह आर्थिक सुधार पर केन्द्रित एक नई आर्थिक नीति थी। भारत सरकार ने आर्थिक सुधारों को ध्यान में रखकर अनेक प्रकार की जिन नीतियों को प्रारंभ किया उसके तीन प्रमुख उपवर्ग थे- उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण। चूँकि यह आर्थिक नीति उदारीकरण और निजीकरण के सिद्धांतों पर आधारित थी। इसलिए इस नए आर्थिक सुधारों के नए मॉडल को सामान्यतः एल. पी. जी. (Liberalization Privatization and Globalization) यानी उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नाम से जाना गया। जहाँ पर उदारीकरण के अंतर्गत सभी को अपनी सुविधानुसार आर्थिक निर्णय लेने की आजादी होती है वहीं पर निजीकरण को उदारीकरण से प्रोत्साहन मिलता है तथा वह उदारीकरण से ही जुड़ी प्रक्रिया है। भूमंडलीकरण को किसी अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण के रूप में जाना जाता है। यह एक प्रकार से उन सभी नीतियों का परिणाम है, जिनका उद्देश्य विश्व को परस्पर निर्भर और एकीकृत करना है। संपूर्ण विश्व को एक बनाना तथा सीमाविहीन विश्व की रचना करना है। भूमंडलीकरण मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन देता है। जिससे देशों के बीच आर्थिक दूरियाँ धीरे-धीरे कम होती जाती हैं तथा आवागमन भी आसान हो जाता है।

आर्थिक सुधारों के इस नए मॉडल (एल. पी. जी.) का मुख्य उद्देश्य- भारत की अर्थ-व्यवस्था को विश्व की अर्थ-व्यवस्था के साथ जोड़ना तथा बदहाल हुई भारतीय अर्थ-व्यवस्था को तेजी से विकसित कर सुदृढ़ और मजबूत बनाना था। साथ ही भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की दर को

बढ़ाना, अतीत में प्राप्त लाभों का समायोजन करना, उत्पादन इकाइयों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता को बढ़ाना भी इसका मुख्य उद्देश्य था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कई तरह के परिवर्तन किये गए जैसे वित्त तथा व्यापार संबंधी आ रही बाधाओं को दूर करने के लिए खुली छूट प्रदान की गयी। जिससे उदारवाद तथा निजीकरण को बढ़ावा मिला। विदेशी विनिमय पर लगे प्रतिबंधों को हटाया गया। उत्पादन और वितरण संबंधी सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करने के लिए मुक्त व्यापार की नीति का समर्थन किया गया। भारत की इस नई आर्थिक नीति के मॉडल ने उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया को और अधिक बढ़ावा दिया। जिससे भारत में बहुत सी निजी तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आगमन हो गया। जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तथा उसके विकास में सहायक सिद्ध हुआ। उदारीकरण तथा इस नई आर्थिक नीति की प्रमुख बातें थीं: विदेशी प्रौद्योगिकी समझौता, औद्योगिक लाइसेंसिंग ढील, निजीकरण की शुरुआत, विदेशी निवेश, विदेशी व्यापार के लिए अवसर तथा मुद्रा को विनियमित करने हेतु कर सुधार आदि।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके पास अपनी प्रौद्योगिकी तथा संसाधन तो उपलब्ध है ही साथ ही इन्हें देश की सरकार का भी सहयोग तथा संरक्षण मिल रहा है। यह बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपनी फैक्ट्रियों को एक देश से दूसरे देश में ले जाती हैं। साथ ही इन कंपनियों के साथ बड़ी संख्या में लोग भी जा रहे हैं। जिससे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिल रहा है। यद्यपि औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली, आयात-निर्यात नीति, तकनीकी उन्नयन, राजकोषीय और विदेशी निवेश नीतियों में उदारीकरण 1980 के दशक में भी आरंभ किये गए थे। किंतु, 1991 में आरंभ की गई सुधारवादी नीतियाँ कहीं अधिक व्यापक थीं। अभय कुमार दुबे के अनुसार- “अस्सी के दशक में उत्पादन का भूमंडलीकरण हुआ जिसकी अगुआई बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में थी। इन निगमों ने अपना उत्पादन-आधार उन विकासशील देशों में स्थानांतरित कर दिया जहाँ माल और सेवाओं का घरेलू बाज़ार चढ़ रहा था और सस्ते श्रम के कारण उत्पादन की लागत कम थी।

नब्बे के दशक को वित्तीय पूँजी के भूमंडलीकरण के लिए जाना जाता है। इसी दशक में भूमंडलीकरण की परिघटना अपने सर्वाधिक चरम रूप में प्रकट हुई। उन्नीसवीं सदी में हुए मुक्त बाज़ार वाले भूमंडलीकरण की भाँति ही इस बार भी इसके केंद्र में महाशक्ति (संयुक्त राज्य अमेरिका), एक महा-मुद्रा (अमेरिकी डॉलर) इंटरनेट और उपग्रहीय चैनलों के रूप में हुई संचार क्रांति थी। पूँजी का उन्मुक्त प्रवाह सुनिश्चित करना इस भूमंडलीकरण का मकसद था जिसकी पूर्ति के लिए उसने गैट और फिर विश्व व्यापार संगठन के अधीन एक नई विश्व अर्थव्यवस्था की रचना कर डाली। यह अर्थव्यवस्था मुक्त बाज़ार की थीसिस पर निर्भर न होते हुए भी बाज़ार के प्रभुत्व की पैरोकार थी, इसलिए इसे नियोक्लासिकल या नव-उदारवाद का सैद्धांतिक नाम दिया गया।"[69]

इस प्रकार देखा जाए तो भूमंडलीकरण दो क्षेत्रों पर सर्वाधिक बल देता है- उदारीकरण और निजीकरण। जहाँ उदारीकरण का अर्थ है आर्थिक प्रतिबंधों को समाप्त कर अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को 'मुक्त' करना। औद्योगिक और सेवा क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों से संबन्धित नियमों में ढील प्रदान करना। तथा विदेशी कंपनियों को घरेलू क्षेत्र में उत्पादन तथा व्यापार के लिए प्रोत्साहित करना। इसे ही जितेंद्र भाटिया अपनी पुस्तक 'सदी के प्रश्न' में कुछ इस तरह से व्याख्यायित करते हैं- "किसी भी देश के लिए उदारीकरण का मतलब है वहाँ की सीमाओं पर लगाये गए आर्थिक प्रतिबंधों में ढील, सीमा-शुल्कों और निषिद्ध आर्थिक गतिविधियों में कटौती और आंतरिक अनुमतिपत्रों एवं कर-प्रणालियों का सरलीकरण, ताकि घरेलू उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ उत्पादनों एवं टेक्नोलाजियों के निर्यात एवं आयात को प्रोत्साहन दिया जा सके।"[70] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आर्थिक प्रतिबंधों में कमी आना उदारीकरण है। तथा वर्तमान समय में उदारीकरण की नीति को व्यापक स्तर पर समर्थन दिया जा रहा है। जिससे विभिन्न देशों की विभिन्न बहुराष्ट्रीय कंपनियों की

---

[69]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 33

[70]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 45

भारत में एक बाढ़ सी आ गयी है। जो अब उसी (भारत) पर हावी होती जा रही हैं। इस प्रकार से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया 'मुक्त अर्थ-व्यवस्था' यानी 'आर्थिक उदारीकरण' के रास्ते से ही गतिशीलता को प्राप्त होती है। आज भूमंडलीकरण की शक्ति का ढोल पीटकर तथा विकास का सुहाना सपना दिखाकर विकासशील देशों को यह सीख दी जा रही है कि उदारीकरण और आथिक सुधारों के इस युग में तेजी से विकास की गति पकड़ने के लिए जरूरी है कि सामाजिक क्षेत्रों का निजीकरण कर दिया जाए।[71]

निजीकरण से आशय है किसी सार्वजनिक उपक्रम के स्वामित्व या प्रबंधन का सरकार द्वारा त्याग। या सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र (या सरकार) को निजी क्षेत्र की संस्थाओं या कंपनियों के अधीन करना। सरकारी कम्पनियाँ निजी क्षेत्र की कंपनियों में दो प्रकार से परिवर्तित हो रही हैं: एक सरकार का सार्वजनिक कंपनी के स्वामित्व और प्रबंधन से बाहर होना और दूसरा सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों को सीधे बेच दिया जाना। किसी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा जनसामान्य को इक्विटी की बिक्री के माध्यम से निजीकरण को विनिवेश कहा जाता है। निजीकरण के माध्यम से निजी क्षेत्र की कंपनियों को उन वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की अनुमति प्रदान की जाती है, जिनकी पहले अनुमति नहीं थी। इसमें सरकारी क्षेत्र की कंपनियों की संपत्ति को निजी क्षेत्र के हाथों बेचना भी सम्मिलित है। आजादी के बाद लगभग चार दशकों तक भारत द्वारा मुक्त अर्थव्यवस्था को न अपनाए जाने के कारण यहाँ विदेशी कंपनियों के लिए प्रवेश निषिद्ध था; किंतु भारी ऋण और अन्य आर्थिक विवशताओं के कारण आर्थिक उदारीकरण की नीति अपनाते हुए भारत को विदेशी कंपनियों के लिए अपने बाज़ार को खोलना पड़ा। आर्थिक उदारीकरण की नीति से भूमंडलीय अर्थव्यवस्था का नारा देते हुए कहा गया कि आर्थिक उदारीकरण, यानी भूमंडलीय अर्थव्यवस्था में आम जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी; आम आदमी के जीवन में समृद्धि आ सकेगी। इस

[71]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 30

प्रकार भूमंडलीकरण ने अपने स्वभाव के मुताबिक उदारीकरण की नीति से बहुराष्ट्रीय कंपनियों का पोषण करनेवाली 'मुक्त अर्थव्यवस्था' का समर्थन किया।

वस्तुत: आर्थिक उदारीकरण और विदेशी पूँजी-निवेश हेतु सभी प्रतिबंधों को हटा लिया गया। प्रतिबंधों में ढील आते ही भारत सहित अन्य विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का प्रवेश तेजी से होने लगा। नए आर्थिक वित्तीय संबन्धों ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को एक नया आयाम दिया। उदारीकरण के बाद भारत की अर्थव्यवस्था में विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, तथा अन्य विदेशी वित्तीय संस्थाओं का दखल बढ़ गया। इस तरह आर्थिक उदारीकरण के स्वभाव वाला भूमंडलीकरण मूलत: साम्राज्यवादी शक्तियों के हितों का ही पोषक है। भूमंडलीकरण के कारण विश्व स्तर पर प्रारम्भ हुई उदारीकरण की प्रक्रिया ने निजीकरण को बढ़ावा देकर सरकारी हस्तक्षेप को खत्म करके राष्ट्रीय संप्रभुता और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरे भी पैदा किए हैं। इस तरह उदारीकरण, जो भूमंडलीकरण का प्रमुख चरित्र बनकर उभरा, उसने विकासशील देशों के सामने नई-नई क़िस्मों की कठिनाईयाँ पैदा कीं। उदारीकरण के चलते बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विराट आकार ने देशी कारोबारों के अस्तित्व को मिटाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उदारीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था विकासशील देशों पर हावी होती चली गयी। नई सूचना प्रौद्यगिकी ने भूमंडलीकरण के उदारीकरण वाले स्वरूप को बढ़ाने में अपनी कारगर भूमिका निभाई। इस तरह भूमंडलीय उदारीकरण विकासशील देशों के पूर्व निजीकरण का लक्ष्य लेकर आया है। उदारीकरण की यह नीति विकासशील देशों को आर्थिक रूप से विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों का गुलाम बनाती है। क्योंकि इस नीति के कारण विदेशी कंपनियाँ इन देशों के अर्थतंत्र पर आधिपत्य स्थापित कर लेती हैं।[72]

उदारीकरण के लगभग 25 वर्ष हो चुके हैं। लेकिन इतने वर्षों के बाद इस प्रक्रिया या इस नई आर्थिक नीति से क्या कुछ मिला उसे प्रसिद्ध विचारक डॉ. हृदयनारायण दीक्षित अपने लेख

---

[72]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 32

'उदारीकरण के 25 साल' में बहुत ही रोचक ढंग से बतलाते हुए लिखते हैं कि- "पूँजी का देश नहीं होता। लेकिन हरेक राष्ट्र की अपनी पूँजी होती है। अपने मानव संसाधन, अपनी धरती, खनिज संपदा, कृषि उत्पादन, पशुधन, नदियाँ और अन्य तमाम इन्फ्रास्ट्रक्चर। गाँधी जी इसे ही स्वदेशी पूँजी कहते थे। भारतीय समृद्धि से ललचाए अनेक विदेशी हमलावर यहाँ आए। अंग्रेजी सत्ता यहाँ से कपास ले जाती थी। गांधीजी के अनुसार मैनचेस्टर की समृद्धि का मूल कारण भारत का कच्चा माल था। यहाँ से कपास जाता था, वहाँ से भारत में कपड़े आते थे। भूमंडलीकरण तब भी था। सत्ताधीश अंग्रेज नियामक थे और भारतवासी लाचार। 1947 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति मिली। अर्थनीति की दिशा तय करने की शक्ति पंडित नेहरू को मिली। वे मिश्रित व नियंत्रित अर्थव्यवस्था की राह चले। आयात नीति जरूरी वस्तुओं तक सीमित थी। तमाम नियंत्रण थे, लेकिन 1991 तक पूरी अर्थव्यवस्था चरमरा गई। भ्रष्टाचार और अव्यावहारिक अर्थनीति के चलते 1991 में विदेशी मुद्रा कोष घटकर एक अरब डॉलर रह गया। यह एक माह के आयात बिल के लिए कम था। भुगतान संतुलन की स्थिति भयावह थी और अर्थव्यवस्था में अराजकता। आर्थिक उदारीकरण की घोषणा हुई। अंतरराष्ट्रीय दबाव में जुलाई 1991 में रुपये का अवमूल्यन हुआ। विदेशी पूँजी के बाज़ार खोले गए। उदारीकरण की इस घटना के 25 बरस पूरे हो रहे हैं। लेकिन 25 बरस बाद भी गरीबी, बेरोजगारी, जन-स्वास्थ्य, श्रमिक व पर्यावरण की चिंताएं और भी बढ़ी हैं।[73]

प्रसिद्ध इतिहासकार रामचन्द्र गुहा अपने लेख 'उदारीकरण की कीमत' में उदारीकरण के साम्य पक्ष के साथ-साथ इसके वैषम्य-पक्ष को भी रेखांकित करते हुए लिखते हैं- "1991 के ऐसे ही जून के महीने में पी. वी. नरसिंह राव ने प्रधानमंत्री का दायित्व संभाला और फिर सरकार की आर्थिक नीति में भारी बदलाव शुरू हो गया। बाज़ार की ताकतों को खुली छूट देकर 'लाइसेंस परमिट राज' को खत्म

---

[73]लेख-उदारीकरण के 25 साल, हृदयनारायण दीक्षित http://www.jagran.com/editorial/apnibaat-25-years-of-liberalization-14280449.html

करने की मुहिम शुरू हो गई। आम तौर पर उद्योग जगत् द्वारा इसका स्वागत हुआ, क्योंकि वह नियमों के मकड़जाल में उलझा हुआ था। आर्थिक उदारीकरण आवश्यक होने के साथ ही काफी समय से लंबित भी था। इसने अचानक उद्यमिता में तेजी ला दी, आर्थिक विकास में तेजी लाई और गरीबी की व्यापकता को कम किया तथा विदेशी मुद्रा भंडार से जुड़ी हमारी पुरानी चुनौती को खत्म कर दिया। लेकिन उदारीकरण का अपना एक स्याह पक्ष भी था। उद्योग, वाणिज्य, कपड़ा और इसी तरह के अन्य मंत्रालयों को ध्वस्त कर दिया गया।[74]

1.7 भूमंडलीकरण : पूँजीवाद का नया रूप

भूमंडलीकरण को पूँजीवाद का नया रूप अथवा संस्करण मानने वालों का मानना है कि भूमंडलीकरण कुछ और नहीं बल्कि औद्योगिक क्रांति के पश्चात आरंभ हुए पूँजीवाद का ही परिवर्तित चेहरा है। पूँजीवाद ने विकसित देशों की आवश्यकतानुसार अपनी वेशभूषा बदल ली है। अमित कुमार सिंह के अनुसार- "भूमंडलीकरण का वर्तमान डिज़ाइन एवं पैटर्न विकसित देशों की आशा, आकांक्षा और आवश्यकता को प्रतिबिंबित करता है। भूमंडलीकरण में बाज़ार की शक्तियों के माध्यम से पूँजी अपना निर्बाध खेल खेलती है। गतिशील पूँजी की यह आवारगी न किसी राष्ट्र-राज्य की अधीनता को स्वीकार करती है, न ही यह सामाजिक सरोकार के प्रति संवेदनशील है। ऐसे संवेदनशील चरित्र के फलस्वरूप भूमंडलीकरण भी चर्चा का विषय है।"[75] अब यदि पूँजीवाद ही भूमंडलीकरण का नया रूप या अवतार है तो सर्वप्रथम यहाँ पूँजीवाद को समझना अवश्यसंभावी हो जाता है। साथ ही पूँजीवाद के विवेचन और विश्लेषण द्वारा यह जानना भी जरूरी है कि क्या वाकई में भूमंडलीकरण पूँजीवाद का नया रूप है या और कुछ।

---

[74]लेख-उदारीकरण की कीमत, रामचंद्र गुहा, अमर उजाला, 5 जून 2016 (संस्करण इलाहाबाद)

[75]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 28

'पूँजीवाद' शब्द अंग्रेजी के 'कैप्टिलिज्म' (Capitalism) का हिंदी पर्याय है। इस शब्द की उद्भावना 19वीं सदी के पूर्वार्ध में इस अर्थव्यवस्था के समाजवादी आलोचकों ने की थी। कार्ल मार्क्स की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' (Das capital) ने इसे सैद्धांतिक आधार दिया। 'पूँजीवाद' समाजवाद से पहले की सामाजिक-आर्थिक समाज व्यवस्था है। यह उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व तथा उजड़ती श्रम के शोषण पर आधारित व्यवस्था है। पूँजीवाद पूँजीपति और श्रमिक नाम के दोनों प्रमुख वर्गों को जन्म देता है। मार्क्सवादियों के अनुसार- पूँजीवादी उत्पादन का लक्ष्य और पूँजीपतियों की समृद्धि का स्रोत अतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपतियों का कब्ज़ा है। पूँजीवादी व्यवस्था में मुख्य वर्ग, सर्वहारा तथा पूँजीपति होते हैं, जिनके बीच चलने वाले संघर्ष को अंतर्विरोध कहते हैं।[76] मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद की तीन विशेषताएं हैं, वस्तु का उत्पादन, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत और मुक्त श्रम। वस्तु का उत्पादन पूँजीवादी व्यवस्था में बहुत व्यापक हो जाता है और विनिमय के लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में किया जाता है, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत के अनुसार पूँजीपति अनिवार्य रूप से श्रमिक का शोषण करता है और मुक्त श्रम का तात्पर्य यह है कि पूँजीवाद में श्रम मुक्त और निर्बंध होता है।[77]

पूँजीवाद अपने विकास क्रम में विभिन्न मंजिलों से गुजरता है। मुक्त प्रतियोगिता, जो पूँजीवाद की पहली मंजिल की अभिलाक्षणिकता है। धीरे-धीरे उत्पादक शक्तियों का उच्च विकास, टेक्नोलाजी की उन्नति, उत्पादन संकेन्द्रण, इजारेदारियों का गठन इस व्यवस्था को साम्राज्यवाद की ओर ले जाता है, जो पूँजीवाद की चरम अवस्था है। पूँजीवादी समाज व्यवस्था के अंतर्गत पैसा ही प्रमुख हो जाता है। कोई व्यक्ति क्या है और क्या कर सकता है, यह बात उसके अपने व्यक्तित्व के आधार पर निश्चित नहीं होती, वरन् पैसे के आधार पर तय होती है। पैसे की शक्ति तथा क्षमता उस मनुष्य की शक्ति तथा क्षमता

[76]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 218

[77]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 218

बन जाती है। पूँजीवादी समाज व्यवस्था में पैसे की यह प्रभुता समस्त मानवीय संबंधों को तोड़कर रख देती है। इस व्यवस्था में पैसे के बल पर कुछ भी ख़रीदा जा सकता है।[78] मार्क्स और एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि- "पूँजीपति वर्ग ने, जहाँ भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामंती, पितृसत्तात्मक और काव्यात्मक संबंधों का अंत कर दिया।.... मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय मूल्य बना दिया है, और पहले के अनगिनत अनपहरणीय अधिकार पत्र द्वारा प्रदत्त स्वातंत्र्यों की जगह अब उसने एक अन्त:करणशून्य स्वातंत्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं।.... पूँजीपति वर्ग ने पारिवारिक संबंधों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक संबंध को केवल द्रव्य के संबंध में बदल डाला है।"[79] डॉ. अमरनाथ पूँजीवाद के विकास के बाद के स्वभाव के विषय में लिखते हैं कि- "पूँजीवादी बुर्जुआ वर्ग के उदय के साथ वस्तुतः क्रांतिकारी परिवर्तनों का युग प्रारंभ होता है। जब पूँजीवाद अधिक विकसित हो जाता है तब पूँजीवादी वर्ग के भीतर कन्सेंट्रेशन और सेंट्रलाइजेसन की प्रवृत्तियाँ प्रारंभ हो जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि छोटी-छोटी पूँजीवादी कम्पनियों को बड़ी कंपनियां निगल जाती हैं। धीरे-धीरे व्यापार बहुत कम किंतु बड़ी कंपनियों के हाथ में सिमट जाता है। वे आगे पूँजीवाद के विकास के अंतिम मंजिल का जिक्र करते हुए लिखते हैं कि आज पूँजीवाद अपनी अगली और शायद अंतिम मंजिल पर पहुँच चुका है। इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इतना प्रभाव है कि आज दुनिया के तमाम देशों की सरकारें उनके इशारों पर बनती बिगड़ती हैं। आज दुनिया एक बाज़ार के रूप में तब्दील हो चुकी है और विभिन्न देशों में जो भी लड़ाई झगड़े हो रहे हैं वे बाज़ार के वर्चस्व के लिए हो रहे हैं।"[80] अमेरिका द्वारा

---

[78]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 219

[79]कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, मार्क्स, एंगेल्स, पृष्ठ सं. 38-39

[80]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 219

ईराक में तेल के लिए सद्दाम हुसैन की हत्या, अफगानिस्तान की दुर्दशा इसकी कड़वी सच्चाई को व्यक्त करते हैं।

वाकई आज स्थिति ऐसी ही हो गयी है, आज अमेरिका एक पूँजीपति ही है, वह जो चाहता है अपनी जरूरत के अनुसार उसे करके ही दम लेता है। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व बैंक जैसी संस्थाएं भी उसी के इशारे पर कार्य करती हैं। पूँजीपति वर्ग की इन्हीं कटु सच्चाईयों के बारे में मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत पहले सन् 1848 ई. के अपने घोषणा-पत्र में इस प्रकार लिखा है- "उत्पादन के तमाम औजारों में तीव्र उन्नति और संचार साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूँजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहाँ तक की बर्बर से बर्बर राष्ट्रों को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है। उसके माल की सस्ती कीमत ऐसा तोपखाना है जिसके जरिये वह सभी चीनी दीवारों को ढहा देता है,.... प्रत्येक राष्ट्र को, इस भय से की अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा, वह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनाने के लिए मजबूर कर देता है.... पूँजीपति वर्ग सारे जगत् को अपने ही सांचे में ढाल देता है।"[81] लगभग ऐसा ही मत सूरज पालीवाल का भी है- "पूँजीवाद का उत्कर्ष ही भूमंडलीकरण है, जिसमें बड़ी और बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपना जाल फैला रही हैं, उनमें सर्वमंगल की अवधारणा व्यर्थ है। पूँजीपति अपना हित पहले देखता है, वह अपना बाज़ार पहले तलाशता है और लोगों की इच्छा को अपनी तरफ मोड़ता है।"[82] आज अमेरिका सच में ऐसा ही कर रहा है। एक प्रकार से मार्क्स ने पूँजी की शक्ति और उसकी कुटिल नीति के विषय में वर्ष 1848 में जो भविष्यवाणी की थी, वह आज सच ही साबित हो रही है, उन्होंने अपने ग्रन्थ 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' में लिखा है- "अपने माल के लिए बराबर फैलते हुए बाज़ार की जरूरत के कारण पूँजीपति वर्ग दुनिया के कोने-कोने की खाक छानता है। वह हर जगह घुसने को, हर जगह पैर जमाने को, हर जगह संपर्क क़ायम करने को बाध्य होता है।" वे

---

[81]कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, मार्क्स, एंगेल्स, पृष्ठ सं. 41

[82]हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, सूरज पालीवाल, पृष्ठ सं. 23

आगे लिखते हैं कि- विश्व बाज़ार को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर पूँजीपति वर्ग ने हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया है।"[83]

उपर्युक्त कथन पर विचार करें तो पता चल सकता है कि क्या है यह सार्वभौमिक रूप? आज भूमंडलीकरण के युग में सभी व्यक्ति सिर्फ एक उपभोक्ता हैं। यहाँ पैसा अर्थात् पूँजी का लोकलुभावन बाज़ार है जो सभी को रंग-बिरंगी दुनिया दिखाकर लूट रहा है। सार्वभौमिक यानि U.S. अर्थात् यूनिवर्सल, एक प्रकार से अमेरिकीकरण, यही तो हो रहा है, भूमंडलीकरण के नाम पर सारी चीज़ें एक के बाद एक थोपी जा रही हैं। विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद का यह सार्वभौमिक रूप अर्थात् यूनिवर्सल यानि U.S. (अमेरिका) ही आज धुरी है। इसलिए भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण कहना गलत न होगा। डॉ.पुष्पपाल सिंह ने इन्हीं थोपी जा रही संस्कृति के विषय में लिखा है कि- "यह वैश्वीकरण एक प्रकार से पूरी दुनिया का अमेरिकीकरण है जो सारे राष्ट्रों की स्थानिक संस्कृति, जातीय चेतना को पूरी तरह लील कर अपने रंग में रंग डालने की बड़ी भारी सफल कूटनीति है जिसके कारण पूरा विश्व उसकी चपेट में आ चुका है।"[84] इस प्रकार भूमंडलीकरण पूँजीवाद का ही नया रूप, अवतार या यों कहें कि संशोधित संस्करण है। समीर अमीन ने भी पूँजीवादी व्यवस्था के भूमंडलीकृत होने के विषय में लिखा है कि- "पूँजीवादी व्यवस्था का भूमंडलीकरण निश्चित तौर पर कोई नई बात नहीं है।...पूँजीवाद का विस्तार हाल-हाल तक दो क्षेत्रों के बीच संयोग के आधार पर खड़ा रहा है यानि वह क्षेत्र जिसमें संचय फिर से शुरू निर्धारित होता है और राजनीतिक तथा सामाजिक प्रबंध का क्षेत्र : केंद्र में स्थित राष्ट्रीय राज्यों ने अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना की रूपरेखा तय की। अब हम लोग एक नए युग में प्रवेश कर गए हैं। उसकी विशेषता है कि पूँजीवाद के आर्थिक प्रबंध के भूमंडलीकृत क्षेत्र और सामाजिक-राजनीतिक प्रबंध के राष्ट्रीय क्षेत्र में अलगाव पैदा

---

[83]कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, मार्क्स, एंगेल्स,पृष्ठ सं. 40

[84]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 7

हो गया है।”[85] यानि यह भी पूँजीवाद के भूमंडलीकृत होने की बात स्वीकार करते हैं और भूमंडलीकृत क्षेत्र और सामाजिक-राजनीतिक प्रबंध के राष्ट्रीय क्षेत्र में अलगाव को भी बतलाते हैं। डॉ. लोकेशचंद्र का मानना है कि- “भूमंडलीकरण पूँजीवाद का जघन्य पक्ष है जो प्रदूषण से भी अधिक घातक है।”[86] वहीं पर अमित कुमार सिंह पूँजीवाद के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- “पूँजीवाद को अछूत व त्याज्य दृष्टि से देखा जाना सदैव लाभकारी नहीं होता है। यद्यपि यह सत्य है कि सोवियत संघ के विघटन के बाद पूँजीवाद पर कोई वैचारिक अंकुश नहीं रह गया है, फलत: फ्रांसिस फुकोयामा जैसे लोग ‘इतिहास के अंत’ की घोषणा करने से भी परहेज़ नहीं करते। अगर भूमंडलीकरण को पूँजीवाद का नया संस्करण मान भी लिया जाए तो जापान और जर्मनी का उदाहरण हमें यह सीख दे सकता है कि कैसे पूँजीवादी सरोकारों को सामाजिक प्रतिबद्धता और मानव-कल्याण से जोड़ा जा सकता है।”[87]

अत: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आज का भूमंडलीकरण एक प्रकार से पूँजीवाद का ही परिवर्तित रूप है। आज पूँजीवादी ताकतों के रूप में पश्चिमी देश अर्थात् विकसित देश जिनमें अमेरिका प्रमुख है इसका उदाहरण है। इसका विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, तथा गैट या विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं पर नियंत्रण बरकरार है। यह अपनी सुविधानुसार भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा मुक्त व्यापार के नाम पर तीसरी दुनिया तथा विकासशील देशों के सभी प्रकार के संशाधनों पर एक तरह से कब्जा कर अपना खजाना लगातार भरता जा रहा है। और इसमें उसके नियंत्रण वाली संस्थाएँ उसका भरपूर साथ दे रही हैं। इस प्रकार एक पूँजीवादी शक्ति

---

[85]भूमंडलीकरण के युग में पूंजीवाद, समीर अमीन, पृष्ठ सं. 45-46

[86]भाषा साहित्य और संस्कृति, संपा. विमलेश कांति वर्मा, पृष्ठ सं. 443

[87]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 29

(अमेरिका) के रूप में पूँजीवाद का वर्चस्व आज भी कायम है। यह एक प्रकार से पूँजीवाद का नया स्वरूप है।

1.8 भूमंडलीकरण, नव-साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद

प्रस्तुत विषय पर विचार करने से पहले सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद क्या है? इनका आपस में क्या संबंध है? और इनका भूमंडलीकरण से किस प्रकार का संबंध रहा है? साथ ही यह भी जानना जरूरी है कि साम्राज्यवाद तथा नव-साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा उत्तर-उपनिवेशवाद या नव-उपनिवेशवाद में अंतर क्या है?

साम्राज्यवाद (Imperialism)

'साम्राज्यवाद' के लिए अंग्रेजी में 'इम्पीरियलिज्म' (Imperialism) शब्द प्रयुक्त होता है। सभ्यता के विकासक्रम में साम्राज्यवाद के व्यावहारिक रूप में लगातार परिवर्तन होता रहा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों व्यवहार में साम्राज्यवाद के रूप बदले राजनीतिक विचार जगत् में भी साम्राज्यवाद के विषय में अवधारणाएँ बदलती रहीं। उदाहरणार्थ, प्रारंभ में जब राष्ट्रों में अपने राज्य-विस्तार की दृष्टि से ही साम्राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति रही, तो राजनीतिक चिंतन में उसे राजनीतिक साम्राज्यवाद कहा गया। बाद में जब साम्राज्यों की स्थापना आर्थिक लाभ की दृष्टि से की जाने लगी, तो उसे आर्थिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी गई। पिछले कुछ दशकों में साम्राज्यवाद का एक ऐसा नवीन रूप विकसित हुआ है, जो स्पष्ट रूप से न तो राजनीतिक है और न आर्थिक वरन् उसका एक रूप है, जिसके अंतर्गत साम्राज्यवादी देश इस बात का सतत प्रयत्न करते रहते हैं कि संसार में उनका प्रभाव क्षेत्र व्यापक हो ताकि वे निर्बाध व्यापार कर सकें और अकूत मुनाफा कमाकर अपने देश को समृद्धि के शिखर पर पहुंचा सकें। इसे भूमंडलीकरण तथा 'विश्वग्राम' जैसे मोहक शब्दों से संबोधित किया जा

रहा है। आर्थिक उदारीकरण के नाम पर दुनिया को बाज़ार बनाने और उन्हें लूटने की यह नई परिघटना साम्राज्यवाद का सर्वथा नवीनतम् संस्करण है।[88]

साम्राज्यवाद वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार कोई महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र अपनी शक्ति और गौरव को बढ़ाने के लिए अन्य देशों के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है।[89] यह हस्तक्षेप राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या अन्य किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसका सबसे प्रत्यक्ष रूप किसी क्षेत्र को अपने राजनीतिक अधिकार में ले लेना एवं उस क्षेत्र के निवासियों को विविध अधिकारों से वंचित करना है। देश के नियंत्रित क्षेत्रों को साम्राज्य कहा जाता है। साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत एक राष्ट्र-राज्य (Nation State) अपनी सीमाओं के बाहर जाकर दूसरे देशों और राज्यों मे हस्तक्षेप करता है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेस' में साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार से दी गयी है- 'साम्राज्यवाद वह नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अर्थात् एक ऐसे राज्य का निर्माण करना, उसका संगठन करना तथा उसे बनाए रखना होता है जो आकार में सुविशाल हो, जिसमें न्यूनाधिक रूप से अनेक राष्ट्रीय इकाइयां सम्मिलित हों तथा जो एक केंद्रीय सत्ता के अधीन हो।'

साम्राज्यवाद का विज्ञानसम्मत सिद्धांत लेनिन ने विकसित किया था। लेनिन ने 1916 में अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था' में लिखा कि- 'साम्राज्यवाद एक निश्चित आर्थिक अवस्था है जो पूँजीवाद के चरम विकास के समय उत्पन्न होती है।' जिन राष्ट्रों में पूँजीवाद का चरम विकास नहीं हुआ वहाँ साम्राज्यवाद को ही लेनिन ने समाजवादी क्रांति की पूर्वबेला माना है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के नाम पर फैल रहे साम्राज्यवाद के समकालीन रूप के पूर्व साम्राज्यवाद का एक चरण हमारे समक्ष यूरोपियन साम्राज्यवाद के रूप में आया था। मार्क्सवादी चिंतकों ने साम्राज्यवाद

[88]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 376

[89]राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा, ओम प्रकाश गाबा, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, 2010, पृष्ठ सं. 29

के वर्तमान स्वरूप को रेखांकित करते हुए इसे पूँजीवाद के विकास की सबसे ऊंची और अंतिम अवस्था कहा है, साथ ही इसे समाजवादी क्रांति की पूर्वबेला भी बताया है। लेनिन के अनुसार- 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमें इजारेदारियों (एकाधिकारियों) तथा वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका है, जिसमें पूँजी का निर्यात अत्यधिक महत्व प्राप्त कर चुका है, जिसमें अंतरराष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनिया का विभाजन आरंभ हो गया है, और जिसमें सबसे बड़ी पूँजीवादी ताकतों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रों का विभाजन पूरा हो चुका है।[90]

लेनिन के उक्त विश्लेषण के बाद साम्राज्यवाद के जो रूप उभरकर आए हैं उनमें सोवियत संघ के विघटन के बाद समाजवादी खेमा टूट चुका है। तीसरी दुनिया की अवधारणा व्यर्थ प्रमाणित हो चुकी है और दुनिया अमेरिका के नेतृत्व में एक ध्रुवीय हो चुकी है। अमेरिका जी-8 के माध्यम से पूरी दुनिया को बाज़ार बना चुका है। आमतौर पर अधिकांश देशों में उनकी कठपुतली सरकारें कायम हो चुकी हैं। विचारकों ने साम्राज्यवाद के इस नए रूप को एक नया नाम दिया है : उत्तर-उपनिवेशवाद।

साम्राज्यवाद तथा मुक्त व्यापार

17वीं-18वीं शताब्दी में यूरोप में वाणिज्यवादी नीति प्रचलन में थी। इस नीति के तहत व्यवसाय और व्यापार पर कठोर सरकारी नियंत्रण कायम था। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रांति का विकास हुआ तो फिर अहस्तक्षेप की नीति की अवधारणा सामने आई। एडम स्मिथ ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nations) में मुक्त व्यापार की नीति की अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि बाजार का अपना अनुशासन होता है अतः मांग और पूर्ति के नियम के तहत बाजार को कार्य करने देना चाहिए। स्वतंत्र व्यापार से आशय व्यापारिक नीति की उस प्रणाली से है जो घरेलू

---

[90]साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था, व्ला. इ. लेनिन, (अनुवाद एवं संपादन-नरेश नदीम), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ सं. 94

एवं विदेशी वस्तुओं में कोई अंतर नहीं करती और न तो विदेशी पर अतिरिक्त कर लगाया जाता है और न ही घेरलू वस्तुओं को विशेष रियायत दी जाती है।[91]

नव-साम्राज्यवाद

नव-साम्राज्यवाद उन्नीसवीं सदी में यूरोप द्वारा गैर-यूरोपीय देशों पर नई तरह के दबाव को नव-साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह दबाव आर्थिक, सामरिक, कूटनीतिक आदि भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। सोवियत संघ के पतन और शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद राजनीतिक विज्ञानियों और इतिहासकारों ने इस घटना को बार-बार रेखांकित किया है। नेल फार्ग्युसन (Niale Fergueson), हाब्सबान (E. J. Hobsbown), हाब्सन (J. A. Habsaon) आदि इस अवधारणा के प्रस्तोता हैं। नव-साम्राज्यवाद दुनिया के देशों के राज्यों को अपने और पराए या दूसरे कोटियों में बांटता है। उत्तर आधुनिक राष्ट्र अपने हैं, शेष सब दूसरे हैं। राज्यों की एक श्रेणी भी बनती है। इस श्रेणीक्रम में उत्तर आधुनिक राष्ट्र शीर्ष पर हैं। सबसे नीचे बहिष्कृत राज्य हैं।...नव-साम्राज्यवाद में आर्थिक और फौजी ताकत से दबाव डालकर पिछड़े राज्यों की प्रभुसत्ता को समाप्त किया जा सकता है। यह नव-साम्राज्यवाद अमेरिका और उसके सहयोगी साम्राज्यवादी मुल्कों का दुनिया पर अन्यायपूर्ण कब्जे को न्यायसंगत ठहराने का कलात्मक प्रयास है।[92]

लेनिन नव-साम्राज्यवाद को साम्राज्यवाद से भिन्न मानते हैं तथा इसका जिक्र वह अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था' में करते हुए लिखते हैं कि- ''नव- साम्राज्यवाद पुराने साम्राज्यवाद से भिन्न है। पहले तो इस अर्थ में कि उसने एक ही बढ़ते हुए साम्राज्यवाद की महत्वाकांक्षा की बजाय आपस में प्रतियोगिता करने वाले साम्राज्यों के सिद्धांत तथा व्यवहार को प्रतिस्थापित किया है, जिनमें से प्रत्येक साम्राज्य राजनीतिक विस्तार व्यापारिक लाभ की एक जैसी

---

[91]मुक्त ज्ञानकोश विकिपीडिया से https://hi.wikipedia.org/wiki/साम्राज्यवाद# 20 अप्रैल, 2017, 11: 31 AM

[92]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमर नाथ, पृष्ठ सं. 196

लालसा से प्रेरित है। दूसरे इस अर्थ में कि वित्तीय अथवा पूँजी निवेश के हितों ने व्यापारिक हितों की तुलना में प्रमुखता प्राप्त कर ली है।"[93] हालाँकि साम्राज्यवाद अपने परम्परागत स्वरूप में तो अब लगभग समाप्त हो चुका है परन्तु यह अपने एक आधुनिक परिवेश में अथवा परिधान के साथ अभी भी जीवित है। परम्परागत साम्राज्यवादी राज्य, विशेषकर पश्चिमी विकसित राज्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका, अभी भी अपनी नीतियों के द्वारा नये देशों की नीतियों को मनचाहे ढंग से चलाने के लिए प्रयासरत हैं। ये लोग संस्थाओं पर अपने नियंत्रण द्वारा, परोक्ष युद्ध नीति, शस्त्र दौड़ को बढ़ावा देकर, शस्त्र आपूर्ति के द्वारा विदेशी सहायता के माध्यम से, अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में कूटनीति द्वारा तथा कई प्रकार के अन्य दबाव साधनों द्वारा, मानव अधिकारों के रक्षा के नाम पर, परमाणु निरस्त्रीकरण के नाम पर, उदारीकरण और वैश्वीकरण के नाम पर, कम शक्तिशाली या फिर विकासशील देशों पर अपना प्रभुत्व तथा दबदबा बनाये रखने की नीति का अनुसरण कर रहे हैं। इसे नव-साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह साम्राज्यवाद का आधुनिक स्वरूप है।

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद

15वीं16वीं शताब्दी में भौगोलिक अन्वेषण के फलस्वरूप औपनिवेशिक साम्राज्यों का युग आया। इस साम्राज्यवादी युग को दो भागों में बांट कर अध्ययन किया जा सकता है- पुराना साम्राज्यवाद और नवीन साम्राज्यवाद। पुराने साम्राज्यवाद का आरम्भ लगभग 15वीं शताब्दी से माना जा सकता है जब स्पेन और पुर्तगाल ने इस क्षेत्र में कदम बढ़ाया। साम्राज्यवाद का यह दौर 18वीं शताब्दी के अन्त तक चला। स्पेन और पुर्तगाल ने तमाम देशों की खोज कर वहाँ अपनी व्यापारिक

[93]साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था, व्ला. इ. लेनिन, (अनुवाद एवं संपादन-नरेश नदीम), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ सं. 96

चौकियाँ स्थापित की। धीरे-धीरे फ्रांस और इंग्लैण्ड ने भी इस दिशा में कदम बढ़ाया। इंग्लैण्ड का औपनिवेशिक साम्राज्य सम्पूर्ण विश्व में स्थापित हो गया।

19वीं शताब्दी में इस साम्राज्यवाद ने नवीन रूप धारणा किया। 1890 ईस्वी के बाद यूरोप के देशों में साम्राज्यवादी भावना नये रूप में सामने आई। यह नव-साम्राज्यवाद पहले के उपनिवेशवाद से आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से भिन्न था। पुराना साम्राज्यवाद वाणिज्यवादी था, यह भारत हो या चीन अथवा दक्षिण पूर्व एशिया। यूरोपीय व्यापारी स्थानीय सौदागरों से उनका माल खरीदते थे। यूरोपीय राष्ट्रों को राज्य या भूमि की भूख नहीं थी। नव-साम्राज्यवाद के दौर में अब सुनियोजित ढंग से यूरोपीय देश पिछड़े इलाकों में प्रवेश कर उन पर प्रभुत्व जमाने लगे। इन क्षेत्रों में उन्होंने पूँजी लगाई, बड़े पैमाने पर खेती आरम्भ की, खनिज तथा अन्य उद्योग स्थापित किये, संचार और आवागमन के साधनों का विकास किया तथा सांस्कृतिक जीवन में भी हस्तक्षेप किया।

उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद में स्वरूपगत भिन्नता दिखाई पड़ती है। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद से अधिक जटिल है क्योंकि यह उपनिवेशवाद के अधीन रह रहे मूल निवासियों के जीवन पर गहरा तथा व्यापक प्रभाव डालता है। इसमें एक तरफ उपनिवेशी शक्ति के लोगों का, उपनिवेश के लोगों पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक नियंत्रण होता है तो दूसरी तरफ साम्राज्यिक राज्यों पर राजनीतिक शासन की व्यवस्था शामिल होती है। इस तरह साम्राज्यवाद में मूल रूप से राजनैतिक नियंत्रण की व्यवस्था है वहीं उपनिवेशवाद औपनिवेशिक राज्य के लोगों द्वारा विजित लोगों के जीवन तथा संस्कृति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की व्यवस्था है। साम्राज्यवाद के प्रसार हेतु जहाँ सैनिक शक्ति का प्रयोग और युद्ध प्रायः आवश्यक होता है वहीं उपनिवेशवाद में शक्ति का प्रयोग अनिवार्य नहीं होता है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अलग-अलग शब्द होते हुए भी काफ़ी-कुछ परस्परव्यापी और परस्पर-निर्भर पद हैं। साम्राज्यवाद के लिए ज़रूरी नहीं है कि किसी देश

पर कब्ज़ा किया जाए और वहाँ कब्ज़ा करने वाले अपने लोगों को भेज कर अपना प्रशासन कायम करें। इसके बिना भी साम्राज्यवादी केंद्र के प्रति अधीनस्थता के संबंध कायम किये जा सकते हैं। पर उपनिवेशवाद के लिए ज़रूरी है कि विजित देश में अपनी कॉलोनी बसाई जाए, आक्रामक की विजितों बहुसंख्या प्रत्यक्ष के ज़रिये ख़ुद को श्रेष्ठ मानते हुए अपने कानून और फ़ैसले आरोपित किए जाएँ।

उपनिवेशवाद (Colonialism)

उपनिवेशवाद का अर्थ है - किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिए किसी निर्बल किंतु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों का शक्ति के बल पर उपभोग करना। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है, उसे शासन में कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होता। 'उपनिवेशवाद' या Colonialism रोमन भाषा के शब्द 'कोलोनिया' से बना है। कोलोनिया का अर्थ है- रोमन आक्रांताओं द्वारा विजित वह क्षेत्र जहाँ आक्रांताओं ने अपनी नागरिकता को कायम रखते हुए नई बस्तियाँ बनाई।[94] यूरोपीय महाशक्तियों द्वारा ऐसी बस्तियों की स्थापना आठवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों के बीच की गयी। यह उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका से लेकर एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीप तक फैली हुई थी। उपनिवेशवाद पर प्रथम और विस्तृत टिप्पणी मार्क्स तथा एंगेल्स ने की। दोनों ने उपनिवेशवाद विषयक लेख भारत और चीन को केंद्र में रखकर लिखे। मार्क्स और एंगेल्स का विचार था कि उपनिवेशों पर नियंत्रण करना न केवल बाज़ारों और कच्चे माल के स्रोतों को हथियाने के लिए ज़रूरी था, बल्कि प्रतिद्वंद्वी औद्योगिक देशों से होड़ में आगे निकलने के लिए भी आवश्यक था। उपनिवेशवाद संबंधी मार्क्सवादी विचारों को आगे विकसित करने का श्रेय रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग और लेनिन को जाता है।

[94] हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 89

किसी एक भौगोलिक क्षेत्र के लोगों द्वारा किसी दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में उपनिवेश (कॉलोनी) स्थापित करना और यह मान्यता रखना कि यह एक अच्छा काम है, उपनिवेशवाद (Colonialism) कहलाता है। 1453 ई. में तुर्कों द्वारा कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लेने के पश्चात् स्थल मार्ग से यूरोप का एशियायी देशों के साथ व्यापार बंद हो गया। अतः अपने व्यापार को निर्बाध रूप से चलाने हेतु नये समुद्री मार्गों की खोज प्रारंभ हुई। कोलम्बस, मैगलन एवं वास्कोडिगामा आदि साहसी नाविकों ने नवीन समुद्री मार्गों के साथ-साथ कुछ नवीन देशों अमेरिका आदि को खोज निकाला। इन भौगोलिक खोजों के फलस्वरूप यूरोपीय व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस प्रकार यूरोपीय देश अपने व्यापारिक हितों को साधने के लिए उपनिवेशों की स्थापना की ओर अग्रसर हुए और इस प्रकार यूरोप में उपनिवेश का आरंभ हुआ। यूरोप के लोगों ने विश्व के विभिन्न भागों में उपनिवेश बनाये। इसके मुख्य कारण थे -लाभ कमाने की इच्छा, अपने देश की शक्ति का विस्तार साथ ही अपने देश में पायी सजा से बचना, तथा स्थानीय लोगों का धर्म बदलवाकर उन्हें उपनिवेशी के धर्म में शामिल करना। लेकिन वास्तविकता में उपनिवेशवाद का अर्थ था - आधिपत्य (subjugation), विस्थापन एवं मृत्यु। नस्लवाद, युरोकेंद्रीयता और विदेशी-द्वेष जैसी विकृतियाँ उपनिवेशवाद की ही देन हैं। चूंकि उपनिवेश, मातृदेश के साम्राज्य का भाग होता था; अत: उपनिवेशवाद का साम्राज्यवाद से घनिष्ठ संबंध है।

अब यहाँ भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में नव-साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद की व्याख्या तथा परीक्षा जरूरी है। आजकल भूमंडलीकरण को नव-साम्राज्यवाद के संकट के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है। प्रभात पटनायक जैसे विद्वान इस धारणा के प्रबल समर्थक रहे हैं।[95] इस विचार की दार्शनिक पृष्ठभूमि मार्क्स व लेनिन के चिंतन में देखते हैं। मार्क्स ने पूँजीवाद की मृत्यु की कामना करते हुए वर्ष 1848 में अपने ग्रन्थ 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र' में कहा था- "अपने उत्पादों के बाज़ार की तलाश बूर्जुआ को पूरे भूमंडल में दौड़ाती है। इसे अपना नीड़ सर्वत्र बनाना है, इसे हर जगह बसना

[95]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 22

है, इसे अपना संबंध सर्वत्र फैलाना है।"[96] लगभग आज भी पूँजीवाद का चरित्र यथावत बना हुआ है। भूमंडलीकरण को नव-साम्राज्यवाद के रूप में देखने वालों की मान्यता है कि- "भूमंडलीकरण दरअसल पूँजीवाद की तात्कालिक एकछत्रता का उद्घोष है। भूमंडलीकरण और कुछ नहीं पूँजीवादी सर्वव्यापीकरण के रूप में नव-साम्राज्यवाद का नया रूप है। इसका उभार शीत-युद्ध के बाद देखा जा सकता है। यह राज्य प्रणाली के अंतर्गत सक्रिय रहने वाला पुराने किस्म का भूमंडलीकरण साम्राज्यवाद नहीं है; यह अपने स्वरूप व चरित्र में क्रमश: अराजनीतिक, प्रौद्योगिकी-आधारित व राष्ट्र-राज्य को कमजोर बनाने वाला है। उदारीकरण बाज़ार, अर्थ-प्रणाली, विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, जी-8- ये सभी नव-साम्राज्यवाद के टूल्स हैं जो दुनिया के राष्ट्र-राज्य के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप कर रहे हैं।...पुराना साम्राज्यवाद राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह को अपना निशाना बनाया करता था, वहीं नव-साम्राज्यवाद राष्ट्रेतर संगठनों, मसलन-बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से कार्य करता है।"[97]

भूमंडलीकरण से तात्पर्य एक तरह का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा उत्पाद ही नहीं, देश की संस्कृति का विस्तार भी होता है। यह अपने पूँजी और प्रचार - तंत्र के द्वारा हमारे अंदर हमारी अपनी संस्कृति के प्रति हीन भावना पैदा करता है। इस आयात संस्कृति को हमारी संस्कृति पर थोपा जाता है। यह एक तरह से पुनः औपनिवेशीकरण है। यह पश्चिम के विकसित देशों द्वारा मुक्त बाजार के नाम पर तीसरी दुनिया की अर्थ व्यवस्था को लूटने और उसे विकसित होने का सपना दिखाकर मटियामेट करने की साजिश है। प्रभात पटनायक जैसे लोग इसे नये साम्राज्यवाद के संकट के रूप में देखते हैं। वास्तव में यह पूँजीवाद का एकछत्र राज्य है। रजनी कोठारी के अनुसार भूमंडलीकरण से तात्पर्य शीत युद्ध के बाद उभरे एक नये किस्म के साम्राज्यवाद से है। उनका मानना है

[96]कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, मार्क्स, एंगेल्स,पृष्ठ सं. 40

[97]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 23

कि यह एक अराजनीतिक प्रौद्योगिकी आधारित और राष्ट्र राज्य को कमजोर करने वाला एक नव पूँजीवादी सम्राज्य है। वे इसे कॉर्पोरेट पूँजीवाद की संज्ञा देते हैं। यह नव-साम्राज्यवाद अपने साथ उदारीकृत-बाज़ार, अर्थ प्रणाली, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, जी-8 जैसे मजबूत हथियारों को लेकर आया है। इन हथियारों के बदौलत ही भूमंडलीकरण अपना पैर पसार रहा है। भूमंडलीकरण की एक प्रवृत्ति नव-उपनिवेशवाद है। पूँजीवादी देशों के बाज़ार में जब उनके उत्पादों की खपत घटने लगी तब इन पूँजीवादी देशों ने उदारीकरण के नाम पर विकासशील देशों के बाज़ार पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया। इसलिए यह एक प्रकार का 'छद्म उपनिवेशवाद' था।

कुमुद शर्मा उपनिवेशवाद के आंतरिक सच को उद्घाटित करते हुए उसका इतिहास भी प्रस्तुत करती हैं। वह अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण और मीडिया' में लिखती हैं:- "उपनिवेशवाद भूमंडलीकरण के चरित्र का अभिन्न अंग है। शक्तिशाली और संपन्न देशों के बाज़ारों की संतृप्ति के बाद उदारीकरण के मार्ग से शक्तिशाली राष्ट्रों ने विकासशील देशों में अपनी घुसपैठ बढ़ाई। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बढ़ते असामान्य आर्थिक वित्तीय संबन्धों ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक बार फिर उपनिवेशवाद को स्थापित किया; लेकिन यह उपनिवेशवाद आजादी पाने से पूर्व के उपनिवेशवाद से भिन्न है, क्योंकि यह 'छद्म उपनिवेशवाद' है, जो आर्थिक विकास और आर्थिक उदारीकरण के नाम पर चुपके से स्थापित किया जा रहा है। इसका स्वरूप अप्रत्यक्ष है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में शक्तिशाली राष्ट्रों अधिनायकत्व तीसरे विश्व के देशों की राष्ट्रीय राज्यसभा को नकारकर उसकी आर्थिक बागडोर अपने हाथों में लेने की पुरजोर कोशिश कर रहा है। आर्थिक तंत्र पर कब्जा करने के लिए स्थानीय या क्षेत्रीय सांस्कृतिक विरासत को भी मिटाने की मुहिम जारी है। भारत के लिए यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि आजादी पाने के बाद यह अभी औपनिवेशिकता के अवशेष मिटा भी नहीं पाया था कि भूमंडलीकरण के चरित्र का अभिन्न अंग

उपनिवेशवाद 'विश्वग्राम' का नारा उछालते हुए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पुन: प्रवेश पा रहा है। 'इस नव-उपनिवेशवाद' का स्वरूप ऊपर से आक्रामक नहीं दिखता; इसकी आक्रामकता प्रच्छन्न है। यह 'आर्थिक उदारीकरण' के नाम पर सीना तानकर आया है। इसलिए इसके विरुद्ध कोई अभियान या चुनौती नहीं है। इसका मुखौटा तो उदारवादी है, जिसे अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन आदि संस्थाओं से सजाया गया है। अत: इसके पीछे छिपी हुई उपनिवेशवाद की मंशा को पढ़ा जा सकता है।"[98]

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में स्थापित किए जा रहे इस नव-उपनिवेशवाद को बहुराष्ट्रीकरण से मदद मिल रही है। विश्व स्तर पर आर्थिक गतिविधियों का बहुराष्ट्रीकरण राष्ट्रीय राज्यों पर अपना नियंत्रण स्थापित करता जा रहा है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्र राज्यों के राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र पर प्रभुत्व स्थापित करके उस देश के आर्थिक तंत्र को अपने हाथ में लेकर नव-उपनिवेशवाद को फैलाने की तैयारी की जा रही है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ निरंकुश आर्थिक तंत्र को स्थापित करने के अपने उद्देश्य को बड़ी खूबी से अंजाम दे रही हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से विकसित और शक्तिसंपन्न देश अपना आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्य फैलाकर उपनिवेशवाद को स्थापित कर रहे हैं।

भूमंडलीय उपनिवेशवाद को उच्च सूचना प्रौद्योगिकी से भरपूर सहायता मिल रही है। बहुराष्ट्रीय मीडिया कंपनियाँ अपने कार्यक्रमों और विज्ञापनों के माध्यम से विकासशील देशों में उपनिवेशवाद की स्थापना को बल दे रही हैं। इस तरह नव-उपनिवेशवादी समय में सूचना प्रौद्योगिकी और संचार-माध्यम साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ खड़े होकर विकासशील देशों के विरुद्ध उनके अभियान में शामिल हो रहे हैं। उपनिवेशवाद के समाप्त हो जाने के बाद सूचना-क्रांति एक नए किस्म

[98]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 33-34

के उपनिवेशवाद को भारत जैसे देशों पर थोप रही है और हमारी राष्ट्रीय संप्रभुता खतरे में पड़ती जा रही है।

मृदुला गर्ग भी भूमंडलीकरण को प्रच्छन्न उपनिवेशवाद ही मानती हैं। वह अपने लेख 'भूमंडलीकरण यानी प्रच्छन्न उपनिवेशवाद' में इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखती हैं- "आजकल जिसे देखो वह वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण की बात कर रहा है पर हमारी त्रासदी है कि हम अब तक भूमंडलीकरण का अर्थ कॉल सैन्टरों का खुलना, संयुक्त परिवार का टूटना या आपसी रिश्तों में बदलाव जैसी बातें मानते आ रहे हैं। परंतु वैश्वीकरण और उपनिवेशवाद में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। पूँजी का भूमंडलीकरण या विदेश में पूँजी का निवेश और उसके माध्यम से आधिपत्य, शताब्दियों से चला आ रहा है। जो देश निवेश करता, उसका आधिपत्य होता और जिस देश में निवेश किया जाता, वह अधिकृत होता। जब तक निवेश के साथ सैन्य बल का प्रयोग होता रहा, इस प्रक्रिया का नाम उपनिवेशवाद रहा, वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण नहीं। बीसवीं सदी के द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वह युग आया जब राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रभुत्व पर्याप्त हो गया। अब सैन्य बल से संचालित प्रत्यक्ष शासन की अनिवार्यता नहीं रही। तब इस प्रक्रिया का नाम वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण पड़ा। उपनिवेशवाद और इन में अन्तर मात्र इतना था कि अब पूँजी के निवेश की दिशा एकतरफ़ा नहीं रह गई थी। चूंकि मूल निर्धारक आर्थिक सामर्थ्य था, इसलिए अब वे देश भी पूँजी निवेश करने लगे जो आर्थिक रूप से हाल-फिलहाल समर्थ हुए थे। दूसरे शब्दों में, पूँजी निवेश के साथ, आर्थिक प्रभुत्व भी एक देश से दूसरे देश के पास हस्तांरित होने लगा। पूँजी निवेश की दिशा बदलने का सर्वोत्तम उदाहरण जापान है, जिसने अमरीका में पूँजी निवेश कर के, युसिमिटी जैसे उनके प्राकृतिक सम्पदा स्थल को, बकौल जायदाद, खरीद लिया।" वह आगे लिखती हैं कि- "हम हिन्दुस्तानियों से बेहतर उपनिवेशवाद और वैश्वीकरण की समानता को कौन जानता है, जिन्होंने कम्पनी से कम्पनी बहादुर बनी, निवेश की दुकान की हुक़ूमत में, दो शताब्दियां गुज़ारीं। कम्पनी का

कम्पनी बहादुर बनना और फिर ब्रितानी हुक़ूमत में बदलना, मूलतः कोई नया कारनामा नहीं था पर उसका शिल्प ज़रूर नया और अनूठा था। इस बार फ़ौज के हमले से जीत हासिल करके राज करने के पुराने तरीके का, ख़ुद सरकार ने उपयोग नहीं किया था; उसकी इजाज़त से मण्डी ने किया। सरकार ने फ़तेह पर मुहर तब लगाई जब कम्पनी काफ़ी समय तक लूटपाट करके, उसे ख़ूब अमीर बना चुकी थी। पूँजी निवेश के भूमंडलीकरण से उत्पन्न, इससे बड़ी क्षति और क्या हो सकती है कि निवेश प्राप्त करने वाला देश, बाज़ार बनते बनते ग़ुलाम बन जाए। हमारी त्रासदी यह है कि हम ग़ुलामी से निजात पाने के बाद भी मूलतः बाज़ार बने हुए हैं। जब पूँजी का विदेश में निवेश हो पर जानकारी का न हो तो उसके कितने भयानक परिणाम निकल सकते हैं, इसका उदाहरण 1984 में भारत में घटित भोपाल गैस त्रासदी है। यूनियन कारबाईड बहुराष्ट्रीय कम्पनी ने भोपाल में पेस्टसाईड कारखाना लगाया पर वहाँ ठीक किस प्रकार का पेस्टसाईड या ज़हर बनाया जा रहा था। जिसकी जानकारी हमारी सरकार को भी नहीं थी।...यानी बात हम भले भूमंडलीकरण की करें, परंतु हमारी त्रासदी यह है कि हम आज भी औपनिवेशिक मानसिकता में जी रहे हैं।...हमारे वैश्वीकरण का असल रूप अब भी प्रच्छन्न औपनिवेशिकता का है।"[99]

1.9 भूमंडलीकरण: अमेरिकीकरण का पर्याय

भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण का ही परिवर्तित चेहरा माना जाता है। भूमंडलीकरण के केंद्र में एक महाशक्ति (संयुक्त राज्य अमेरिका) एक महामुद्रा (अमेरिकी डॉलर) अमेरिकी उत्पाद और एक खास अमेरिकी जीवन-शैली का विशेष आग्रह दिखाई देता है।[100] भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण की संज्ञा देने वाले विद्वान हैं अमेरिकी विदेश मंत्री हेनरी किसिंजर। हेनरी किसिंजर ने 1966 ई. में

---

[99]लेख-भूमंडलीकरण यानी प्रच्छन्न उपनिवेशवाद, मृदुला गर्ग, http://wwwrachanasamay.blogspot.in/2011/05/blog-post.html

[100]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 25

'वाशिंगटन पोस्ट' समाचार-पत्र के अपने एक लेख में लिखा था कि- "कुछ ही समय में अमेरिकी संस्कृति और विकास मॉडल का वर्चस्व पूरे विश्व में फैल जाएगा।"[101] इसमें अमेरिका के अहंकार की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। इस अवधारणा के अनुसार अब संपूर्ण विश्व के लोगों को अमेरिकी संस्कृति अर्थात् उसके विचारों, मूल्यों और जीवन-शैली को स्वीकार करने के अलावा किसी के पास कोई विकल्प ही नहीं रह गया है। न्यूयार्क टाइम्स के एल. फीडमैन घोषणा करते हैं कि "हम अमेरिकी गतिशील विश्व के समर्थक हैं, खुले बाज़ार के पैरोकार हैं और उच्च तकनीकी के पुजारी हैं। हम अपने मूल्यों और पिज्जा हट-दोनों का विस्तार चाहते हैं। हम चाहते हैं कि विश्व हमारे नेतृत्व में रहे और लोकतांत्रिक और पूँजीवादी बने, प्रत्येक पात्र में वेबसाइट हो, प्रत्येक के होंठो पर पेप्सी हो, प्रत्येक कंप्यूटर में माइक्रोसॉफ्ट विंडोज़ हो।"[102]

अमेरिकी गर्व से उन्मत्त इन विद्वानों के अतिरिक्त आलोचकों तथा विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अमेरिकी प्रभाव को देखते हुए अमेरिकीकरण से सहमत नहीं हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज़ का मानना है कि- "भूमंडलीकरण के द्वारा अमेरिका 'वाशिंगटन आम राय' को लैटिन अमेरिकी और बाद में तीसरी दुनिया के देशों में निर्लज्जता से थोपने का प्रयास कर रहा है।"[103] लगभग इसी बात को डॉ. पुष्पपाल सिंह अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास' में कुछ इस तरह कहते हैं- "भूमंडलीकरण की निसर्ग प्रक्रिया में श्रेयस्कर यह था कि विश्व के समस्त देश, उनकी संस्कृतियाँ, एक-दूसरे को प्रभावित करते, एक-दूसरे का श्रेष्ठ ग्रहण करते किंतु वास्तविकता यह है कि यह प्रक्रिया मात्र पश्चिमीकरण बनकर रह गयी है और भी दो-टूक कहें तो वह पश्चिमीकरण भी नहीं है अपितु मात्र 'अमेरिकीकरण' बनकर रह गया है।"[104] यह सच भी है वास्तव में

---

[101]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 17

[102]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 25

[103]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 26

[104]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 17

सोवियत संघ के विघटन के बाद अमेरिका का पूरी दुनिया पर लगभग एकक्षत्र राज्य स्थापित हो गया। मौजूदा भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत भी लगभग इसी समय से मानी जाती है। डॉ. अमरनाथ के शब्दों में 'यह (भूमंडलीकरण) शब्द बीसवीं सदी के अंतिम दशक में व्यापक रूप में प्रयोग में आया। 1990 ई. में सोवियत संघ के विघटन के बाद जब दुनिया एक ध्रुवीय हो गयी और अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने दुनिया के, खासतौर पर तीसरी दुनिया के बाज़ार पर कब्ज़ा ज़माना शुरू किया तो इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।[105] वह आगे लिखते हैं कि- इस समय बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कारोबार पूँजी की विकरालता के कारण राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़कर दुनिया में फ़ैल रहा है और फैलकर अपना खेल खेलने के लिए सारी परंपरागत सीमाओं, बंधनों, नियमों, कानूनों, मर्यादाओं को तोड़ रहा है। यही है भूमंडलीकरण।[106]

वैश्वीकरण, जिसे भूमंडलीकरण भी कहा जाता है, आर्थिक स्तर पर विश्वबाज़ार और परिणामस्वरूप विश्वग्राम का स्थापक है, जिसका लाभार्थी अमेरिका है, राजनैतिक स्तर पर वह दुनिया को क्रमश: एक सिस्टम के भीतर रखने या अनुरूप बनाने का साधन है, चाहे वह शांतिपूर्ण ढंग से हो या हथियार के प्रयोग से, जिसका प्रतिदर्श अमेरिका और हद -से -हद पश्चिमी यूरोप है, जिसके प्रतिरोध में आतंकवाद और राष्ट्रीयताएं उठ खड़ी हो रही हैं; और संस्कृति के स्तर पर वह दुनिया को एक नियमानुवर्तिता, कहें एकरूपता में रचने का प्रयत्न है, तो दूसरी तरफ़ अस्मिता के नाम पर बहुलता को बढ़ावा देना है, जिससे की राष्ट्रीयताएं और मतांतर इतने बलवती न हो जाएँ कि वे अमेरिकी वर्चस्व का मुक़ाबला करने लगे।[107] इतना स्पष्ट है कि वैश्वीकरण का संबंध सीधे-सीधे आधुनिकीकरण से है और आधुनिकीकरण निश्चय ही पश्चिमी अवधारणा है। वैश्वीकरण का मतलब है पश्चिम की

---

[105] हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ-सं. 258

[106] हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 258

[107] लेख-वैश्वीकरण का समाजशास्त्र, श्रीप्रकाश मिश्र, नया ज्ञानोदय, अंक 127, सितंबर 2013, संपा. रवीन्द्र कालिया, पृष्ठ सं. 14

संस्कृति का प्रसरण, उसमें भी पूँजीवादी समाज का। आज चूंकि पश्चिमी समाज के केंद्र में संयुक्त राज्य अमेरिका है, इसलिए वैश्वीकरण का मतलब है अमेरिका का विश्वव्यापी विस्तार।[108] डॉ.पुष्पपाल सिंह ने इन्हीं थोपी जा रही संस्कृति के विषय में लिखा है कि- "यह वैश्वीकरण एक प्रकार से पूरी दुनिया का अमेरिकीकरण है जो सारे राष्ट्रों की स्थानिक संस्कृति, जातीय चेतना को पूरी तरह लील कर अपने रंग में रंग डालने की बड़ी भारी सफल कूटनीति है जिसके कारण पूरा विश्व उसकी चपेट में आ चुका है।[109]

इस प्रकार यदि देखा जाय तो वाकई में आज दुनिया एकध्रुवीय हो गयी है और इस ध्रुव का केंद्र-बिन्दु अमेरिका है। वास्तव में यह एक प्रकार से अमेरिका तथा अमेरिकी संस्कृति की दिग्विजय है। डॉ. पुष्पपाल सिंह के शब्दों में- "वस्तुत: भूमंडलीकरण मूलत: एक आर्थिक नियमन की व्यवस्था के रूप में अस्तित्व में आया किंतु इसके बाजारवादी पक्ष ने इसे सांस्कृतिक रूपांतरण की प्रक्रिया में डाल दिया। इस प्रकार अवधारणात्मक रूप में इसके दो पक्ष हैं आर्थिक तथा सांस्कृतिक पक्ष। किंतु ऐसा नहीं है कि ये दोनों पृथक-पृथक संभाग हैं, ये एक-दूसरे से अंतर्ग्रथित हैं। उत्पादों के लिए बाज़ार की तलाश और उसके लिए विज्ञापन के मायावी जगत् द्वारा टी. वी. के पर्दे के उपयोग ने समस्त विकासशील देशों की संस्कृति को अमेरिकी संस्कृति में ढाल देने की सतत प्रक्रिया प्रारंभ कर दी।"[110]

निष्कर्षत: भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण मानने का तर्क उचित और तर्कसंगत नहीं लगता है। हालांकि यह सच है कि विश्व-राजनीति में अमेरिका के बढ़ते प्रभाव, संयुक्त राष्ट्र संघ, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन में अमेरिका की महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका और संपूर्ण विश्व के बाज़ारों में अमेरिका के सामानों तथा उत्पादों की उपस्थिति से भरसक हमें अमेरिकीकरण का एहसास होता है, लेकिन इसे सिर्फ अमेरिकीकरण कह देना एकदम से उचित नहीं

---

[108]लेख-वैश्वीकरण का समाजशास्त्र, श्रीप्रकाश मिश्र, नया ज्ञानोदय, अंक 127, सितंबर 2013, संपा. रवीन्द्र कालिया, पृष्ठ सं. 15

[109]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 7

[110]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 17-18

जान पड़ता। भूमंडलीकरण को सिर्फ अमेरिकीकरण मान लेना यह इसका एक घातक अति-सरलीकरण व सामान्यीकरण होगा।

1.10 भूमंडलीकरण के विविध-आयाम

जैसा कि स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण एक जटिल और बहुआयामी परिघटना है। यह कोई नई अवधारणा या प्रक्रिया न होकर एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। वर्तमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की प्रवाहमयता और अत्यधिक तीव्र निरंतर गतिशीलता उसे पहले की प्रक्रियाओं से अलग करती है। इस प्रकार से इसकी प्रमुख विशेषता हुई तीव्र गतिशीलता तथा प्रवाह। भूमंडलीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित कर रही है। वर्तमान समय में आज शायद ही ऐसा कोई सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र होगा जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से अछूता हो। पुष्पेश पंत के अनुसार- "वस्तुतः वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण पर्यायवाची पद हैं। दोनों का अर्थ एक ही है। भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण पद की व्याख्या करना बहुत कठिन है। क्योंकि वस्तुतः बहुत स्पष्ट तथा सर्वमान्य नहीं होने के कारण वैश्वीकरण एक बहुअर्थीय अवधारणा है। यह एक ऐसा बहुआयामी विषय है जिसके अंतर्गत आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी पक्ष आते हैं। मानवाधिकार हो, पर्यावरण, लिंग न्याय या जनतंत्र, अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती हो या टेक्नोलाजी का अभूतपूर्व प्रसार सभी बुनियादी तौर पर भूमंडलीकरण से जुड़ जाते हैं।"[111] वस्तुत: भूमंडलीकरण के मुख्यत: तीन पक्ष या आयाम हैं- आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक; और तीनों आपस में जुड़े हुए हैं। इसमें सर्वप्रमुख है आर्थिक आयाम जो वाणिज्य, निवेश, उत्पादन और पूँजी प्रवाह से संबन्धित है। हालाँकि कुछ लोग भूमंडलीकरण को सिर्फ आर्थिक परिघटना मानते हैं। तो वहीं कुछ लोगों को सिर्फ इसका सांस्कृतिक पक्ष ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई दिया है। लेकिन

[111]भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत (पुस्तक की भूमिका से साभार), पृष्ठ सं. 1

वास्तविकता यह है कि भूमंडलीकरण के आर्थिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ भूमंडलीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य आपस में जुड़े हुए हैं और आज के मौजूदा समय में इन तीनों आयामों का अपना विशिष्ट महत्व भी है। हालाँकि यह सच है कि भूमंडलीकरण मूलत: एक आर्थिक नियमन की व्यवस्था के ही रूप में अस्तित्व में आया था लेकिन इसके बाजारवादी दृष्टिकोण ने इसे सांस्कृतिक रूपान्तरण की प्रक्रिया में पहुंचा दिया। कुलमिलाकर भूमंडलीकरण न तो सिर्फ आर्थिक परिघटना है और न ही सांस्कृतिक। बल्कि यह एक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी आदि का एक सम्मिलित रूप है। भूमंडलीकरण की नीतियों के विवेचन और विश्लेषण के पश्चात मुख्य रूप से यही तीन पक्ष या आयाम आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक उभरकर सामने आते हैं।

भूमंडलीकरण के आर्थिक आयाम के अंतर्गत प्रमुख बात यह है कि एक विश्व अर्थतंत्र और विश्व बाज़ार का निर्माण भूमंडलीकरण का लक्ष्य है जिससे प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था को जुड़ना होगा। पहले गैट (GATT-General Agreement on Tariffs and Trade) अर्थात् शुल्क तथा व्यापार पर सामान्य समझौते के जरिये यह प्रक्रिया चलायी जा रही थी, लेकिन अब उसका स्थान W.T.O (WORLD TRADE ORGANIZATION) अर्थात् विश्व व्यापार संगठन ने ले लिया है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक एक प्रकार से ये ही वे महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं जो इस प्रक्रिया को हमेशा से बढ़ावा देती रही हैं।

राजनीतिक आयाम के अंतर्गत यह है कि दुनिया की राजनीति को इसी विश्व अर्थतंत्र और विश्व बाज़ार की जरूरतों के अनुसार लगातार संचालित होते रहना है। अमेरिका और पश्चिमी देशों या यों कहें कि विकसित देशों जैसे उदाहरण के तौर पर G-8 (अमेरिका, जापान, जर्मनी, कनाडा, इटली, फ्रांस, रूस व यूनाइटेड किंगडम) का आपस में गठजोड़ राजनीतिक आयाम का ही एक विशिष्ट पहलू है।

सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम के अंतर्गत मुख्य बात यह है कि सूचना और संचार के अतिआधुनिक उपकरणों (कम्प्यूटर, इंटरनेट, मोबाईल आदि) के माध्यम से दुनिया में राष्ट्रों, समुदायों, संस्कृतियों और व्यक्तियों के बीच की दूरी को कम से कमतर करना।[112] जिससे कि एक विशेष प्रकार की भूमंडलीय संस्कृति का निर्माण हो सके। भूमंडलीय संस्कृति का निर्माण भूमंडलीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम को दर्शाता है। लेकिन विडम्बना यह है कि इस भूमंडलीय संस्कृति के केंन्द्र में आज नागरिक न होकर भूमंडलीय उपभोक्ता हैं। और इस भूमंडलीय संस्कृति के ऊपर अमेरिकी सांस्कृतिक मुहावरा बुरी तरह हावी है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के यही तीन प्रमुख आयाम हैं।

1.10.1 आर्थिक आयाम

भूमंडलीकरण के आर्थिक आयाम के अंतर्गत यह जरूरी है कि प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्थाओं का आपस में सम्मिलन हो। जिससे एक विश्व अर्थतंत्र का निर्माण किया जा सके। भूमंडलीकरण का आर्थिक आयाम यह आभास कराता है कि यह विकसित व विकासशील देशों के समानतामूलक संबंध पर आधारित है, लेकिन विश्व की अभूतपूर्व आर्थिक असमानता को देखते हुए हम टायनबी के इस उद्धरण से सहमत होने को बाध्य होते हैं कि ‘भूमंडलीकरण एक बहुस्तरीय प्रक्रिया न होकर एक प्रभुत्वशाली केंद्र का घटक बन जाने का नाम है।’ ग्लोबल पूँजीवादी अर्थनीति में आवारा पूँजी निर्णायक भूमिका अदा कर रही है जिसमें मुख्य रूप से बहुराष्ट्रीय कंपनियों कि तूती बोलती है।[113] भूमंडलीकरण के अपने आर्थिक सिद्धांत हैं, जिनमें निजीकरण और उदारवाद जैसे सिद्धांत प्रमुख हैं। इसमें यह महत्वपूर्ण है कि बिना राज्य प्रतिबंध के विश्व में मुक्त व्यापार प्रणाली हो। मुक्त व्यापार प्रणाली भी ऐसी हो कि जिसमें व्यापारिक प्रतिष्ठानों को बिना किसी कारण के व्यापार करने का

---

[112]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 439

[113]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 32

अधिकार हो। मुक्त व्यापार से अन्य देशों से पूँजी, नवीनतम प्रौद्योगिकी और मशीनों का आगमन हो रहा है। जो किसी भी देश के विकास के लिए महत्वपूर्ण साबित हो रहा है। भूमंडलीकरण का आर्थिक सिद्धांत सरकारों को संसाधनों का निजीकरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है जिससे लाभ कमाने की दृष्टि से संसाधनों का शोषण होता है और कुछ लोगों के हाथों में पैसा इकट्ठा हो जाता है। निजीकरण उन लोगों को भी वंचित रखता है जो इन संसाधनों का उपभोग करने के लिए खर्च करने की क्षमता नहीं रखते। प्रसिद्ध विचारक जितेंद्र भाटिया के अनुसार- 'आर्थिक सुधार', सांस्कृतिक पुनरुत्थान', 'उदारीकरण' आदि कुछ ऐसे सकारात्मक शब्द हैं जो विश्व के नये विधान की पैरवी में बार-बार इस्तेमाल होते हैं। इन शब्दों से लगातार यह अहसास दिलाया जाता है कि वैश्वीकरण एक जरूरी आर्थिक प्रक्रिया है जिसके बगैर इक्कीसवीं सदी में मानव जाति का कल्याण संभव नहीं है।[114]

1.10.2 राजनीतिक आयाम

भूमंडलीकरण में राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति को ग्लोबल अर्थनीति प्रभावित करने लगी है। राज्य का स्थान बाज़ार की शक्तियाँ लेने लगीं हैं। अर्थात् आर्थिक आयाम जिस विश्व अर्थतंत्र के निर्माण की बात करता है राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति को इसी विश्व अर्थतंत्र के माध्यम से संचालित किया जा रहा है। जिसमें विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, गैट या विश्व व्यापार संगठन बखूबी अपनी भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं। जिससे राज्य की शक्ति का क्षय हो रहा है। भूमंडलीकरण ने समूचे विश्व में हाशियाकरण को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया है। राज्यों को नियंत्रित करने वाली जनता की शक्ति पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उसके समर्थक लॉबी का अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है भले ही वे किसी भी देश का राजनीतिक नेतृत्व हो या फिर किसी भी देश का समृद्ध आर्थिक प्रतिष्ठान।[115]

---

[114]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 55

[115]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 33

1.10.3 सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

भूमंडलीकरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों की अभिव्यक्ति संपूर्ण विश्व में दो रूपों में दिखाई देती है। विकसित व विकासशील दोनों ही देशों का एक बड़ा वर्ग उपभोक्तावाद के आकर्षण में भ्रमित है। भौतिकवाद की अंधी दौड़ में प्रत्येक मनुष्य मात्र एक आर्थिक मनुष्य और अतृप्त उपभोक्ता मात्र बनकर रह गया है। और इस क्रम में वे परिवार एवं समाज से धीरे –धीरे दूर होते जा रहे हैं। यह एक प्रकार से जड़विहीन होते जा रहे हैं। सांस्कृतिक असहिष्णुता व वैचारिक कट्टरता भूमंडलीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव की दूसरी अभिव्यक्ति है।[116] भूमंडलीकरण ने पारिवारिक संरचना को भी बदला है। जिससे पारिवारिक विघटन की समस्या पैदा हो गयी है। अतीत में संयुक्त परिवार का चलन था। अब इसका स्थान एकल परिवार ने ले लिया है। हमारी खान-पान की आदतें, हमारे परिधान, त्योहार, समारोह भी काफी बदल गए हैं। फास्ट-फूड रेस्तरांओं की बढ़ती संख्या और कई अंतरराष्ट्रीय त्योहार भूमंडलीकरण के प्रतीक हैं। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप समाज व समुदायों के अपने संस्कार, परम्पराएँ और मूल्य भी परिवर्तित हो रहे हैं। इस प्रकार भूमंडलीकरण के राजनीतिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव को संपूर्ण विश्व में देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण हमारे जीवन के सभी पक्षों आंतरिक तथा बाह्य दोनों को बहुत ही व्यापक स्तर पर प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का प्रभाव भारतीय जनमानस पर इस कदर हुआ है कि आज वह इसके बिना किसी भी चीज़ की कल्पना भी नहीं कर सकता। भारत शुरू से ही एक कृषि प्रधान तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला देश रहा है। यहाँ के प्रत्येक नागरिक को अपनी सभ्यता और संस्कृति से बहुत प्रेम और लगाव रहा है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता ही रही है विभिन्नता में एकता। यहाँ विभिन्न धर्मों एवं विभिन्न संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं लेकिन फिर भी उन सभी में आपसी

[116]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 33

सौहार्द्र तथा परस्पर समभाव और एकता की भावना है। हमारी प्राचीन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना इसी प्रकार की भावना से प्रेरित एक विशिष्ट संकल्पना थी। जिसमें संसार के समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना की गयी थी। लेकिन भूमंडलीकरण के 'ग्लोबल विलेज' की धारणा सिर्फ एक छलावा है। इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी कोई भावना नहीं है। फिर भी भूमंडलीकरण और सूचना-संक्रांति के इस युग ने हमें बहुत कुछ दिया है। यह सच है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप यदि हमने कुछ पाया है तो बहुत कुछ अपना खोया भी है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के साम्य पक्ष भी हैं तो उसके वैषम्य पक्ष भी हैं। जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर बहुत ही व्यापक स्तर पर पड़ रहा है। इसलिए इसके साम्य-पक्ष या सकारात्मक-पक्ष का स्वागत हो रहा है तो वहीं इसके नकारात्मक-पक्ष यानी वैषम्य-पक्ष का विरोध भी हो रहा है।

अध्याय-2

भूमंडलीकरण : भारतीय परिप्रेक्ष्य

2.1 भूमंडलीकरण का भारतीय परिदृश्य

2.2 'वसुधैव कुटुम्बकम्', विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज़) तथा भूमंडलीकरण

2.3 भूमंडलीकरण का साम्य एवं वैषम्य पक्ष

2.4 भूमंडलीकरण तथा भारतीय समाज एवं साहित्य

2.5 भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य

2.5.1 भूमंडलीकरण और हिंदी कविता

2.5.2 भूमंडलीकरण और हिंदी कथा साहित्य

2.5.3 भूमंडलीकरण और हिंदी कहानी

2.5.4 भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास

अध्याय-2

भूमंडलीकरण : भारतीय परिप्रेक्ष्य

2.1 भूमंडलीकरण का भारतीय परिदृश्य

भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत उस समय से हुई जब वर्ष 1991 में नई आर्थिक नीति की घोषणा की गई। वर्ष 1991 में भारतीय अर्थव्यवस्था एकदम से चरमरा गई थी। भारतीय अर्थव्यवस्था की बदहाली का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उस समय भारत का विदेशी मुद्रा भंडार पूरी तरह खाली हो चुका था। भारतीय रिजर्व बैंक के पास सिर्फ दो सप्ताह के आयात का बिल चुकाने लायक ही विदेशी मुद्रा बची थी। इतना ही नहीं कोई भी देश या अंतरराष्ट्रीय निवेशक भारत में निवेश ही नहीं करना चाहता था। ऐसे हालात में भारत अंतरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (IBRD) जिसे विश्व बैंक के नाम से भी जाना जाता है और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शरण में गया। इस समय उसने देश को 7 बिलियन डॉलर का ऋण इस संकट का सामना करने के लिए दिया। किंतु इस ऋण के लिए इन संस्थाओं ने भारत पर कुछ शर्तें थोपीं; जिसमें भारत उदारीकरण करेगा तथा निजी क्षेत्रों पर लगे प्रतिबंधों को हटाएगा। भारत सरकारी हस्तक्षेप कम करेगा। तथा अन्य देशों के साथ विदेशी व्यापार संबंधी लगे प्रतिबंधों को समाप्त करना शामिल था। भारत ने इन संस्थाओं द्वारा थोपी गयी सभी प्रकार की शर्तों को मान लिया और नई आर्थिक नीति की घोषणा की। इस नई आर्थिक नीति के अंतर्गत व्यापक स्तर पर आर्थिक सुधारों को शामिल किया गया। यह भारतीय अर्थव्यवस्था को नए सिरे से नियंत्रित करने तथा उसे बदहाली से मुक्ति दिलाने के लिए जरूरी भी था। इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यापक स्तर पर परिवर्तन किया गया और उसे विश्व की अन्य अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ने की नीति का क्रियान्वयन किया गया। इस प्रकार से उदारीकरण तथा निजीकरण को प्रोत्साहन

देते हुए तत्कालीन वी. पी. नरसिंह राव सरकार ने इस नई आर्थिक नीति की आधारशिला रखी। 24 जुलाई, 1991 को संसद में जो केंद्रीय बजट की प्रस्तुति हुई उसी के साथ भारत के भूमंडलीकरण की शुरुआत भी हुई। भारत की यह नई आर्थिक नीति उदारवाद तथा इसके सिद्धांतों पर आधारित थी। जिसमें उदारीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप निजीकरण और बाजारवाद को प्रोत्साहन दिया गया। अभय कुमार दुबे ने अनुसार- "24 जुलाई, 1991 को संसद में जो केंद्रीय बजट पेश किया गया, जिसमें एक ऐसे अर्थतंत्र का आकार-प्रकार बनना शुरू हुआ जो राजनीति से नियंत्रित होने के बजाय उसे नियंत्रित करने की इच्छा से लैस था। चार दशक से ज्यादा की अवधि में जिस राष्ट्रीय राजनीतिक-सामाजिक संस्कृति की रचना हुई थी, एक पल में उसकी बागडोर ऐसे हाथों में चली गयी जो शुद्ध रूप से भारतीय नहीं थे। यह भारत के ग्लोबलाइजेशन यानी भूमंडलीकरण की शुरुआत थी।"[117]

इस परिघटना को कई तरीके से अभिव्यक्त किया गया। किसी ने इसे जगतीकरण की संज्ञा दी, तो किसी ने इसे वैश्वीकरण या ग्लोबीकरण कहा। बांग्ला में इसे विश्वायन कहा गया। मार्क्सवादियों ने इसे पूँजीवादी सर्वव्यापीकरण के रूप में पेश करते हुए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दायरे में इसके खिलाफ व्यूह रचना का ऐलान किया। इसमें (भूमंडलीकरण) गाँव की जगह शहर और नागरिक की जगह उपभोक्ता की सत्ता को अंतिम तौर पर स्थापित करने का आग्रह था।

बहरहाल, यह परिघटना इतनी व्यापक थी कि जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं रह सका। भारत के पुराने राष्ट्रवादी पूँजीपतियों से लेकर सूचना प्रौद्योगिकी के व्यवसाय से बने नए उद्योगपतियों तक; पब्लिक सेक्टर की चौधराहट के तले पनपे नौकरशाहों और सत्तारूढ़ रहने की आदत डाल चुके राजनेताओं से लेकर विपक्ष और असहमति की राजनीति में रचे-बसे राजनीतिक दलों और जनपक्षीय आंदोलनकारियों तक; पिछड़ी जातियों, महिलाओं, शहरी गरीबों और दलितों के हितों में सोचने वालों से लेकर मार्क्सवादियों, नक्सलवादियों, आधुनिकता के आलोचकों, नागरिक

[117]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 21

अधिकारवादियों, गाँधीवादियों और पर्यावरणवादियों तक को इस परिघटना के पक्ष-विपक्ष में राय बनानी पड़ी।

वस्तुतः पहली नजर में लगता है कि भूमंडलीकरण का यह पल अचानक कहीं से आया और हम पर हावी हो गया। लेकिन, असल में इस लम्हे के लिए धीरे-धीरे कई साल से राष्ट्रातीत और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक जमीन पक रही थी। यह पल तब आया जब साकार राष्ट्र की वैकासिक आधुनिकता अपने वायदों को पूरा करने में पूरी तरह नाकाम हो गयी। यानी भारतीय रिजर्व बैंक के पास केवल दो हफ्ते के आयात का बिल चुकाने लायक विदेशी मुद्रा ही रह गयी। यह पल तब आया जब जनता का विशाल बहुमत पाने वाली सरकारें कई बार पाँच साल तक जन-वैधता के साथ शासन चलाने में नाकाम हो गयी, और केंद्र में अल्पमत की गठजोड़ सरकारें बनने लगीं। यह तब हुआ जब अस्सी के दशक में ही अनिवासी भारतीय (एन. आर. आई) नामक शै की राष्ट्रीय विकास और गौरव में हिस्सेदारी वैध मान ली गयी। यह पल तब आया जब गरीबों को संगठित करके क्रान्ति करने का दावा करने वाले कम्युनिस्ट अपनी नाकामियों से सबक सीखने के लिए तैयार नहीं हुए और उन्होंने दलितों, असंगठित क्षेत्र के मजदूरों और पिछड़ी जातियों को मजदूर वर्ग की अपनी परिभाषा में शामिल करने से इंकार कर दिया। यह पल तब आया जब भारतीय अभिजनों ने स्वीकार कर लिया कि उनकी आधुनिकता उन्नीसवीं सदी की ब्रिटिश वर्चस्व वाली आधुनिकता में सीमित न रहकर अमेरिकी ठप्पे वाली उत्तेजक और इंस्टेंट आधुनिकता के लिए तैयार बैठी है। अर्थात् भारतीय अभिजन अपने पश्चिमीकरण को अमेरिकीकरण के रूप में देखने के लिए तैयार हो गये। यह पल तब आया जब दुनिया के पैमाने पर गैर-पूँजीवादी वर्चस्व बनाने की कोशिशें करने वाला सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप का समाजवादी शीराज़ा बिखर गया।[118]

---

[118]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 24

जो लोग मिश्रित अर्थव्यवस्था की लगातार वायदाखिलाफी से आजिज़ आ चुके थे, उन्होंने इस अर्थनीति के पुराने विरोधियों के साथ मिलकर ऐलान किया कि अगर 15 अगस्त राजनीतिक आजादी का दिन माना जाएगा तो 24 जुलाई को आर्थिक आजादी का प्रतीक समझा जाना चाहिए। इन लोगों ने यह दावा किया कि 24 जुलाई, 15 अगस्त को कमजोर नहीं, बल्कि और मजबूत कर रही है। यहीं से विवाद की शुरुआत हुई, क्योंकि यह आर्थिक आजादी परमिट-कोटा राज खत्म करके एक ऐसा निजाम बनाने की कोशिशभर नहीं थी, जिसमें राष्ट्र और उसके नागरिकों के लाभ का आग्रह सर्वोपरि होता। इस आर्थिक आजादी का मतलब यह था कि न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व बाज़ार के साथ जुड़ते चले जाना है वरन् भारतीय वित्तमंत्री को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के दफ्तर में जा कर अपने कामों का हिसाब भी देना है। उसे अंतरराष्ट्रीय रेटिंग एर्जेंसियों द्वारा दी गयी सनद का मोहताज रहना है। इसका मतलब यह भी था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को धीरे-धीरे अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के रहमो-करम पर निर्भर होते चले जाना है। इसका मतलब यह भी था कि भारतीय विदेश मंत्री को अमेरिकी विदेश मंत्रालय और यूरोपीय संघ के कारकुनों से अच्छे चाल-चलन का प्रमाण पत्र हासिल करते रहना है। इसका मतलब यह भी था कि हमें अपने सामाजिक-आर्थिक जीवन के गठन के लिए एंग्लो अमेरिकी कॉरपोरेट मॉडल को आदर्श मान लेना है।

इसका मतलब यह भी था कि विविधताओं और बहुलताओं की प्रतीक भारतीय संस्कृति को उस भूमंडलीय संस्कृति के बुलडोजर के नीचे से गुजरना है जिसे हेनरी किसिंजर ने बड़े दर्प से अमेरिकीकरण का नाम दे रखा है। इसका मतलब यह भी था कि 'भूमंडलीकरण के प्रवाह में बहने के अलावा कोई चारा नहीं है'- जैसे खयाल को आखिरी तौर से मान लेना और साथ में यह भी मान लेना कि दुनिया का भविष्य राष्ट्र आधारित लोकतंत्रों में निहित न होकर किसी 'ग्लोबल गवर्नेंस' और 'ग्लोबल डेमोक्रेसी' की शीर्ष- संरचना में निहित है। इन सब बातों का बिना किसी विरोध या

वैकल्पिक पेशकश के मान लेने का अर्थ यह था कि पिछले दशकों में जिस साकार राष्ट्र की रचना भारतीयों के सामूहिक उद्यम से हुई थी, उसे एक बेरोकटोक निराकार यात्रा पर रवाना कर देना। यह यात्रा निराकार इस अर्थ में थी कि इसकी मंजिल न केवल भारतीय राष्ट्र की सीमाओं से बाहर थी, बल्कि यह भारतीय इतिहास के किसी मुकाम के तर्कसंगत विकास से भी जुड़ी नहीं थी। इस यात्रा का मतलब था भारत को उसे एक ऐसे राष्ट्रातीत निजाम का अंग बना देना जो न भारतीय संसद के प्रति जवाबदेह है न भारतीय नागरिकों के प्रति।

भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत ने अपनी भागीदारी की घोषणा 1991 में दर्ज़ की। जब विदेशी मुद्रा संकट के कारण कांग्रेस की वी. पी. नरसिंह राव सरकार ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज़ लिया। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी द्वारा निर्देशित ढांचागत समायोजन कार्यक्रम अपनाने का निर्णय किया गया, जिसका मतलब था लोकहितकारी राज्य की संरचना को बदल कर आयात प्रतिस्थापन की जगह निर्यातोन्मुख विकासनीति पर आधारित बाज़ारोन्मुख नीतियाँ अपनाना, बड़े पैमाने पर निजीकरण का कार्यक्रम चलाना, विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने वाली नीतियाँ बनाना, लाइसेंस-परमिट राज खत्म करके वाणिज्य और उद्योग नीति में भारी बदलाव करना। राव सरकार के इस रवैये की अभिव्यक्ति नई उद्योग नीति में हुई जिस पर अमल 24 जुलाई की सुबह की गयी इसकी घोषणा और इसी दिन दोपहर के बाद संसद में पेश किए गए सालाना बजट से शुरू हुआ। गुरुचरण दास ने अपनी पुस्तक 'इंडिया अनबाउंड' में भूमंडलीकरण की शुरुआत की यह कहानी बड़े दिलचस्प अंदाज में बयान की है। दास के अनुसार 21 जून, 1991 को नरसिंह राव सरकार ने शपथ ली और अगले दिन राष्ट्र को बताया की आर्थिक संकट की तलवार सिर पर झूल रही है। उनके वित्तमंत्री मनमोहन सिंह ने पहला कदम यह उठाया कि रिजर्व बैंक के गवर्नर एस. वेंकिटरामन से विदेशी मुद्रा कोष के बारे में रपट माँगी जिससे पता चला कि भारत के पास केवल दो हफ्ते के आयात का बिल चुकाने लायक क्षमता रह गयी है। यानी देश दिवालिया होने की कगार पर खड़ा है। राव ने प्रमुख विपक्षी नेताओं की एक

कमरा बंद बैठक बुलाई और उन्हें बताया कि मुद्रा कोष से कर्ज़ लेने के अलावा अब कोई चारा नहीं है। पिछली सरकार यानी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय जनता पार्टी के संयुक्त समर्थन से चलने वाली विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार पहले से ही मुद्रा कोष से इस तरह बातचीत चला रही थी। राव ने विपक्ष से समर्थन माँगा कि वे अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए कुछ कड़े कदम उठाना चाहते हैं, हालाँकि उन्होंने यह नहीं बताया कि इन कड़े कदमों में रुपये का अवमूल्यन भी शामिल है।

बहरहाल, जुलाई के पहले तीन दिनों में रुपये का दो चरणों में बीस फीसदी अवमूल्यन किया गया। नए वाणिज्य मंत्री पी. चिदंबरम की हिचकिचाहट के बाद भी निर्यात सब्सिडी खत्म करने का निर्णय लिया गया। उन दिनों मनमोहन सिंह और चिदंबरम रात-रात भर काम करते थे। मोंटेक सिंह अहलूवालिया और डी. आर. मेहता की मदद से चिदंबरम ने सुबह सात बजे तक काम करके नयी वाणिज्य नीति बना डाली। मनमोहन सिंह इसे देखकर बहुत खुश हुए और सुबह नौ बजे ये दोनों मंत्री प्रधानमंत्री के बंगले पहुँचे। नरसिंह राव स्नान करने के बाद लुंगी पहने हुए थे। उसी हालत में उन्होंने चिदंबरम के मुँह से पूरा ब्यौरा सुना और मनमोहन से पूछा कि क्या वे इससे सहमत हैं। जैसे ही वित्तमंत्री ने हाँ में जवाब दिया, राव ने उस प्रस्ताव पर दस्तख़त करने को कहा। उसके नीचे प्रधानमंत्री ने हस्ताक्षर कर दिये। वाणिज्य नीति का मोर्चा मार लेने के बाद राव को नई उद्योग नीति पेश करने से पहले राजनीतिक असंतोष के अंदेशे का सामना करना पड़ा। नई नीति पर राव ने अपनी मंत्रि परिषद से सहमति माँगी पर उन्होंने देखा कि कांग्रेस के पुराने नेता इस प्रस्ताव को लेकर शंकित हैं। इस पर उन्होंने चिदम्बरम से कहा कि वे नीति-प्रस्ताव कि भाषा में कुछ तब्दीली लाएँ ताकि पुराने लोगों को उसे मानने का तर्क मिल सके। चिदंबरम ने जरूरत के मुताबिक उस मसविदे में नेहरू का लिखा हुआ एक पैरा, इन्दिरा गाँधी के कुछ वाक्य और राजीव गाँधी के कुछ कथन जोड़ दिये। ऐसा दिखाया गया कि मानो यह नीति नेहरू के समाजवाद का ही अगला कदम है।

भारत के भूमंडलीकरण की यह कहानी अधूरी ही रह जाएगी अगर इसमें यह न जोड़ा जाय कि इसकी घोषित भूमिका अस्सी के दशक से ही बनने लगी थी। यही वह दशक था जब भारतीय (एन. आर. आई.) नामक एक समुदाय का जिक्र शुरू हुआ और उनके भारतीय अर्थतंत्र में योगदान से उम्मीदें की जाने लगी। यह राष्ट्रवाद की पारंपरिक धारणा में तब्दीली का संकेत था। इसके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद के हित भौगोलिक सीमाओं से परे भी स्थित हो सकते थे। इसी दशक में भारत ने निकनेट के जरिये इन्टरनेट की दुनिया में कदम रखा। उपग्रहीय चैनलों ने भी इसी दशक में शहरी मध्यवर्ग के ड्राइंग रूम में प्रवेश किया था। नेहरू युग में अपनायी गयी विकास नीति आयात प्रतिस्थापन पर आधारित जरूर थी पर अस्सी के दशक में राजीव गाँधी के नेतृत्व में अर्थतंत्र ने निर्यातोन्मुख विकास के रास्ते पर कदम बढ़ा दिये थे। निर्यात योग्य जिंसों के उत्पादन के लिए आयात बढ़ाना जरूरी हो गया था। इन्हीं नीतियों के संचित नतीजों के तौर पर विदेशी मुद्रा संकट सामने आया था।

इससे भी दस साल पहले सत्तर के दशक में आधुनिकीकरण की भारतीय प्रक्रिया ने यूरोपीय या ब्रिटिश की जगह आधुनिकता के अमेरिकी संस्करण को वैचारिक रूप से स्वीकार करना शुरू कर दिया था। भूमंडलीकरण के प्रमुख भारतीय अध्येता और व्याख्याकार अर्जुन अप्पादुराई की आत्मस्वीकारोक्ति से पता लगता है कि किस तरह भारतीय अभिजात वर्ग सत्तर के दशक में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में परवान चढ़ी ब्रिटिश वर्चस्व वाली आधुनिकता के रास्ते पर चलता हुआ आधुनिकता के अमेरिकी संस्करण के नजदीक पहुँचा: ‘‘मुझे नहीं पता था कि मैं चेतना और ज्ञान के स्तर पर उत्तर-औपनिवेशिकता की एक किस्म (आंग्ल शब्द-योजना, ऑक्सफोर्ड यूनियन में वाद-विवाद की कल्पनाओं, एनकाउंटर जैसी पत्रिका उधार लेकर पढ़ने और मानव विज्ञानों में एक अभिजात किस्म की दिलचस्पी) से एक दूसरी किस्म की आधुनिकता की तरफ खिसक रहा हूँ जो अपनी स्पष्टता में कहीं निर्मम, लुभावनी और दिलो-दिमाग पर छा जाने वाली थी। इस नई दुनिया में

हम्फ्री बोगार्ट की पुनर्प्रदर्शित पुरानी फिल्में थीं, हैरल्ड राबिंसन के उपन्यास थे, टाइम पत्रिका थी और अमेरिकी जीवन-शैली का समाजविज्ञान था। अमेरिकी कीड़ा मुझे काट चुका था।"[119]

24 जुलाई, 1991 को पेश किया गया बजट पिछले बीस साल से पक रही जमीन का संचित फलितार्थ था। नई अर्थनीति की प्रशंसा में पुस्तक लिखने वाले गुरुचरण दास के अनुसार आर्थिक सुधारों से देश में एक नई क्रांति आयी। इस क्रांति के शीर्ष पर प्रधानमंत्री नरसिंह राव, वित्तमंत्री मनमोहन सिंह और उनके वित्तीय नौकरशाह मोंटेक सिंह अहलूवालिया थे, पर जिसे दास के अनुसार अनिल अंबानी से लेकर दिल्ली के कनाट प्लेस के चौराहे पर फूल बेचने वाली लड़की और ढाबे में चाय पिलाने वाले लड़के तक ने हाथों हाथ लिया :

उसने बताया कि हाल ही में वह निरूला की ट्रैफिक लाइट के पास गजरा लेने के लिए रुकी। जास्मीन का गजरा चुनते हुए उसने बेचने वाली लड़की से पूछा कि उसके गजरे इतने ठंडे और ताजे कैसे हैं? उनकी खुशबू शाम की हवा में फैली हुयी थी। लड़की ने एक छोटे से रेफ्रीजरेटर की तरफ इशारा किया जो किराने की दुकान के कोने में केवल दिख भर रहा था। वही फूल बेचने वाली लड़की की कामयाबी का रहस्य था। नलिनी ने ताज्जुब से पूछा, "क्या तुम अपने फूल फ्रीज़ में रखती हो?" इस तरह के शब्दों में तो नहीं पर लड़की ने यह जरूर बताया कि इस फ्रीज़ की मदद से वह जनपथ के चौराहे पर फूल बेचने वाली लड़की के साथ इस धंधे की होड़ में बाज़ी मार लेती है।[120]

लेकिन क्या भूमंडलीकरण की यह तस्वीर वास्तव में जमीनी हकीकत का प्रतिनिधित्व करती थी? मिशेल चोसुदोव्स्की जैसे प्रेक्षकों के लिए 24 जुलाई की तारीख के मायने कुछ और ही थे। उन्होंने दिखाया कि किस तरह इस तारीख के बाद गाँव और शहर के गरीबों की जिंदगी और तकलीफदेह हो गयी। उन्होंने राष्ट्रीय स्वायत्तता और प्रभुसत्ता से जुड़े सवालों को भी उठाया। उन्होंने आरोप लगाया

[119]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 46

[120]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 46

कि इस तारीख के बाद भारत का वित्तमंत्री संसद और लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को धत्ता बताकर सीधे विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के वाशिंगटन डी. सी. स्थित दफ्तर की हिदायतों का पालन करने लगा- "राधाकृष्णमूर्ति और उनकी पत्नी एक महीने में तीन से चार पाचम तक बुन लेते थे, जिससे उन्हें छ: लोगों का घर चलाने के लिए तीन-चार सौ रुपये महीने की आमदनी हो जाती थी। तभी 24 जुलाई, 1991 को नया केन्द्रीय बजट आया जिससे सूत का भाव उछल गया जिसका बोझ बुनकरों को उठाना पड़ा। राधाकृष्णमूर्ति की पारिवारिक आमदनी घट कर हर महीने 240 और 320 रुपये के बीच रह गयी।...4 सितंबर, 1991 को गुंटूर जिले के गोलपल्ली गाँव में राधाकृष्णमूर्ति ने भूख के मारे दम तोड़ दिया।"[121]

मिशेल चोसुदोव्स्की का यह वर्णन स्थानीय स्तर पर भूमंडलीकरण के लाभ कमजोरों को न मिल पाने और उनके हिस्से में केवल नुकसान आने की प्रवृत्ति की तरफ इशारा करता है। उल्लेखनीय यह है कि भारत के संदर्भ में विश्व अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करते हुए कुमार मंगलम बिड़ला जैसे उद्योगपति भी तकरीबन इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- "दरअसल, धंधे के लिए एक मुश्किल वक्त है और अगर कोई देश भूमंडलीकरण के शुरुआती दौर में है तो उसके लिए माहौल की यह चुनौती और भी बढ़ जाती है। हमारे जैसे देश के लिए तो यह बात और भी ज्यादा सच है...हमें स्वीकार करना चाहिए कि सभी देशों को उदारीकरण के लाभ समान रूप से नहीं मिलते हैं। फायदे उन्हें मिलते हैं जो पहले से साधन संपन्न हैं और जिनके पास प्रस्तुत अवसरों का लाभ उठाने के लिए समुचित शिक्षा और प्रशिक्षण होता है। अत: कम से कम शुरू में आमतौर पर भूमंडलीकरण रोजगार के अवसरों और आमदनी के लिहाज से अंतराल बहुत बड़ा देता है, जिसका नतीजा सामाजिक और राजनीतिक

[121]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 47

टकराव में निकलता है जिससे अक्सर होने वाली देर के कारण आर्थिक प्रगति की गाड़ी पटरी से उतर जाती है।"[122]

बिड़ला अपने विश्लेषण में दिखाते हैं कि किस तरह भारत भूमंडलीकरण की दौड़ में पिछड़ा हुआ है। वह एकदम शुरुआती चरण में है। कभी आंतरिक परिस्थितियों के कारण और कभी अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम के कारण इस प्रक्रिया को भारत में धक्का लगता रहता है। भारत के भूमंडलीकरण के ये चार चित्र कई विवादों को हवा देने के लिए काफी हैं पर इनसे एक बात तो साफ तौर पर उभर कर आती ही है कि नेहरू युग की मिश्रित अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय विकास को नयी मंजिल की तरफ ले जाने में नाकाम हो चुकी थी जिसके कारण अपने शुरुआती आवेग में नयी अर्थनीतियों को बड़े पैमाने पर लोकप्रिय समर्थन मिला।

सांस्कृतिक तौर पर भारतीय अभिजनों ने अमेरिकी ठप्पे वाली आधुनिकता को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं दिखायी। लेकिन, भूमंडलीकरण के फायदे अधिकांशत: अमीरों और साधन संपन्नों को ही नसीब हुए।

2.2 'वसुधैव कुटुम्बकम्', विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज़) तथा भूमंडलीकरण

'विश्वगाँव' अर्थात् 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा के प्रणेता कनाडा के मार्शल मेक्लुहान हैं। मेक्लुहान की धारणा है कि मीडिया ने संपूर्ण दुनिया को एक छोटा सा गाँव बना दिया है। इन्होंने 1962 में जनसंचार माध्यमों के समाज पर प्रभावों का अध्ययन करते हुए इस अवधारणा को जन्म दिया। इनका मानना है कि इलेक्ट्रोनिक संचार ने संपूर्ण संसार को एक सूत्र में बांध दिया है। इनके अनुसार- "नए तकनीकी तंत्र की जो भावना है, उससे आगे और कुछ नहीं है। तकनीकी तंत्र सभी

[122]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 47

आवश्यकताओं का स्थान है और इसमें सब कुछ अपने स्थान पर है।"[123] इसमें अब राष्ट्र-राज्य की सीमा का अब कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। तकनीकी तंत्र तथा संचार माध्यमों ने लोगों के बीच की दूरी को समाप्त कर दिया है। लेकिन वास्तव में मार्शल मेक्लुहान की संकल्पना कोई नई बात नहीं है बल्कि हमारे यहाँ इस अवधारणा के मूल स्वर पहले से ही विद्यमान हैं। हमारे चिंतक 'ऋग्वेद' में इस अवधारणा के सूत्र खोजते हुए 'विश्व पुष्टम ग्रामे अस्मिन अनातुरम' (अर्थात् विश्व का प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ हो, सुखी हो तथा विश्व उपद्रव रहित हो) का उद्घोष करते हैं। इसी तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना हमारे यहाँ बहुत पहले से विद्यमान रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानती है। यह समन्वय और सहयोग पर आधारित मानवता के कल्याण की भावना है- "अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"।।

अर्थात् यह मेरा है, यह पराया है, ऐसे विचार तुच्छ या निम्न कोटि के व्यक्ति करते हैं। उच्च चरित्र वाले व्यक्ति समस्त संसार को ही अपना कुटुम्ब (परिवार) मानते हैं। इस प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वबंधुत्व की भावना निहित रही है। यही नहीं 'विश्वग्राम' का स्वप्न हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी देखा था। 'ग्राम स्वराज्य' की बात करते हुए उन्होंने कहा था- "मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर से दीवारों से घिरा रहे, न मैं अपनी खिड़कियों को ही कसकर बंद रखना चाहता हूँ। मैं तो सभी देशों की संस्कृति का संचार अपने घर में बेरोकटोक चाहता हूँ, पर ऐसी संस्कृति के किसी झकोरे से मेरे पाँव उखड़ जाएँ, यह मुझे मंजूर नहीं।[124] विश्वग्राम अर्थात् ग्लोबल विलेज के विषय में कुमुद शर्मा का कथन है कि- "विश्वग्राम की परिकल्पना को साकार करने का दावा करते हुए भूमंडलीकरण का नारा शक्तिशाली और विकसित देशों ने लगाया है, जो मूलत: अल्पविकसित और विकासशील देशों के शोषण और दोहन के उद्देश्य से निर्देशित है। इस विराट चक्र में छोटे और कमजोर

---

[123]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ सं. 322

[124]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 13

देश फँसते जा रहे हैं। उनकी भाषा और संस्कृति के समक्ष गंभीर संकट उपस्थित हो गया है। उच्च प्रौद्योगिकी से फलीभूत भूमंडलीकरण की नई अवधारणा में विश्व वस्तुत: एक बाज़ार है, जो 'मनुष्य' को मनुष्य नहीं रहने देता – उसे खरीदार या विक्रेता समझकर 'बाज़ार की वस्तु' बना देता है। यह विशुद्ध रूप से आर्थिक अवधारणा है। जो नई विश्व-स्थिति की परिकल्पना लेकर आई है। जबकि हमारी अवधारणा मानवीय थी। उसमें समग्र विश्व को प्रेम, करुणा आदि मानवीय सूत्रों में बांधने का भाव था।"[125] डॉ. पुष्पपाल सिंह के अनुसार- "हमारी पारंपरिक अवधारणा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रकल्प में पूरे विश्व समुदाय को एक कुटुम्ब, एक कुल, मानने का प्रबल आग्रह रहा है किंतु भूमंडलीकरण की शब्दावली का वैश्विक गाँव - ग्लोबल विलेज – हमारी इस विश्व मानवतावादी धारणा से बिलकुल अलग है। 'वैश्विक गाँव' की मान्यता का आर्थिक पक्ष –बाज़ार तथा बाजारवाद - इसे हमारी पुरातन मान्यता से पूरी तरह अलग कर एक प्रच्छन्न और अघोषित आक्रमण का रूप दे डालता है।[126] प्रख्यात वैज्ञानिक तथा शिक्षाविद प्रो. यशपाल के अनुसार- "भूमंडलीकरण का अर्थ यह नहीं है कि यह सब लोगों के लिए बराबर है। इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी बात बिलकुल नहीं है। भूमंडलीकरण एक ऐसी स्वेच्छाकारी प्रक्रिया है जिसके नियमों का पालन हमें करना पड़ेगा और हम सबको उसके पीछे चलना पड़ेगा। ये यह भी तय करेंगी कि हमारी स्थितियाँ कैसी होंगी। उन्हें कैसी होनी चाहिए। आपको अनुकूलित किया जाएगा।[127] 'ग्लोबल विलेज' के निहितार्थ को सामाजिक चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा भ्रम पैदा करने वाली स्थिति के रूप में देखते हैं। वह अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण की चुनौतियां' में लिखते हैं कि- "इस शब्द से यह भ्रम पैदा होता है कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपने छोटे स्वार्थों से ऊपर उठ लोग सारे संसार के मंगल के लिए जुड़ जाएँगे।

---

[125]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 14

[126]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ-सं. 16

[127]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ-सं. 16

लेकिन भूमंडलीकरण के निहितार्थ इसके ठीक उल्टा है। इससे निकालने वाली 'सब जन हिताय सब जन सुखाय' की ध्वनि के विपरीत यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूँजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके सकेंद्रण के सबसे सबल केंद्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई हैं। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है।[128]

हालाँकि सच्चाई भी यह है कि इससे यह भ्रम पैदा होता है कि संसार के लोग जुड़ रहे हैं और संसार एक 'वैश्विक गाँव' (ग्लोबलविलेज) बन गया है, दरअसल इससे सिर्फ संसार का एक संपन्न वर्ग ही अपने व्यापारिक या व्यावसायिक हितों के लिए एक-दूसरे से जुड़ता है। प्रत्येक क्षेत्र और देश में नए संचार माध्यमों से संसार से जुड़े समूह अपने ही आस-पास के बहुसंख्य वंचित समूहों से पूरी तरह कट जाते हैं। संसार का एक नया विभाजन सूचना समृद्ध और सूचना से वंचितों के बीच होता है।[129] इस प्रकार इसमें स्वार्थ और अवसरवादिता का पक्ष दिखाई देता है। यह 'सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय' की भावना से बिलकुल भिन्न है। इसकी हकीकत कुछ और ही है। अमित कुमार सिंह के शब्दों में कहें तो वह यह कि- 'ग्लोबल विलेज' अवधारणा स्थापित करने का ग्लोबलाइजेशन समर्थकों का प्रयास महज एक आकर्षक कल्पना मात्र है जो हकीकत से कोसों दूर है।[130]

प्रसिद्ध विचारक जितेंद्र भाटिया अपने लेख 'ग्लोबलाइजेशन और उदारीकरण : किसका ग्लोब, किसकी उदारता?' में भूमंडलीकरण के दुष्परिणामों से व्यथित और चिंतित होकर इसकी वास्तविकता तथा जमीनी हकीकत को बयां करते हुए लिखते हैं कि- ''वैश्वीकरण का मतलब होना चाहिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यानी पूरी वसुधा एक परिवार बन जाए, ताकि परिवार में यदि एक सदस्य खाने से अघाया और दूसरा सात दिनों से भूखा हो तो सबसे पहले इस समस्या का समाधान निकाला

[128]भूमंडलीकरण की चुनौतियां, सच्चिदानंद सिन्हा, (पुस्तक की भूमिका से साभार)

[129]भूमंडलीकरण की चुनौतियां, सच्चिदानंद सिन्हा, (पुस्तक की भूमिका से साभार)

[130]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 30

जाए क्योंकि इस विश्वव्यापी परिवार के भण्डारे में अब भी सबका पेट भरने और तन ढँकने लायक पर्याप्त सम्पदा है। लेकिन वैश्वीकरण का संचालन करने वालों के मंसूबे कुछ और ही हैं। इनके साम्राज्यवादी बहुराष्ट्रीय दस्ते की प्राथमिकताओं में गरीब विकासशील देशों की मूलभूत मानवीय जरूरतें पूरी करने या उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने देने का कोई प्रावधान नहीं है, न आगे कभी होगा। तो फिर यह 'ग्लोब' किसका है, और यह 'उदारता' किसकी है, और किसके प्रति? जाहिर है कि इन बहुराष्ट्रीय संचालकों और उनके पैरवीकारों के हाथों में सौंपी गयी यह निर्णयक्षमता विकासशील देशों के अस्तित्व एवं उनकी अस्मिता के लिए बहुत भारी खतरा साबित होती जा रही है.... 'ग्लोबल विलेज' या 'वसुधैव कटुम्बकम्' की कोई भी परिकल्पना विकासशील गरीब देशों की कमजोर, काहिल, अशिक्षित और साधनहीन जनसंख्या को विकास की मुख्य धारा में लाये बगैर पूरी नहीं की जा सकती।"[131]

2.3 भूमंडलीकरण का साम्य तथा वैषम्य पक्ष

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कुछ साम्य-पक्ष हैं तो कुछ वैषम्य-पक्ष भी हैं। यदि हमने इससे कुछ पाया है तो बहुत कुछ खोया भी है। भूमंडलीकरण ने सिर्फ विसंगतियाँ ही पैदा की ऐसा नहीं है बल्कि; इसकी कुछ महत्वपूर्ण देनें भी हैं। इसलिए भूमंडलीकरण के साम्य-पक्ष तथा वैषम्य-पक्ष को जानना बहुत जरूरी है। भूमंडलीकरण तथा उसकी नीतियों के यदि समर्थक भी हैं तो इस प्रक्रिया के धुर विरोधी भी हैं। इस प्रकार दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं एक जो इसे तथा इसकी नीतियों को सही मानता है और उसका समर्थन करता है और दूसरा पक्ष वह है जो इसकी नीतियों को सिर्फ़ असमानता पैदा करने के रूप में देखते हैं तथा इसका हमेशा विरोध करता है। समर्थन करने वालों के अपने तर्क व मत हैं तो वहीं विरोध प्रकट करने वालों के अपने अकाट्य आधार। भूमंडलीकरण के समर्थकों ने जहाँ

[131]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 53

इसे जरूरी मानते हुए इसके पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए है तो वहीं पर भूमंडलीकरण के विरोधियों ने इसके भयावह रूप को उजागर करते हुए अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों के अपने-अपने मत व दृष्टिकोण हैं। भूमंडलीकरण के समर्थकों के मत इस प्रकार हैं-

1. भूमंडलीकरण विश्व की अर्थव्यवस्था को दृढ़ता प्रदान करेगा और और समूचे विश्व में अधिक व्यापार, पूँजी-निवेश, रोजगार और आय के अवसर बढ़ाएगा। इस तरह से इस ग्लोबल आर्थिक सहयोग से एक नए युग का सूत्रपात होगा।
2. भूमंडलीकरण का समर्थन करने वालों का मानना है कि भूमंडलीकरण दुनिया को एक अभूतपूर्व आर्थिक अवसर प्रदान करने वाली नई आर्थिक प्रवृत्ति है, जो पहले कभी देखने को नहीं मिली।[132]
3. भूमंडलीय विस्तार आज के समय की ऐसी अनिवार्यता है, जिसके अभाव में हम समूचे विश्व के साथ ताल से ताल मिलाकर नहीं चल सकते, अत: विकास की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए यह आवश्यक है। इस प्रकार से यह विकास का भी सूचक है।
4. भूमंडलीकरण के समर्थकों का यह भी मानना है कि भूमंडलीकरण के साथ ही संसार ने एक नए युग में प्रवेश किया है जहाँ एक विश्व बाज़ार होगा जिसका उदय स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय बाज़ारों के विलय के परिणामस्वरूप होगा। शीतयुद्ध के समय में दुनिया का जो विभाजन हुआ था वह पूरी तरह मिट जाएगा, राष्ट्रीय सीमाएं बेमानी हो जाएंगी, धीरे-धीरे उनकी भूमिका समाप्त हो जाएगी। सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप व्यक्ति, निगम और राष्ट्र सारे विश्व में एक-दूसरे से शीघ्रातिशीघ्र संपर्क बना लेंगे।[133]

---

[132]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 15

[133]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 116

5. भूमंडलीकरण के युग में इंटरनेट के माध्यम से लोग एक दूसरे से जुड़ रहे हैं और अब दुनिया का कोई एक केंद्र नहीं रह गया है जहाँ से गतिविधियों का संचालन और दिशा निर्देशन हो। दुनिया का कोई इंचार्ज नहीं है।
6. इनका यह भी मत है कि राज्य की सार्वभौमिकता को बाज़ार की शक्तियाँ निगल जाएंगी। जिससे लोग अधिक मानवीय, स्व-अनुशासित तथा समाज स्व-विनियमित हो जाएगा। समाज बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय नहीं बल्कि सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय का लक्ष्य प्राप्त कर लेगा।
7. भूमंडलीकरण के समर्थकों का कहना है कि सिएटल, वाशिंगटन आदि से लेकर जिनेवा तक लगातार विशाल प्रदर्शन जो भूमंडलीकरण के विरोध में हुए उसका कारण है- प्रदर्शनकारी काफी हद तक अज्ञानी हैं या उन लोगों की भावनाओं को प्रतिबिंबित कर रहे हैं जो युगों से प्रगति के फलों से वंचित रहे हैं। भूमंडलीकरण के लाभ जैसे-जैसे उनको मिलने लगेंगे वे अपनी निराशा की भावना को त्यागकर उसके कायल हो जाएंगे।
8. फ्रीडमैन के भारतीय संस्करण गुरुचरण दास का दावा है कि भूमंडलीकरण पूँजीवादी बाज़ार का अंतिम चरण है जो एक तरह से स्थायी रूप से हमेशा-हमेशा रहेगा, अब वर्ग-संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है, इतिहास अब अपने अंतिम पड़ाव पर आ गया है, अब दुनिया और मानवजाति मूलभूत एकता के सूत्र में बंध जाएगी। युद्ध अतीत के विषय बन जाएँगे।[134] इस प्रकार गुरुचरण दास भूमंडलीकरण में स्वर्ग की झलक देखते हैं।

भूमंडलीकरण के विरोधियों के मत इस प्रकार हैं-

1. भूमंडलीकरण का विरोध करनेवाले लोगों का मानना है कि भूमंडलीकरण एक ऐसा अंतरराष्ट्रीय आर्थिक दुष्चक्र है, जिसमें शामिल होने का सीधा परिणाम यह होगा कि

[134]भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पाण्डेय, पृष्ठ सं. 117

अपने देश और घरेलू उद्योगों की कीमत पर दुनिया के शक्तिशाली देशों और उनके बहुराष्ट्रीय निगमों के आर्थिक हितों को साधने की मजबूरी बन जाएगी। भूमंडलीकरण के चक्रवात ने काली आँधी की तरह संपूर्ण विश्व को अपनी चपेट में ले लिया है।[135]

2. भूमंडलीकरण ने पहली दुनिया एवं तीसरी दुनिया के बीच ध्रुवीकरण को गहरा किया है तथा उपजाऊ पूँजी का सर्वाधिक भाग पहली दुनिया तक ही सीमित कर दिया है।[136]
3. भूमंडलीकरण के विरोधियों के अनुसार भूमंडलीकरण इस अर्थ में डरावना है कि यह मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं के ऊपर पूँजी की सत्ता स्थापित कर देता है। इसमें पूँजी मानवता का दम घोंट देती है। मानव समाज पर पूँजी हावी हो जाती है। मनुष्यता पीछे छूट जाती है। जनकल्याण को तिलांजलि देनी पड़ती है और दुनिया में 'बाज़ार' का सिक्का चलता है, उसी की भाषा में बात होती है।[137]
4. प्रोफेसर पर्लिट्स के अनुसार उदारीकरण की प्रक्रिया से ग्लोबलाइजेशन के नाम पर खेमाबंदी, 'कार्टलाइजेशन' और औद्योगिक गुटबाजी को बढ़ावा मिला है और मिल रहा है।[138]
5. भूमंडलीकरण के चलते सीमा शुल्कों में भारी गिरावट हमारे निर्यात को स्पर्धात्मकता देने के लिए नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय ब्राण्डों के देश में प्रवेश को संवैधानिक बनाने के उद्देश्य से लायी जा रही है।[139]

---

[135]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 15

[136]लेख-भूमंडलीकरण का मिथक, शिवनारायण सिंह अनिवेद, पृष्ठ सं. 19

[137]भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, पृष्ठ सं. 16

[138]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 47

[139]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 74

6. वैश्वीकरण या कि विश्व का व्यापारिकरण एक हद तक इस दुनिया की विपन्न एवं विकासशील जनसंख्या को बहुराष्ट्रीय व्यापारिक शक्तियों का मोहताज बनाता जा रहा है।[140]
7. उपभोक्ता बाज़ार की पहुँच का यह भयावह विस्तार जहाँ एक ओर 'बाज़ार' की पारस्परिक सीमाओं को तोड़कर हर तरफ एक जैसा 'ब्रैंड साम्राज्य' स्थापित करने पर उतारू है, तो वहीं दूसरी ओर इनफार्मेशन टेक्नोलॉजी के अतिविश्वसनीय विकास ने समाज एवं संस्कृति के पुराने समीकरणों को असंगत बनाना शुरू कर दिया है।[141]

भारत में भूमंडलीकरण व 'आर्थिक सुधारों की दशा और दिशा' पर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री नोबल पुरस्कार प्राप्त और भारत रत्न से सम्मानित प्रो. अमर्त्य सेन और कोलंबिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जगदीश भगवती के परस्पर विरोधी मत हैं। अमर्त्य सेन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एन अंसर्टन ग्लोरी : इंडिया एंड इट्स कांट्रिड़िक्शन' में भारत के आर्थिक सुधारों की विसंगतियों की ओर इशारा करते हैं। इसमें वह भारत में वितरण की समस्या को गंभीर एवं चिंताजनक बताते हैं। इसका कारण है कि भारत में आर्थिक सुधारों का उपयोग गरीबी, कुपोषण और दलित-आदिवासियों के उत्थान के लिए नहीं हो पाया है। अमर्त्य सेन का यह कहना सही है क्योंकि अभी भी विश्व के गरीबों का सबसे बड़ा हिस्सा भारत में रहता है और भारत की करीब चालीस प्रतिशत जनसंख्या कुपोषित है। यह किसी से नहीं छुपा है कि भारत में आर्थिक सुधारों का लाभ एक खास तबके को ही हुआ है। पूँजीपतियों, व्यापारियों और कारोबारियों के अतिरिक्त, कुछ हद तक इसका लाभ छीजकर मध्यम वर्ग तक पहुंचा है लेकिन वंचित और अभाव में जी रहे गरीब लोगों को इसका लाभ नहीं मिल पाया है। इस दृष्टिकोण से इसका प्रभाव सभी के लिए एक समान नहीं रहा है। इसका स्पष्ट उदाहरण हमें आर्थिक सुधारों के जनक तथा पूर्व

[140]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 76

[141]सदी के प्रश्न, जितेंद्र भाटिया, पृष्ठ सं. 51

प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के उस वक्तव्य में भी देखने को मिलता है जिसे वह यू. एन. के सहस्राब्दी समारोह में प्रस्तुत किए थे। इसमें वह भूमंडलीकरण को एक अवसर के रूप में देखते और परिभाषित करते हैं। और यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'इससे उन्हें अधिकार संपन्न किया जा सकता है जो 'अधिकार संपन्न' नहीं हैं।' इसका आशय यही है कि भूमंडलीकरण की नीतियाँ मानवीय अपेक्षाओं को पूरा करने में अभी असफल ही सिद्ध हुई हैं। अत: इस प्रकार यह असमानता का ही सूचक है।

लेकिन प्रसिद्ध विचारक तथा अर्थशास्त्री जगदीश भगवती अमर्त्य सेन की प्रखर आलोचना करते हैं। जगदीश भगवती का मानना है कि आर्थिक सुधारों पर कोई भी हमला अंतत: गरीबों का ही अहित करेगा। इनका मानना है कि आर्थिक सुधार से आर्थिक विकास होता है और यह आर्थिक विकास गरीबों की दशा में उल्लेखनीय सुधार लाता है। 'इन ड़िफेंस ऑफ ग्लोबलाइजेशन' जगदीश भगवती की विश्व प्रसिद्ध कृति है। इस पुस्तक में इन्होंने भूमण्डलीकरण के विरुद्ध की गयी सभी आलोचनाओं का बहुत ही तार्किक रूप से खण्डन किया है। इस प्रकार से वे पूँजीवाद के घोर समर्थक हैं और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में उन्हें कोई भी खोट नजर नहीं आती है। वह अपनी स्थापना में बार-बार 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का महिमामंडन करते हैं।[142] इस सिद्धांत की बुनियादी मान्यता है कि आर्थिक विकास एक लंबे कालखंड में अंतत: गरीबों को ही लाभांवित करता है। सर्वप्रथम इसका लाभ साधन-संपन्न लोगों को प्राप्त होगा और फिर धीरे-धीरे इसका लाभ स्वयं ही सामान्य व्यक्ति तक पहुँच जाएगा।[143]

जगदीश भगवती की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'इंडिया ट्राइस्ट विद डेस्टिनी' है। इसमें भगवती भारत के आर्थिक सुधारों के बारे में, प्रचलित करीब बीस मान्याताओं का खंडन करते हैं। ये मान्यताएं

---

[142]लेख-आर्थिक सुधारों पर एक संजीदा बहस, अमित कुमार सिंह http://www.rachanakar.org/2013/08/blog-post_8295.html

[143]भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, पृष्ठ सं. 28

मूलत: आम जनता के बुनियादी सरोकार हैं। मसलन-आर्थिक सुधारों ने भारत में असमानता में वृद्धि की है। आर्थिक सुधारों ने भारत में शोषितों का उपकार नहीं किया है? आर्थिक सुधारों ने भारत में भ्रष्टाचार में इजाफा किया है? किसानों के आत्महत्या का दोषी आर्थिक सुधार की नीतियां हैं, इत्यादि। इस संबंध में भगवती का अंतिम निष्कर्ष यह है कि आर्थिक सुधारों की ऐसी समस्त आलोचनाएं बेबुनियाद हैं। इन समस्याओं के लिये अन्य कारण दोषी हैं, लेकिन इनका ठीकरा आर्थिक सुधारों पर फोड़ा जाता है। इस प्रकार जगदीश भगवती और अमर्त्य सेन के तर्क परस्पर विरोधाभासी हैं। लेकिन आर्थिक सुधारों की वास्तविक स्थिति का पता हमें मानव-विकास रिपोर्ट-2002 से चलता है। यह 'ट्रिकल-डाउन' थ्योरी की पोल खोलता है। 'संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम' (UNDP-United Nations Development Programme) द्वारा प्रकाशित मानव विकास (Human Development Report) रिपोर्ट यह बतलाती है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने समूचे विश्व में 'अमीर का अमीरीकरण' और 'गरीब का गरीबीकरण' ही किया है।[144]

2.4 भूमंडलीकरण तथा भारतीय समाज एवं साहित्य

आज सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों के साथ-साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो भी परिवर्तन या विकास हो रहा है वह प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित है। अर्थात् समाज में जो भी परिवर्तन या विकास हो रहा वह भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप और अधिक तीव्र गति से हो रहा है। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि आज के गाँव और शहर का चेहरा ही बदल गया है। प्रो. चौथीराम यादव के शब्दों में- ''भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और उपभोक्ता केंद्रित बाज़ारवाद पर आधारित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने यूरोपीय समाज को बहुत कुछ तोड़ा जरूर था पर पूरी तरह से नहीं। रूस के नेतृत्व में तीसरी दुनिया के

[144]मानव विकास रिपोर्ट-2002

देशों में प्रचलित समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकल्प के रूप में जिस पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को लाया गया था, उसके अंतर्विरोधों का दुष्परिणाम आज पश्चिम के उन्हीं पूँजीवादी देशों को सबसे ज़्यादा भुगतना पड़ रहा है। वैश्विक मंदी का दौर सबसे घातक दुष्परिणाम है जिसने दुनिया भर के देशों की अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया है। भारतीय संदर्भ में देखा जाए तो आधुनिकीकरण ने शहर तथा गाँव दोनों का चेहरा बदल दिया है।"[145] यह भूमंडलीकरण का ही प्रभाव है कि आज का नगरीय तथा ग्रामीण समाज पहले की अपेक्षा काफी कुछ बदल गया है। भूमंडलीकरण के इस प्रभाव तथा इसके परिणामस्वरूप आए परिवर्तन तथा बदलाव को विनोद बिहारी लाल कुछ इस तरह से देखते हैं- "एक प्रकार से भूमंडलीकरण सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक बदलाव का प्रमुख कारण है। वैश्वीकरण ने वित्त, मुद्रा, व्यापार, रोजगारों के अवसर और उनकी प्रकृति, सामाजिक संरचना, जीवन-शैलियाँ, शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण का स्वरूप आदि सभी क्षेत्रों को गहरे रूप से प्रभावित किया है।"[146] चूंकि समाज एक स्थिर व संतुलित व्यवस्था न होकर एक गतिशील व्यवस्था है। परिवर्तन संसार का नियम है। समाज भी समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। प्रत्येक समाज में परिवर्तन की एक खास प्रक्रिया होती है। परिवर्तन से आशय है समय के साथ-साथ किसी भी वस्तु, व्यक्तित्व, परिस्थिति, प्रक्रिया, समिति या संस्था में बदलाव या अंतर का आ जाना। परिवर्तन की प्रक्रिया के कई मूलभूत पहलू हैं- औद्योगीकरण, तकनीकीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण, भूमंडलीकरण आदि। परिवर्तन के इन मूलभूत पहलुओं में सबसे मुख्य तथा महत्वपूर्ण पहलू है भूमंडलीकरण की प्रक्रिया। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण एक मुख्य प्रक्रिया के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है तथा सूचना एवं संचार तकनीकी के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में अपना क्षेत्र विस्तार

---

[145]लेख- रेहन पर-'रग्घू या इक्कीसवीं सदी का गाँव-घर?', चौथी राम यादव, चौपाल, संपा. कामेश्वर प्रसाद सिंह, वर्ष:1, अंक:1, पृष्ठ सं. 31

[146]आलेख, वैश्वीकरण : अपरिमित संभावनाएं, गहरे खतरे, विनोद बिहारी लाल, समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक) जुलाई-अगस्त 2011, पृष्ठ सं. 73

कर रहा है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के इस विकास और विस्तार में सूचना तथा संचार तकनीकी का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। लेकिन यह संचार साधन विकास तथा उन्नति में सहायक होने के बावजूद भारतीय समाज तथा जनमानस के लिए काफी खतरनाक भी सिद्ध हो रहे हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे संचार साधनों के इसी वैषम्य-पक्ष को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "जन संचार के साधन आकाश में अपसंस्कृति की वर्षा कर रहे हैं, जो एक आत्मकेंद्रित और भोगवादी जीवन-दृष्टि विकसित कर रही है। इसके कारण सामाजिक लक्ष्य और विकास के राष्ट्रीय संकल्प डगमगाने लगे हैं।"[147] भूमंडलीकरण तथा सूचना और संचार क्रांति के इस आधुनिक यांत्रिक युग में हर कोई ज्यादा से ज्यादा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा धन की लालसा रखने लगा है। इसका प्रभाव समाज पर भी बहुत ही तीव्र गति से पड़ रहा है जिससे हमारा समाज भी परिवर्तित हो रहा है। आज जो समाज निर्मित हो रहा है उसमें जीवन-यापन करने वाला लगभग प्रत्येक मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन-मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार- "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।"[148]

---

[147]समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं. 130

[148]समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं. 134

भूमंडलीकरण एक प्रकार से बाजारवाद है तथा इसके लिए हम सभी मनुष्य सिर्फ उपभोक्ता मात्र हैं। उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत में विभिन्न तरह की बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आने और अपनी जड़ें जमाने का मौका मिला। इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ही बाजारवाद तथा उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया। यह अपसंस्कृति प्रसार हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक है तथा इसके बहुत ही खतरनाक पहलू हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे अपसंस्कृतियों के उदय को समाज के लिए सबसे भयावह पहलू मानते हुए इसके विषय में लिखते हैं कि- "बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियंत्रित होने लगते हैं। यह नव-सुखवाद सुख की व्याख्या करता है। यह 'प्ले ब्वॉय' और 'पेन्ट हाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौन्दर्य की खोज करती है। स्वच्छंदता के नाम पर यौन-अनुशासन क्षीण होता है। पारिवारिक बंधन इस सीमा तक ढीले होते हैं कि विवाह की संस्था ही अनावश्यक हो जाती है। मनोरंजन के नाम पर ढेर सारी यौन विकृतियों का प्रदर्शन होता है, जिनमें अनेक अप्राकृतिक और असामान्य यौनाचर भी सम्मिलित हैं। साहित्य का भी अवमूल्यन होता है। वह सृजन न होकर नीचे धरातल की व्यावसायिकता बन जाता है।...संस्कृति का उद्योग अनेक मैडोनाओं और माइकल जैक्सनों को जन्म देता है, जिनसे विकृतियाँ विस्तार पाती हैं।...यह अपसंस्कृति अनियंत्रित विकास और छद्म आधुनिकता की देन है, जिनसे समृद्ध और विकासशील देश आज त्रस्त हैं और सार्थक विकल्पों की तलाश कर रहे हैं।"[149] इस प्रकार से अपसंस्कृति आज संस्कृति की चर्चा के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। यह अपसंस्कृति वास्तव में पूँजीवादी संस्कृति ही है। अपसंस्कृति अर्थात् पूँजीवादी संस्कृति हमारी संस्कृति का वह पक्ष है, जो पूँजीवादी समाज और उसकी मानसिकता से प्रभावित है। आज एक तरफ परंपरा का उपयोग रूढ़ियों

[149]समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं. 171

को मजबूत करने के लिए सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध करने के लिए किया जा रहा है तो दूसरी तरफ उसे नष्ट कर देने, हमारी चेतना और आदत से निकाल देने का भी अभियान चलाया जा रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय संस्कृति पर हावी होती पाश्चात्य अपसंस्कृति इसका उदाहरण है। यह पूँजीवादी संस्कृति अर्थात् अपसंस्कृति और जीवन के प्रति अतिशय भौतिकता भूमंडलीकरण की ही देन है।

1990 के दशक में भूमंडलीकरण के साथ-साथ उपभोक्तावादी-संस्कृति भी पैर पसारने लगी जिससे समाज में भोग-विलास, ऐश्वर्य आराम भरी जिंदगी अर्थात् भौतिकता का ही एक मात्र लक्ष्य दिखाई देने लगा। और जीवन की सार्थकता भी इन्हीं रूपों में देखी जाने लगी। सार्थकता के इस मानदंड का परिणाम यह हुआ कि हमारे विभिन्न प्रकार के सामाजिक मूल्य, मान्यतायें, मर्यादाएँ, और नैतिकताएँ धरी की धरी रह गयीं। इस प्रकार भूमंडलीकरण रूपी आंधी ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को काफी झकझोरकर रख दिया। समाज में मनुष्यता और सामाजिकता नाम की कोई चीज़ ही नहीं बची है। आज का मनुष्य अपनी सुख-सुविधा भरी जिंदगी के लिए नैतिक या अनैतिक सभी प्रकार के कार्य को प्रोत्साहन देने लगा है। अर्थात् इस भौतिक जीवन को सुखी बनाने के लिए वह कुछ भी करने को आतुर हो चुका है। भूमंडलीकरण से पैदा हुई भौतिक समृद्धी के लिए आज अंधी दौड़ मची है। लोग एक-दूसरे से आगे बढ़ने के लिए इतने उतावले हो गए हैं कि उन्हें अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक आदि बातों से कोई मतलब ही नहीं है।

वास्तव में एक प्रकार से देखा जाए तो आज का युग सूचना-क्रांति और भूमंडलीकरण का युग है। आधुनिकता के इस यांत्रिक युग में हर कोई अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयासरत है। इस लक्ष्य प्राप्ति के प्रयास में सभी यांत्रिक बनते जा रहे हैं और इसका प्रभाव समाज पर इतनी तेजी से पड़ रहा है कि समाज भी उतनी ही तीव्रगति से बदल रहा है। और यह सब भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तथा उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप हो रहा है। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय भूमंडलीकरण के प्रभाव को

बतलाते हुए लिखते हैं कि- "यह समय हड़बड़ी का है। सभ्यताएँ विचलित हैं, जीवन-शैलियों में सामाजिकता का लोप हो रहा है और स्वार्थ-केंद्रित व्यक्तिवाद पनप रहा है। समाज राजनीति और प्रकृति सब एक तरह के विपर्यय और ध्वंस से गुजर रहे हैं। संक्षेप में भूगोल और समय का संतुलन बिगड़ गया है। यह भूमंडलीकरण का प्रभाव है। वे आगे लिखते हैं कि- "भारत पर इस वक्त भूमंडलीकरण का ऐसा नशा सवार है जिसने उसके सारे मूल्य, मानक, मिथक यहाँ तक की अखंडता और आत्माभिमान भी खरीद लिया है। इस प्रकार भूमंडलीकरण ने विश्व के राजनीतिक, सामाजिक, वैचारिक, सांस्कृतिक, व्यावहारिक यानी सभी पहलुओं को प्रभावित किया है।"[150]

निष्कर्षत: यह भूमंडलीकरण के प्रभाव का ही नतीज़ा है कि आज सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य बहुत ही तीव्र-गति से लगातार विघटित होते जा रहे हैं। भ्रष्टाचार, अपराध तथा आतंकवाद में बेतहासा वृद्धि हो रही है। उपभोक्तावाद तथा ब्रांड संस्कृति के नाम पर अश्लीलता अपने चरम पर है। आज बलात्कार एवं हत्या की घटनाएं लगभग रोज घटित हो रही हैं। अर्थात् स्त्रियों का शोषण बदस्तूर जारी हैं। अमीर और अमीर हो रहा तो गरीब और भी अधिक गरीब होता जा रहा है। दलित-आदिवासियों की स्थिति और भी दयनीय होती जा रही है। किसानों एवं मजदूरों की स्थिति दिन-प्रतिदिन और अधिक दयनीय होती जा रही है। इसका कारण किसान और मजदूरों से संबन्धित जो भी सरकारी नीतियाँ बनी हैं उनका सही रूप से क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। या सरकार इनके पक्ष में जो भी नीतियाँ ला रही है उनमें इनकी समस्याओं को तथा इनकी मांगों को नज़रअंदाज़ किया जा रहा है। अभी हाल ही में तमिलनाडु के किसानों का अपनी मांगों को लेकर दिल्ली के जंतर-मंतर पर किया जा रहा धरना-प्रदर्शन इसका उदाहरण है। आज के समय में किसान एवं मजदूरों की आत्महत्यायें बढ़ी हैं। अगर ऐसा ही रहा तो अभी और भी स्थिति बदरूप हो सकती है। किसान और

[150]लेख, भूमंडलीकरण और साहित्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, समकालीन भारतीय साहित्य, भूमंडलीकरण विशेषांक, जुलाई-अगस्त, 2011, पृष्ठ सं. 14

मजदूर तथा इनकी समस्याएँ सिर्फ और सिर्फ चुनावी मुद्दा नहीं हैं। इसे राजनीति से परे रखकर देखने की जरूरत है। सिर्फ वोट बैंक की राजनीति से मुक्त होना अभी बाकी है। यही कारण है कि आज की राजनीति सांप्रदायिक और विषैली हो गयी है। आज संबंध सिर्फ आर्थिक आधार पर निर्मित हो रहे हैं। इस प्रकार जनतंत्र पर अर्थतंत्र हाबी होता जा रहा है। इसके अलावा सामाजिक संबंधों का ह्रास, मानवीय तथा नैतिक मूल्यों का पतन निरंतर जारी है। स्त्रियों की दयनीय दशा, साथ ही सभ्यता और संस्कृति का क्षरण, पर्यावरण की समस्या, प्राकृतिक संसाधनों का भारी मात्रा में दोहन, मानव-स्वास्थ्य, मूल्यविहीन होती जा रही शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ बढ़ती बेरोजगारी, ग्राम तथा शहरों में बढ़ती विद्युत समस्या, ध्रुवीकरण तथा संकट की स्थिति, आज और भी भयावह होती जा रही है।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप उपजी विभिन्न प्रकार की समस्याओं एवं विसंगतियों ने समाज के साथ-साथ साहित्य को भी बहुत गहरे एवं व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। समाज वस्तुत: साहित्य का अभिन्न हिस्सा है तथा समाज की परिस्थितियाँ एवं समाज में घटित विभिन्न प्रकार की घटनाएँ ही साहित्य में स्थान पाती हैं तथा यह सब कुछ साहित्यकार की सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है। वैसे प्रत्येक साहित्यकार में सामाजिक चेतना निहित होती है। यही सामाजिकता या सामाजिक चेतना साहित्यकार या रचनाकार के साहित्य सृजन का आधार भी होती है। एक साहित्यकार की सामाजिक चेतना से आशय यह है कि वह एक आदर्श समाज के निर्माण के लिए हमेशा प्रयासरत रहे, समाज में व्याप्त समस्याओं एवं बुराइयों का साहित्य के माध्यम से (समाज का) परिष्कार करे। वस्तुत: साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त विसंगतियों, बुराइयों आदि के प्रति क्षोभ प्रकट करता है। जिससे समाज या व्यक्ति में परिष्कार संभव होता है। चूंकि समाज संघर्ष का परिणाम होता है, साहित्य उसका संस्कार तथा सामाजिकता उसका स्वप्न। साहित्य में समाज का प्रतिबिंब मूर्तता लिए होता है, इसलिए कभी साहित्य में समाज तो कभी समाज में साहित्य

झाँकता हुआ प्रतीत होता है। साहित्य अर्थात् जिसमें सबका हित समाहित हो और सामाजिकता, जिसमें पूर्ण समाज का हित समाहित हो।[151]

इस प्रकार वर्तमान समय में भूमंडलीकरण का इतना व्यापक प्रभाव हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। चूंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। और साहित्य समाज या जनता की चित्तवृत्तियों का ही संचित प्रतिबिंब होता है। इसलिए समाज में आया हुआ परिवर्तन या बदलाव साहित्य में भी रूप ग्रहण करने लगता है। समय के साथ-साथ परिवर्तन की जो आंधियाँ समाज में आई हैं उनका बहुत ही व्यापक और सूक्ष्म स्तर पर साहित्य में प्रस्तुतीकरण अवश्य हुआ है। आज भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देश का साहित्यकार चिंतित है। भारतीय साहित्य ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में इस प्रवृत्ति का व्यापक स्तर पर निरूपण हुआ है और अभी हो भी रहा है। लेकिन यदि भारतीय साहित्य और खास तौर से हिंदी साहित्य को देखें तो वर्तमान समय का लगभग समस्त हिंदी साहित्य इससे प्रभावित दिखाई देता है। कविता, कहानी तथा उपन्यास में भूमंडलीकरण के प्रभाव को विशेष रूप से देखा जा सकता है। आज नए-पुराने कवि व लेखक सभी (साहित्यकार) भूमंडलीकरण द्वारा उपजी विसंगतियों, परिस्थितियों से विचलित एवं प्रभावित होकर इसे अपनी-अपनी रचनाओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों आदि के द्वारा विश्लेषित तथा चित्रित कर रहे हैं।

2.5 भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य

हिंदी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण की प्रवृत्तियाँ 1990 के बाद से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यापक बदलाव आया। जिसे समय-समय पर रचनाकारों और लेखकों ने जाना पहचाना तथा उसे

[151]साहित्यिक निबंध, डॉ. रेणु वर्मा, पृष्ठ सं. 238

बहुत ही सशक्त ढंग से साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की हिंदी कविताओं, कहानियों, नाटकों, उपन्यासों आदि में भूमंडलीकरण की विभीषिका का चित्रण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों तथा इससे उपजी विभिन्न प्रकार की समस्याओं एवं विसंगतियों से आज लगभग प्रत्येक देश का साहित्यकार चिंतित है। भारत में लगभग पिछले दो दशकों से भूमंडलीकरण के प्रभावों को साहित्य में उकेरा जा रहा है। हिंदी साहित्य में भूमंडलीकरण के प्रभावों को लेकर काफी साहित्य सृजन हुआ है और अभी हो भी रहा है। हिंदी साहित्य में विशेष रूप से हिंदी कविता तथा हिंदी कथा-साहित्य में भूमंडलीकरण के प्रभाओं की स्पष्ट रूप से विवेचना हुई है।

2.5.1 भूमंडलीकरण और हिंदी कविता

भूमंडलीकरण की विसंगतियों को लेकर बहुत-सी कवितायें रची गयी हैं। क्षत-विक्षत होती संस्कृति, पूँजी का बढ़ता प्रभाव, मनुष्यता का क्षरण, उपभोक्तावाद और बाज़ारवाद की बढ़ती प्रवृत्ति, प्रकृति और पर्यावरण की बढ़ती समस्या, विज्ञापन तथा मीडिया का बदलता चरित्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर कवियों की सूक्ष्म दृष्टि पड़ी है और उन्होंने इसे अपनी कविता का विषय भी बनाया है। वर्तमान समय के लगभग सभी कवियों की कविता का सरोकार भूमंडलीकरण है। भूमंडलीकरण पूँजीवाद का नया रूप माना जाता है। हिंदी साहित्य में पूँजी को लेकर कई कवितायें रची गयीं हैं। मुक्तिबोध ने बहुत पहले ही पूँजी तथा पूँजीवाद के दुष्चक्र तथा इसके स्वभाव के विषय में अपनी लम्बी कविता ‘अँधेरे में’ लिखा था कि-

‘कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूँ,

वर्तमान समाज चल नहीं सकता

पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता

स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी

क्षल नहीं सकता मुक्ति के मन को

जन को।'

मुक्तिबोध अपने समकालीन व्यक्तिवादी आन्दोलन का संबंध सीधे पूँजीवाद से जोड़ते हैं वह इसके खिलाफ भी हैं। वहीं पर कवि गोरख पाण्डेय अपने प्रसिद्ध गीत 'पैसे का गीत' में कहते हैं-

'पैसे की बाहें अपार,

अजी पैसे की।

पैसे की महिमा अपरंपार,

अजी पैसे की'।

अर्थात् इस पूँजी तथा पूँजीवादी ताकतों के विभिन्न रूप हैं। आज ऐसे ही पूँजीवादी अर्थात् पूँजीपतियों की मौज है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा केदारनाथ सिंह ने भी 'पूँजी' शीर्षक से कविता लिखी है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के लिए पूँजी क्या है? उनकी कविता के माध्यम से देखते हैं-

'चुटकी भर मिट्टी

चोच भर पानी

चिलम भर आग

दम भर हवा

पूँजी है यह

खाने और परदेश जाने के लिए।'

अर्थात् इनके लिए मिट्टी, पानी और हवा आदि ही प्रमुख पूँजी हैं। लेकिन आज भूमंडलीकरण के इस दौर में इनका दोहन इस तरीके होने लगा है कि शुद्ध पानी और स्वच्छ हवा भी मिलना बहुत मुश्किल हो गया है।

भूमंडलीकरण के प्रभाव को लेकर कविता करने वाले कवियों में चंद्रकांत देवताले (चीजों का असह्य गंजापन, कैसा पानी कैसी हवा), कुँवर नारायण (वाजश्रवा के बहाने), अरुण कमल (वित्तमंत्री के साथ नाश्ते की मेज़ पर, चक्र), लीलाधार जगूड़ी (विज्ञापन सुंदरी), उदय प्रकाश (घर की दूरी, बैरागी आया है गाँव, दिल्ली), मंगेश डबराल (ताकत की दुनिया, भूमंडलीकरण, आधुनिक सभ्यता, पुरानी तस्वीरें), बद्रीनारायण (शब्दपदीयम, एक कवि की बिक्री, कटने वाले मांस के लिए एक बाज़ार गीत), अनामिका (खुरदुरी हथेलियाँ, दंडकारण्य), दिनेश कुमार शुक्ल (आगमन, वस्तुओं का व्याकरण), राजी सेठ (दुकानदार), उमाशंकर चौधरी (कहते हैं जब शहंशाह सो रहे थे) लीलाधर मंडलोई (हत्यारे उतर चुके हैं क्षीरसागर में), रामदरस मिश्र (विश्वग्राम), जया जादवानी (बाज़ार), विजय बहादुर सिंह (बाज़ार में दुख) कृष्णमोहन झा (नदी मतलब शोकगीत) पंकज राग (यह भूमंडल की रात है) आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा एकांत श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, कुमार अंबुज तथा मदन कश्यप आदि कवियों ने भी भूमंडलीकरण के दौर में क्षरण होती मनुष्यता को हिंदी कविताओं में अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं में भूमंडलीकरण की विभीषिका को अपने-अपने ढंग से विवेचित एवं चित्रित किया है। कुछ कविताओं के उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। चंद्रकांत देवताले अपनी कविता 'कैसा पानी कैसी हवा' मे चिंता व्यक्त करते हैं कि-

"किस तरह होती जा रही है दुनिया
कैसे छोड़कर जाऊँगा मैं
बच्चों तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को
इस काँटेदार भूलभुलैया में
किस तरह और क्या सोचते हुए
मरूँगा मैं कितनी मुश्किल से

साँस लेने के लिए भी जगह होगी या नहीं

खिड़की से क्या पता

कब दिखने बंद हो जाएँ हरी पत्तियों के गुच्छे.....

कारखाने जरूरी हैं

कोई अफसोस नहीं

आदमी आकाश में सड़के बनाए

कोई दिक्कत नहीं

पर वह शैतान

उसके नाखून ... भयानक जबड़े

वह शहरों-गाँवों पर मँडरा रहा है

और हमारी परोपकारी संस्थाएँ

हर घर से उसके लिए

जीवित मांस की व्यवस्था कर रही हैं

घरों की पसलियों पर

कारखानों की कुहनियों का बोझ

गलत बात है।"[152]

बाजारवाद और विज्ञापन तथा स्त्री विमर्श की दृष्टि से लीलाधर जगूड़ी की कविता 'विज्ञापन सुंदरी' काफी महत्वपूर्ण है-

"यह तो बाज़ार है जिसे अपने विज्ञापन के लिए

---

[152]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 19-20

विश्व सुंदरी की भी जरूरत है
वरना विश्व सुंदरी की भी क्या जरूरत है
विज्ञापन सुंदरी द्वारा प्रस्तुत करने योग्य जीवन में
कितने अनुपयोगी और कितने अदर्शनीय हैं हम
हमारे अप्रस्तुत जीवन में हर वक्त प्रस्तुत हैं
गोबर थापती, उपले पाथती गरीब गबरू औरतें।"[153]

मंगेश डबराल की एक कविता का शीर्षक है 'भूमंडलीकरण'। इसमें दुनिया व समाज के बदलने तथा मानवीय सम्बन्धों के ह्रास की व्यथा चित्रित हुई है-

"बड़ी तेजी से दुनिया बनती जा रही है
लोभ क्रोध ईर्ष्या द्वेष के लिए अब कहीं और नहीं जाना पड़ता
मनुष्यों के संबंध बहुत पतले तारों से बाँध दिए गए हैं
जो बात-बात में टूट जाते हैं
उन्हें जोड़ने के लिए फिर से जाना पड़ता है बाज़ार
जहाँ तमाम स्वादिष्ट चीज़ें एक बेस्वाद जीवन को घेरे हुए हैं
और इतना आपाधापी है कि दाएँ हाथ को बायाँ हाथ नहीं सूझता
हालाँकि दोनों हाथ लगातार तालियाँ बजाते हैं।"[154]

कृष्णमोहन झा की कविता 'नदी का मतलब शोक-गीत' बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और सरकार द्वारा चलाई जा रही विभिन्न

---

[153]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 24

[154]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय,अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 28

प्रकार की असफल परियोजनाओं को रेखांकित करती है। एक प्रकार से यह व्यंग्यात्मक कविता है। यह कविता मौजूदा समय के गंगा सफाई अभियान की दृष्टि से भी प्रासंगिक कविता है। नदियों की वास्तविक स्थिति को चित्रित करती यह कविता वास्तव में नदियों का शोक-गीत ही है-

"अब नदी का मतलब होता है
नगरों-महानगरों का कचरा ढोने वाला बहुत बड़ा नाला
अब नदी का मतलब होता है
स्याह बदबूदार लसलसाते पानी का मरियल प्रवाह
अब नदी का मतलब होता है
बुढ़ापे में तलाक़शुदा एक लाचार औरत की कराह...
नदी मतलब फिल्टर
नदी मतलब रंग-बिरंगे वाटर-प्यूरिफायर और मिनरल वाटर
नदी मतलब अरबों रुपये की सरकारी परियोजनाएँ
नदी मतलब सेमिनार नदी मतलब एन. जी. ओ
नदी मतलब पुस्तिका नदी मतलब विमोचन
नदी मतलब वर्ल्ड-बैंक नदी मतलब फोर्ड फाउंडेशन....।"[155]

रामदरस मिश्र अपनी कविता 'विश्वग्राम' में भूमंडलीकरण के 'ग्लोबल विलेज' की ही पोल खोलते हैं। इसे वह और कुछ नहीं बल्कि एक प्रकार से उपनिवेशवाद मानते हैं जो बाजारवाद के सहारे अपना महल बना रहा है-

---

[155]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 51

“विश्वग्राम

कितना अच्छा लगा था यह शब्द

एक संगीत-सा गूँज उठा था मन में

वाह, कितनी सदियों बाद

हमारा ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ रूप ले रहा है

अब देश तो क्या

पूरा विश्व एक गाँव में परिणत हो रहा है.....

तो कितना अच्छा लगा था यह जानकर कि

पूरा विश्व एक गाँव बन रहा है

अब पूरे विश्व में गाँव का-सा भाईचारा होगा

एक का सुख-दुःख दूसरे के सुख-दुःख का स्वर बनेगा

परिवार में जो सबसे नीचे गिरा होगा

सब मिलकर उसे उठाएँगें और साथ ले चलेंगें

पास के घर में अन्धकार होगा तो

पड़ोसी अपने घर का एक चिराग

उसकी ओर सरका देगा

धर्म, सम्प्रदाय, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, राष्ट्रवाद की

जो दूरियाँ नागिन-सी डस रही हैं

वे समा जाएँगी आत्मीयता के वैश्विक विस्तार में.....

धीरे-धीरे भेद खुलता गया कि

विश्वग्राम का मोहक महल

ग्राम-संवेदना पर नहीं, बाजारवाद पर खड़ा है.....

लेकिन अब ? विश्व के संपन्न वणिक देश

विश्वग्राम का मोहक नारा देकर पिछड़े देशों में

फैलाते जा रहे हैं बाज़ार का रंगीन मायाजाल

यानी एक नया उपनिवेश।"[156]

जया जादवानी अपनी कविता 'बाज़ार' में आश्चर्य व्यक्त करती हैं कि कैसे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हमारे बारे में सारी बातों को जान लेती हैं। हमारे दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली विभिन्न वस्तुओं के साथ-साथ हमारी सोच तथा जरूरतों को भी वह पहचान लेती हैं-

"कैसे जान लेते हैं वे

हमारी जरूरतें

कहे बिना हमारे

प्रेस करने की टेबल, कपड़े धोने को दो हाथ

चमड़ी चमकाने के कारगर नुस्खे.....

इतना तो खुद हमें भी नहीं पता हमें चाहिए क्या-क्या

हमें तो भीतर पंजे जकड़कर बैठी प्रेम की जरूरत के

बारे में भी नहीं चलता पता

औए वे एक साथी लाकर खड़ा कर देते हैं सामने

वे कैसे घुस जाते हैं हमारे घरों के भीतर।"[157]

---

[156]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 91-94

[157]समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), संपा. सुनील गंगोपाध्याय, अतिथि संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, पृष्ठ सं. 112

कुँवर नारायण अपनी प्रसिद्ध कविता 'वाजश्रवा के बहाने' में भूमंडलीकरण की विभीषिका को बिंबों के माध्यम से बहुत ही प्रभावी ढंग से चित्रित किए हैं। इसमें संकलित 'एक अन्य आरंभ' कविता में एक सोने की 'जादूनगरी' और कोई नहीं बल्कि अमेरिका को ही संकेत किया गया है-

"सोने की एक जादूनगरी ऐसा सुना है
उधर भी है
इसी भूगोल और इतिहास से निर्मित
ऐसा ही एक संसार-
इतना ही वस्तुमय
और इतना ही मायावी
इतना ही बंजर और ऊसर
एक चाँद की तरह
चमकता है दूर से
वहाँ से तुम्हें यह अपना घर भी
दिखाई देगा सुदूर यादों की धुन्ध में
बरसों से यही सुनती आ रही हूँ
ऐसा ही पढ़ा है कहानियों में
कि उधर जो भी जाता
फिर घर लौट कर नहीं आता।"[158]

बाजारवाद जो भूमंडलीकरण अर्थात् उदारीकरण की ही उपज है इसके स्वरूप के विषय में बद्रीनारायण अपनी कविता 'बाज़ार का गीत' में बतलाते हैं कि किस प्रकार भूमंडलीकरण का बाज़ार

[158]वाजश्रवा के बहाने, कुँवर नारायण, पृष्ठ सं. 57-58

शातिर शक्तियों का बाज़ार है, जिसमें साधारण या भोले-भाले मनुष्यों का टिकना बहुत मुश्किल है, क्योंकि वहाँ चारों तरफ सिर्फ़ धोखा ही धोखा है। बाजारवाद के दौर में बिचौलिये एवं दलालों की बढ़ती भूमिका और इसी दलाली संस्कृति को बद्रीनारायण अपनी कविता 'बाज़ार का गीत' में उद्घाटित किए हैं-

"जो कोई बाज़ार में आएगा
चार पैसे में बिकाएगा
पर दो ही पैसा पाएगा
दो तो दलाल ले जाएगा
हाँ ! जिसे ठीक से बिकना आएगा
वह दो की जगह दस भी पा जाएगा।"[159]

समकालीन हिंदी कविता में नव-उपनिवेश को लेकर भी चिंता व्यक्त की गयी है। इसकी सच्चाई से सभी वाकिफ हैं। भूमंडलीकरण के रूप में ऐसा लग रहा है कि वह फिर से वापस आ रहा है। इसी नव-उपनिवेश के खतरे के प्रति कवि ऋतुराज हमें आगाह करते हैं-

"जो चला गया था जैसे हमेशा के लिए खो गया हो
वह लौटता दिखाई दे रहा है।"[160]

उपनिवेश का आगमन देश के लिए एक बड़ा खतरा है क्योंकि इसमें सिर्फ़ पूँजी का ही महत्व होता है। इसकी क्रूरता और इतिहास के विषय में सभी जानते हैं। इसलिए यह किसी भी हालत में अच्छा नहीं है।

---

[159]शब्दपदीयम, बद्रीनारायण, पृष्ठ सं. 50

[160]आशा नाम नदी, ऋतुराज, पृष्ठ सं. 16

भूमंडलीकरण एक प्रकार से सांस्कृतिक आक्रमण के समान है। समकालीन कवि इसे इसी रूप में देखते हैं। साम्राज्यवादी ताक़तें विभिन्न प्रकार की चाल चलकर दूसरे देशों की जनता को गुलाम बनाती रही हैं और हम पर अपनी चीजें थोपती रही हैं और हम आज भी इनके लोक-लुभावने जाल में फसते चले जा रहे हैं। यह हमारा अंधानुकरण अर्थात्नासमझी हमें पाश्चात्य संस्कृति या अपसंस्कृति के भँवर में धकेलता चला जा रहा है। आज हम उपयोग करके फेकने (यूज़ एंड थ्रो) की पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर रहे हैं। इसी सच को कवि उमाशंकर चौधरी अपनी कविता 'कहते हैं जब शहंशाह सो रहे थे' में कुछ इस तरह से व्यक्त करते हैं-

"बोतलबंद पानी पीकर उस बोतल को 'क्रश' कर देते हो
क्योंकि तुम्हें याद है कि वह निर्देश
'क्रश' द बोटल आफ्टर यूज़'
पर क्या तुम्हें पता है
इस तरह फँसते-फँसते विचार के मद में
उस बोटल की तरह तुम भी धीरे-धीरे रिक्त होते जा रहे हो
और जिस दिन तुम पूरी तरह रिक्त हो जाओगे
तुम भी खाली बोटल की तरह
बगैर कोई निर्देश के क्रश कर दिये जाओगे।"[161]

भूमंडलीकरण को कवि कुमार अंबुज एक अंधेरे के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि भूमंडलीकरण की रोशनी इतनी चौकाने वाली है कि परछाईयों का अँधेरा फैलता जा रहा है-

"हर कोई हर कदम पर चौंकता है
यह कैसी रोशनी है जिसमें हर चीज़ की परछाईं

[161]कहते हैं जब शहंशाह सो रहे थे, उमाशंकर चौधरी, पृष्ठ सं. 64-65

अँधेरे की तरह गिर रही है

यह कैसी रोशनी है जिसमें पहचान में नहीं आता कोई चेहरा

सिर्फ़ परछाईं-सी दिखती है।"[162]

इस प्रकार उपर्युक्त कवियों की कविताओं के उदाहरण तथा उनके विवेचन से स्पष्ट है कि समकालीन हिंदी कवि भूमंडलीकरण की वास्तविकता से अच्छी तरह वाकिफ हैं। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप उपजी विभिन्न विसंगतियों एवं समस्याओं को हम इनकी कविताओं में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

2.5.2 भूमंडलीकरण और हिंदी कथा-साहित्य

भूमंडलीकरण के प्रभावों की अत्यधिक सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति हिंदी कथा-साहित्य में हुई है। कथा-साहित्य के अंतर्गत मुख्य रूप से कहानी और उपन्यास की चर्चा की जाती है। यह दोनों हिंदी साहित्य की ऐसी महत्वपूर्ण विधाएँ हैं जिनमें सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का यथार्थ अत्यधिक निकटता और विस्तार से चित्रित करने की क्षमता निहित होती है। कहानी तो अपने परिवेश और वातावरण में घटित घटनाओं के माध्यम से बहुत जल्दी और तीव्र गति से रूप ग्रहण करती है। वहीं उपन्यास कहानी की अपेक्षा समस्याओं को और अधिक विस्तार से विवेचित तथा विश्लेषित करता है। उपन्यास विधा में हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा भूमंडलीकरण की विसंगतियों और समस्याओं का चित्रण बहुत ही व्यापक स्तर पर हुआ है। इस प्रकार उपन्यास विधा भूमंडलीकरण की विभीषिका तथा उसकी समस्याओं व विसंगतियों के चित्रण के मामले में अन्य विधाओं की अपेक्षा सबसे अग्रणी है।

---

[162]क्रूरता, कुमार अंबुज, पृष्ठ सं. 68

2.5.3 भूमंडलीकरण और हिंदी कहानी

भूमंडलीकरण एक ऐसी परिघटना है जिसने समाज तथा साहित्य को बहुत ही गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। भूमंडलीकरण रूपी अपसंस्कृति को हिंदी कहानियों में बहुत ही सूक्ष्म ढंग से चित्रित किया गया है। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने व्यक्ति और व्यवस्था को अपने मायाजाल में जकड़ लिया है। जिससे व्यक्ति की संवेदनशीलता का ह्रास हुआ है यही वजह है कि आज का व्यक्ति स्वार्थी और आत्मकेंद्रित हो गया है। यही वह शक्तियाँ हैं जो भारतीय व्यक्ति, समाज में विघटन की जिम्मेदार हैं। भूमंडलीकरण और उदारीकरण ने ही आर्थिक असमानता, अमीर और गरीब के बीच बढ़ती खाईं, दलित-आदिवासी तथा अल्पसंख्यकों का बढ़ता शोषण, प्राकृतिक संशाधनों का बढ़ता दोहन, किसानों, मजदूरों की दयनीय दशा, बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद का बढ़ता वर्चस्व, मीडिया तथा विज्ञापन की भेड़चाल, नारी की स्थिति, मानवीय मूल्यों का पतन आदि जैसी समस्याओं को और अधिक भयावह बनाया है। भूमंडलीकरण द्वारा उपजी इन तमाम समस्याओं एवं विसंगतियों को हिंदी कहानी में बहुत ही बारीकी से चित्रित किया गया है। एक प्रकार से ये मुद्दे या विषय हिंदी कहानी की प्रमुख चिंता के रूप में उभरे हैं।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप उपजी इन विसंगतियों को हिंदी कहानीकारों ने बहुत ही प्रभावी ढंग से अपनी-अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है। जिनमें कमलेश्वर, गिरिराज किशोर, सूर्यकांत नागर, उदय प्रकाश, मनोहर श्याम जोशी, संजीव, मृणाल पांडे, रमेश उपाध्याय, जयनंदन, विष्णु नागर, रणेन्द्र, पंकज बिष्ट, अखिलेश, प्रेमकुमार मणि, चित्रा मुद्गल, सुनीता जैन, मनीषा कुलश्रेष्ठ, नीलाक्षी सिंह, जयश्री रॉय, कुसुम अंसल आदि प्रमुख हैं। इनकी कहानियों में भूमंडलीकरण का प्रतिरोध स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है।

दरअसल 1990 ई. के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण का जो दौर शुरू हुआ, उसने भारतीय व्यवस्था को जड़ से हिलाकर रख दिया। इसे अस्थिर करने और विस्तार देने में मंडल कमीशन और बाबरी मस्जिद के ध्वंस की घटना ने निर्णयकारी भूमिका निभाई। यद्यपि 1980 के बाद के कहानीकारों ने भी परिवर्तन और विकास की इन अवस्थाओं को लेकर यादगार कहानियाँ लिखी। परंतु, इस सदीं के आखिरी दशक में उदय प्रकाश ने दंगा को लेकर 'और अंत में प्रार्थना', अरुण प्रकाश ने पंजाब के आतंकवाद के साये में काम कर रहे बिहारी मजदूरों को लेकर 'भैया एक्सप्रेस' मो. आरिफ ने आतंक के साये में जी रहे आम लोगों को लेकर 'तार', संजय खाती ने उपभोक्तावाद को लेकर 'पिंटी का साबुन', अखिलेश ने उपभोक्तावादी बाजार व्यवस्था में मनुष्य की जिन्दगी को लेकर 'जलडमरूमध्य', प्रेम कुमार मणि ने नई आर्थिक व्यवस्था में गाँव को लेकर 'खोज', ओमा शर्मा ने भूमंडलीकरण को लेकर 'भविष्यद्रष्टा', कैलाश वनवासी ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ और उसमें सीमांत किसानों की जिन्दगी को लेकर 'बाजार में रामधन', अवधेश प्रीत ने नक्सलवाद की स्थितियों को लेकर 'नृशंस', चन्दन पाण्डेय ने उदारीकरण के युग में आम आदमी की विवशता भरी जिन्दगी के यथार्थ को लेकर 'भूलना' आदि यादगार कहानियाँ लिखी हैं, जो अद्भुत हैं।[163]

2.5.4 भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास

हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप उपजी विभिन्न प्रकार की समस्याओं एवं विसंगतियों का चित्रण बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यापक स्तर पर हुआ है। चूँकि उपन्यास में विस्तार आधिक होता है, इसलिए वस्तुत: इसमें भूमंडलीकरण की समस्याएँ बहुत विस्तार और गहराई से चित्रित हुई हैं।

---

[163]आलेख - समकालीन हिन्दी कहानी की दुनिया और सामाजिक अस्मिता के प्रश्न, देवेन्द्र चौबे, http://shabdayatra.blogspot.in/2015/11/blog-post_65.html

डॉ. पुष्पपाल सिंह के अनुसार- "हिंदी उपन्यास ने बहुत सूक्ष्म संवेदन, गहराई और विस्तार में जाकर देश, समाज और व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कथात्मक धरातल पर किया है। भूमंडलीकृत प्रभावों का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो हिंदी उपन्यास में चित्रित न हुआ हो।"[164] सन् 1990 के बाद के हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप अत्यधिक तीव्र गति से गरीबी, भुखमरी, पिछड़ापन, बेरोजगारी आदि समस्याएँ और बढ़ी ही हैं। साथ ही पाश्चात्य संस्कृति के प्रति अंधानुकरण एवं एक नए तरीके की उपभोक्तावादी संस्कृति विकसित हुई है। हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण द्वारा उपजी इस अपसंस्कृति तथा इसके यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भूमंडलीकरण से उपजी तमाम विसंगतियों और समस्याओं जैसे- भ्रष्टाचार, गरीबी, दलितों की स्थिति, आदिवासियों की स्थिति, नयी नारी चेतना, किसान समस्या, आतंकवाद, विषैली राजनीति, जनतंत्र पर हाबी होता अर्थतंत्र, उपभोक्तावाद, सामाजिक तथा पारिवारिक विघटन, सामाजिक संबंधों का ह्रास, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों का पतन आदि को केंद्र में रखकर हिंदी उपन्यासों का लगातार सृजन हो रहा है।

हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया एवं इसकी विसंगतियों को रेखांकित करने वाले प्रमुख उपन्यासकार हैं- काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, संजीव, एस. आर. हरनोट, रवीन्द्र कालिया, रवीन्द्र वर्मा, राजू शर्मा, गिरिराज किशोर, अखिलेश, प्रदीप सौरभ, रणेन्द्र, राकेश कुमार सिंह, विनोद कुमार, कुणाल सिंह, स्वयं प्रकाश, बद्रीसिंह भाटिया, पंकज सुबीर, भगवान दास मोरवाल, अजय नावरिया, विजय सौदाई, सत्यनारायण पटेल, महेंद्र भीष्म, जयनंदन तथा महिला उपन्यासकारों में अलका सरावगी, ममता कालिया, मधु कांकरिया, कमल कुमार, नीलाक्षी सिंह, शरद सिंह, सुषमा जगमोहन, नीरजा माधव, निर्मला भुराड़िया तथा जयश्री रॉय आदि।

---

[164]भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, डॉ. पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं. 75-76

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक-सांकृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर जो भी परिवर्तन एवं बदलाव आया है उसका सशक्त चित्रण हिंदी उपन्यासों में हुआ है। साथ ही हमारे जीवन और जीवन-पद्धति में आए हुए बदलाव को भी उपन्यासकारों ने हिंदी उपन्यासों में बहुत ही सूक्ष्म ढंग से चित्रित किया है। भूमंडलीकरण की विभीषिका को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों में 'दौड़', 'कल्चर वल्चर' (ममता कालिया) 'सेज पर संस्कृत' (मधु कांकरिया), 'एक ब्रेक के बाद', 'कलि-कथा : वाया बाइपास' (अलका सरावगी) 'पासवर्ड' (कमल कुमार), 'शुद्धिपत्र' (नीलाक्षी सिंह), 'जिंदगी ई-मेल' (सुषमा जगमोहन), 'गुलाम मंडी' (निर्मला भुराड़िया), 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह), 'पाँच आँगनो वाला घर' (गोविंद मिश्र), 'धार', 'सावधान! नीचे आग है', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'फाँस' (संजीव), 'दस बरस का भँवर', 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा', 'आखिरी मंजिल' (रवींद्र वर्मा), 'विसर्जन', 'हलफनामे' (राजू शर्मा) 'एबीसीडी' (रवींद्र कालिया), 'हिडिंब' (एस. आर. हरनोट), 'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर), 'निर्वासन' (अखिलेश), 'मुन्नी मोबाइल', 'तीसरी ताली', 'देश भीतर देश' (प्रदीप सौरभ), 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश' (रणेन्द्र), 'जो इतिहास में नहीं है', 'पठार पर कोहरा', 'जहाँ खिले हैं रक्तपलाश', 'हुल पहाड़िया' (राकेश कुमार सिंह), 'रेड जोन' (विनोद कुमार), 'आदिग्राम उपाख्यान' (कुणाल सिंह), 'ईधन' (स्वयं प्रकाश), 'डेंजर ज़ोन', 'रिले-रेस' (बद्रीसिंह भाटिया), 'उधर के लोग' (अजय नावरिया), 'दलित' (विजय सौदाई), 'गाँव भीतर गाँव' (सत्यनारायण पटेल), 'अकाल में उत्सव' (पंकज सुबीर), 'विघटन' (जयनंदन), 'नक्सल' (उद्भ्रांत) आदि प्रमुख हैं।

रवींद्र वर्मा ने अपने उपन्यास 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा' में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को एक ऐतिहासिक काल-क्रम में रखकर देखने का प्रयास किया है। इस उपन्यास में एक प्रसंग आता है जब उपन्यास के पात्र 'मुरली' (मुरली मनोहर) 'धुलेकर' और 'रामलाल' जलियाँवाला हत्याकांड के विरोध में हुई हड़ताल पर चर्चा के प्रसंग में भूमंडलीकरण व औपनिवेशिक शक्तियों के साम्राज्यवादी

विस्तार पर चर्चा करते हैं, "....यह बात 1857 की नहीं, सदियों पुरानी है जब यूरोप ने भूमंडलीकरण शुरू किया।" 'भूमंडलीकरण क्या है? मुरली ने अचरज से पूछा। इसके उत्तर में वक्ता का कथन है, "उन्होने धरती पर व्यापार के बहाने उपनिवेशों की खोज शुरू की, जहाँ से वे कच्चा माल अपने कारखानों में ले जाएँ और तैयार माल वापस उपनिवेशों के बाज़ार में भेज दें। इस व्यापार में उपनिवेशों के उद्योग चौपट हुए और धीरे-धीरे गोरे उपनिवेशों में भी अपने उद्योग लगाने लगे। हमारे देश में यही हुआ। पड़ौस में कानपुर दूसरा मैनचेस्टर हो रहा है। माल हमारा-मुनाफा उनका! जिसका जूता, उसी का सर।" धुलेकर इस संवाद को आगे बढ़ाता हुआ भूमंडलीकरण के साम्राज्यवाद पर प्रहार करता है, "इसी भूमंडलीकरण का दूसरा नाम साम्राज्यवाद है, जिसे गोरे 'गोरे का कर्तव्य' (ह्वाइट मैंस बर्डन) भी कहते हैं। वे हमें गुलाम बनाकर हम पर एहसान कर रहे हैं-हमें नई तकनीक और संस्कृति दे रहे हैं।"[165] धुलेकर का यह कथन वाकई में एकदम सच ही है। भूमंडलीकरण वास्तव में नव-साम्राज्यवाद ही जिसे अपने उत्पादों को बेचने के लिए विश्व–भर के संभावनाशील बाज़ारों की तलाश है।

'दस बरस का भँवर' उपन्यास में भी रवींद्र वर्मा ने भूमंडलीकरण के जमाने की चर्चा करते हुए यह बतलाया है कि कैसे इस जमाने में बाजारवाद हम सभी पर हावी होता जा रहा है। भूमंडलीकरण एक प्रकार का बाजारवाद ही है। इसमें यह दिखलाया गया हैं कि कैसे कोई चीज़ भूमंडलीकृत होती है। उपन्यास में गणेश जी के दूध पीने की खबर कैसे भूमंडलीकृत हुई उसका एक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं- "आज सुबह ग्यारह बज़े दिल्ली से खबर आई थी कि गणेश जी दूध पी रहे हैं। इस खबर की ताईद बंबई, कलकत्ता और बंगलौर से भी हुई थी। जैसे-जैसे दिन चढ़ा, पहले खबर अखिल भारतीय हुई, फिर भूमंडलीकृत हो गयी। यह भूमंडलीकरण का जमाना था। हरचीज़ समूची धरती पर फैलने को तड़प रही थी।"[166] यही तो भूमंडलीकरण और बाजारवाद की नियति भी है। वह भी अपने माल या उत्पादों

---

[165]मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 154

[166]दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 49

के लिए हमेशा बाज़ार की तलाश में लगा रहता है। इसलिए आज के मौजूदा समय को बार-बार रवींद्र वर्मा भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद का जमाना कहते हैं।

इस उपन्यास में रवींद्र वर्मा भूमंडलीकरण द्वारा उपजी पाश्चात्य संस्कृति अर्थात् भूमंडलीय अपसंस्कृति की भी कलई खोलते हैं। यहाँ संबन्धों का आधार सिर्फ़ पूँजी अर्थात्धन है। उपन्यास के पात्र 'रतन' ने अपनी नौकरी चली जाने के बाद अमेरिका में जा बसे अपने भाई 'मदन' से पूरे व्यापारिक शब्दावली में भारत में पूँजी निवेश की बात करता है। वह उसे एक लंबा पत्र लिखता है। 'रतन' अपने भाई को जिस प्रकार से पत्र लिखता है उसे देखकर यह लगता है कि वह किसी अमेरिकी कंपनी से भारत में व्यापार करने की बात चला रहा हो। पत्र में धीरूभाई अंबानी के उद्योग साम्राज्य का जिक्र करते हुए वह यह साबित करना चाहता है कि किस प्रकार से व्यक्ति शून्य से शिखर तक पहुँच सकता है, वह भी उसी प्रकार शिखर या ऊँचाई पर पहुँच सकता है। ‘‘इस भूमंडलीकरण के दौर में अमेरिका से लेकर हिन्दुस्तान तक नौकरियों के संसार का सिकुड़ना था। अंत में, यह सवाल पूछा गया था कि भारत में भैया कितना पूँजी निवेश करना चाहेंगे।’’[167]

अगले सप्ताह 'मदन' का पत्र आता है उसमें पूँजी निवेश की पेचीदगियों का बयान था। प्रमुख तत्व लाभ था। लाभ तभी संभव था जब उद्योग विश्वसनीय, अनुभवी हाथों में हो। 'मदन' 'रतन' को पैसे लगाने के बजाय उसे नौकरी करने की सलाह देता है। इसमें पारिवारिक संबंध किस प्रकार अर्थ केन्द्रित हो गए हैं यह भी बखूबी चित्रित किया गया है। बड़े भाइयों के पैसे से पढ़-लिखकर आज अमेरिकी हुए 'मदन' में इसे हम आसानी से देख सकते हैं। आज वह स्वयं अपने छोटे भाई 'रतन' की उद्यमशीलता के रास्ते में रोड़े अटका रहा है। ‘‘कुछ लाख रुपए उसके लिए हाथ का क्या, पैर का मैल थे। लेकिन अब किसी सेठिए की तरह वह दमड़ी दाँतों से पकड़ रहा था। उसने तो साफ़-साफ़ ही लिख दिया था कि बिना मुनाफ़े की गारंटी के वह कुछ भी करने को तैयार नहीं। तब फिर उसमें और किसी

---

[167] दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 69

और अमेरिकी पूँजीपति में फर्क ही क्या था?[168] अमेरिका भारत में वैसे ही अपना उपनिवेश फैला रहा है जैसे कभी अंग्रेजों ने फैलाया था। इसका वर्णन उपन्यास के पात्र 'नमन' के भाषण में देखा जा सकता है। इसमें वह भूमंडलीकरण, उपनिवेशवाद और उसके प्रकोप के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति की पोल खोलता है। "उसने आंकड़ों की मदद से बताया कि भूमंडलीकरण का पहला दशक अवसान की ओर अग्रसर है और उसके राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय प्रवक्ताओं के सुनहरे वादे धूल में लोट रहे हैं। उसने कहा कि किसानों और मजदूरों की आत्महत्या का दौर शुरू हो गया है। वह दिन दूर नहीं जब बैंक के कर्मचारी भी इसी राह पर चलेंगे। मध्यवर्गीय कर्मचारी किसी धोखे में न रहें ! यह पिज्जा और डिजाइनर कपड़ों का संसार घरों में टी. वी. का परदा उठाकर घुस रहा है। बच्चे हज़ारों के कपड़े और जूते माँगते हैं। कल बैंकों का निजीकरण होगा और छटनी होगी। जो बच्चे आज पिज्जा खा रहे हैं, उनके लिए रोटी जुटाना मुश्किल हो जाएगा। दोस्तों, नमन ने कहा-दो सदी पहले अंग्रेजों ने एक हाथ में सलीब और दूसरे हाथ में बंदूक लेकर हमारे देश में प्रवेश किया था। इस दशक में गोरों ने फिर एक हाथ में पेप्सी और दूसरे हाथ में टी. वी. का केबिल लेकर हमारी धरती पर कदम रखे हैं। धरती पर कदम रखने वाले वे ख़ुद नहीं हैं। उनके अक्स हैं। ये अक्स अन्तरिक्ष में घूमते सैटलाइट के जरिए हमारे घरों में आते हैं। हमें पता नहीं चलता। हम अमरीकी बिम्बों के गुलाम हैं।"[169] 'नमन' के इस कथन में कितना दर्द है, कितनी पीड़ा है, उसका यह कथन भूमंडलीकरण के वास्तविक रूप का रेखांकन भी प्रस्तुत करता है।

काशीनाथ सिंह ने भी अपने उपन्यासों 'काशी का अस्सी' और 'रेहन पर रग्घू' में भूमंडलीय अपसंस्कृति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक संबन्धों, मानवीय मूल्यों, नैतिकता आदि का ह्रास हुआ है। इसने समाज की संरचना पर भी प्रहार किया है।

---

[168]दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 70

[169]दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 73-74

जिससे टूटन और विघटन की स्थिति पैदा हो गयी है। आज संबन्धों का आधार सिर्फ़ पूँजी अर्थात् धन हो गया है। मानवीय संवेदनाएँ मृतप्राय हो चुकी हैं। करुणा, दया, ममता जैसी भावनात्मकता के लिए कोई स्थान नहीं बचा है। चारों ओर बाज़ारवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति दिखाई देने लगी है। समाज की इसी सच्चाई को काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में चित्रित किया है। अमेरिका के प्रति आकर्षण और वहाँ पर बसने की प्रवृत्ति आज इस कदर हावी होती जा रही है जिसकी वजह से व्यक्ति अपनी जमीनी संस्कृति से उखड़ता चला जा रहा है। उसके लिए रिश्तों की कोई अहमियत नहीं है उसे सिर्फ़ अपना भौतिक जीवन समृद्ध करना है।

इस उपन्यास में 'रग्घू' अर्थात्'रघुनाथ' मास्टर अपनी नई पीढ़ी को अमेरिका में बसते देख बहुत चिंतित होते हैं। वह अपने मन में सोचते हैं कि-"कभी सोचा था कि कभी ऐसे छोटे-से गाँव से लेकर अमेरिका तक फैल जाओगे? चौके में पीढ़ा पर बैठकर रोटी प्याज नमक खानेवाले तुम अशोक विहार में बैठकर लंच और डिनर करोगे।"[170] यह उपन्यास समकालीन समय के पारिवारिक जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करता है। आज का व्यक्ति सामाजिकता एवं नैतिकता के धरातल पर बहुत ही तुच्छ होता जा रहा है। सामाजिक संबन्धों की गरिमा को ठोकर मारता जा रहा है। भूमंडलीकरण ने आज ऐसी संस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है। "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[171]

---

[170]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 13

[171]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 98

अलका सरावगी ने अपने उपन्यासों 'कलिकथा : वाया बाईपास' और 'एक ब्रेक के बाद' में भूमंडलीकरण अर्थात् अमेरिकीकरण के बढ़ते दुष्प्रभावों को काफी सशक्त ढंग दे चित्रित किया है। 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास तो पूरी तरह से भूमंडलीय संस्कृति (कार्पोरेट जगत्) पर ही केन्द्रित है। गुरुचरण, भट्ट और रघुनाथन जैसे चरित्रों के माध्यम से अलका सरावगी ने इस उपन्यास में कार्पोरेट जगत् की धोखाधड़ी एवं इनकी नीतियों को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है। साथ ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप हमारे आचार-विचार तथा जीवन-मूल्यों में पिछले कुछ वर्षों में जिस तेजी से बदलाव आया है उसे भी इस उपन्यास में बहुत यथार्थ रूप में विश्लेषित किया गया है। अब अगले अध्याय में भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यासों का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

निष्कर्ष

वस्तुतः भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत बीसवीं सदी के अंतिम दशक से होती है। जुलाई 1991 में वी. पी. नरसिंह राव सरकार द्वारा लागू की गयी नई आर्थिक-नीति के साथ ही भारत में इस प्रक्रिया की शुरुआत होती है। जिसके कारण उदारीकरण और निजीकरण को प्रोत्साहन दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में वित्त तथा व्यापार की खुली छूट मिल गयी। इसी का लाभ उठाकर यहाँ पर बहुत-सी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने में कामयाब हो गईं। इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने बाजारवाद को जन्म दिया और इस बाजारवाद तथा बाजारवादी-संस्कृति ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। इस बाजारवादी-संस्कृति में मनुष्य मात्र उपभोक्ता बनकर रह गया। क्योंकि बाजारवाद सभी को सिर्फ एक उपभोक्ता की दृष्टि से देखता है। तथा इसकी केन्द्रीय धुरी सिर्फ़ अर्थ पर केन्द्रित है। इस प्रकार इसमें आपसी संबंधों की धुरी का आधार सिर्फ़ और सिर्फ़ अर्थ या धन हो गया है। इसी अत्यधिक धन की चाह में आज का व्यक्ति या मनुष्य इतना उतावला हो गया है कि उसे और कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। लगभग सभी के लिए अत्यधिक धन की चाह और भौतिक सुख-समृद्धि ही मूलमंत्र हो गया है। इस प्रकार की जीवन-दृष्टि भूमंडलीकरण की ही उपज है। हिंदी

साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण की प्रवृत्तियाँ 1990 के बाद से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यापक बदलाव आया। जिसे समय-समय पर रचनाकारों और लेखकों ने जाना पहचाना तथा उसे बहुत ही सशक्त ढंग से साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की हिंदी कविताओं, कहानियों, नाटकों, उपन्यासों तथा हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में भूमंडलीकरण की विभीषिका का चित्रण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगता है।

अध्याय-3

भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास : एक विवेचन

3.1 गायब होता देश (2014) रणेन्द्र

3.2 ग्लोबल गाँव के देवता (2009) रणेन्द्र

3.3 जिंदगी ई-मेल (2008) सुषमा जगमोहन

3.4 तीसरी ताली (2011) प्रदीप सौरभ

3.5 दस बरस का भँवर (2007) रवीन्द्र वर्मा

3.6 दौड़ (2000) ममता कालिया

3.7 फाँस (2015) संजीव

3.8 मुन्नी मोबाइल (2009) प्रदीप सौरभ

3.9 रेहन पर रग्घू (2008) काशीनाथ सिंह

3.10 स्वर्णमृग (2012) गिरिराज किशोर

अध्याय-3

भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास : एक विवेचन

प्रस्तावना

आज का युग सूचना क्रांति और भूमंडलीकरण का युग है। आधुनिकता के इस यांत्रिक युग में हर कोई अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयासरत है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में सभी आवश्यकता से अधिक यांत्रिक बनते जा रहे हैं और इसका प्रभाव समाज पर इतनी तेजी से पड़ रहा है कि समाज भी उतनी ही तीव्रगति से बदल रहा है। आज का मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन-मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन-मूल्य बहुत ही विसंगतिपूर्ण हैं। फिर भी भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया ने सिर्फ और सिर्फ विसंगतियाँ ही नहीं पैदा की, बल्कि इसकी कुछ मूलभूत विशेषताएँ भी हैं। अतः भूमंडलीकरण के समुचित विवेचन द्वारा ही इस तथ्य को और अधिक प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। भूमंडलीकरण एक प्रकार से सामाजिक, साँस्कृतिक, आर्थिक और कहें तो राजनीतिक बदलाव का प्रमुख कारण है, यह हमें किसी न किसी प्रकार से प्रभावित कर रहा है। यह हमारे जीवन के आंतरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का इतना प्रभाव हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देश के साहित्यकार चिंतित हैं। भारतीय साहित्य और खास तौर से हिंदी साहित्य को देखें तो लगभग समस्त हिंदी साहित्य इससे प्रभावित दिखता है। कविता, कहानी तथा उपन्यास में वैश्वीकरण के प्रभाव विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। नए-पुराने लेखक, कवि व सभी विद्वान आज भूमंडलीकरण द्वारा उपजी परिस्थिति से विचलित और प्रभावित होकर इसे अपनी कविता तथा अन्य विधाओं में विभिन्न

बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों आदि के द्वारा विश्लेषित तथा चित्रित कर रहे हैं। फिर उपन्यास तो संपूर्ण मानव जीवन का अंकन करता है। अतः यह तय है कि इसमें भूमंडलीकरण का प्रभाव अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक हुआ होगा। इसलिए हिंदी उपन्यास के सन्दर्भ में भूमंडलीकरण और भूमंडलीकरण के सन्दर्भ में हिंदी उपन्यास का विवेचन अनिवार्य हो जाता है। अत: प्रस्तुत है भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यासों का संक्षिप्त विवेचन।

3.1 गायब होता देश (2014) रणेन्द्र

रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश' आदिवासी समाज की समस्याओं, संकट की स्थिति, उनकी कला एवं संस्कृति आदि को केंद्र में रखकर लिखा गया है। 'गायब होता देश' (पेंगुईन बुक्स, 2014) से प्रकाशित इनका दूसरा उपन्यास है। हालाँकि रणेन्द्र अपने पहले उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी 'असुर' जनजाति यानी एक आदिवासी समाज की ही समस्या को उठाये थे। वहीं अपने दूसरे उपन्यास 'गायब होता देश' में भी आदिवासी समाज की 'मुंडा' जनजाति को केंद्र में रख कर उनकी वास्तविकताओं से समाज को अवगत कराने का सराहनीय प्रयास किया है। चूँकि रणेन्द्र आदिवासी समुदाय के बीच काफी समय से रह रहे हैं। यही वजह है कि वह आदिवासी समाज से भली-भाँति परिचित भी हैं। रणेन्द्र ने आदिवासी समुदाय के बीच रहकर वहाँ की समाज और संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में किया है। रणेन्द्र ने भूमंडलीकरण के विविध-आयामों : सामाजिक-साँस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आयामों में खासकर आर्थिक आयाम को लिया है। इस आर्थिक आयाम का आदिवासी समाज एवं संस्कृति पर क्या कुप्रभाव पड़ रहा है, इसे उन्होंने इस उपन्यास में सही-सही पहचानने का प्रयास किया है। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में 'गायब होता देश' को विश्लेषित करना उपयुक्त हो जाता है। 'गायब होता देश' उपन्यास की अंतर्वस्तु के विषय में स्वयं लेखक रणेन्द्र का कथन है कि- "'गायब होता देश' की विषयवस्तु आदिवासी मुंडा समुदाय के

असह्य शोषण, लूट, पीड़ा, विक्षोभ पर ही केंद्रित है।....आजादी के बाद विकसित देशों के कथित विकास मॉडल ने विस्थापन के वज्र से जो आघात आरंभ किया उसकी चोट ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थायी बंदोबस्ती, जमींदारी प्रथा से भी ज्यादा गहरी और मारक थी। 1991 ई. के बाद उपभोक्तावादी पूँजीवाद को ज्यादा खनिज, ज्यादा जंगल, ज्यादा जमीन चाहिए। कल तक बाहुबली बिल्डर दबंगई के बल पर अपना पेशा चला रहे थे। नई आर्थिक नीति और 2008 की महामंदी ने रियल एस्टेट को सबसे ज्यादा मुनाफा देने वाले सेक्टर में बदल दिया है। वही रंगदार-बिल्डर अब प्रतिष्ठित कॉरपोरेट है। जमीन की लूट की गति हमारे अनुमान से भी ज्यादा तेज है। स्वाभाविक है कि झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा आदि राज्यों में इस सेक्टर का सबसे बड़ा शिकार आदिवासी समुदाय है। ....यही जलते प्रश्न नए उपन्यास की अंतर्वस्तु हैं।"[172]

रणेन्द्र ने यह उपन्यास बाबा रामदयाल मुंडा की स्मृति एवं दीदी दयामनी बारला और इरोम शर्मिला चानू के संघर्ष के जज्बे को समर्पित किया है। इसमें मुंडा आदिवासी समाज के संकट, शोषण, लूट, पीड़ा और प्रवंचना का इतिवृत्त है- किस तरह 'सोना लेकन दिसुम' (सोना जैसा देश) विकास के नाम पर रियल एस्टेट द्वारा ग्लोबल भूमंडलीकृत पतन का शिकार है। (उपन्यास के प्राक्कथन से) एक बिडम्बना यह भी है कि इस शोषण और लूट में स्वयं आदिवासी तबके के उच्च पदों पर पहुँचे हुए लोग भी शामिल हैं। लेकिन वहीं दूसरी तरफ सोमेश्वर मुंडा, नीरज पाहन, अनुजा पाहन, सोनामनी दी ऐसे आदिवासी लोग भी हैं जो अपना सब कुछ त्याग कर इन शोषण करने वालों या यों कहें कि पूँजीवादी ताकतों से संघर्ष करते रहते हैं। इन लोगों को इसमें छोटी-छोटी ही सही लेकिन सफलताएँ मिलती जरूर हैं। इनकी इसी सफलताओं तथा उपन्यास के शीर्षक के विषय में आलोचक डॉ. प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव लिखते हैं कि- "उपन्यास के शीर्षक और उसके आखिरी घटना-सत्य में एक

---

[172]रणेंद्र का साक्षात्कार, 'व्यापक समाज अब आदिवासियों के संघर्ष को महसूस कर रहा है' रुबीना सैफी (तहलका, हिंदी पत्रिका) http://tehelkahindi.com

ज़बरदस्त द्वंद्व है। शीर्षक में जो 'गायब होता देश' है, उपन्यास का अंत होते-होते, वही अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए लड़ता हुआ, बल्कि छोटी- छोटी ही सही, जीत हासिल करता हुआ देश है। संभव है कि आज उसका 'गायब होते जाना' प्रबलतर सच्चाई हो, लेकिन उसका लड़ते हुए आगे बढ़ना भी एक सच है जिसे संगठित होता जाना है।"[173] चूँकि यह उपन्यास 'मुंडा' जनजाति पर केन्द्रित है इसलिए इस जनजाति के इतिहास को जानना समीचीन होगा। "'मुंडा' जनजाति प्राचीनतम जनजातियों में से एक है, तथा विश्वास किया जाता है कि ये लोग कोल वंश के हैं। बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, त्रिपुरा तथा पश्चिम बंगाल राज्यों में इन्हें अनुसूचित जनजाति में विनिर्दिष्ट किया गया है। बिहार में ये मुख्य रूप से छोटा-नागपुर क्षेत्र में तथा राँची, सिंहभूमि, गुमला व लोहारडागा जिलों में पाये जाते हैं। उड़ीसा में ये सुंदरगढ़ और संबलपुर तथा पश्चिम बंगाल में जलपाईगुड़ी, मिदनापुर, पश्चिम दिनाजपुर और 24-परगना जिलों में पाये जाते हैं। इनकी मुख्य भाषा **मुंडारी** है। मुंडारी भाषा में मुंडा शब्द का अर्थ **'प्रतिष्ठा और धन से संपन्न व्यक्ति'** होता है। ये अपने-अपने राज्यों में हिंदी, उड़िया और बंगला भी बोलते हैं।....मुंडा लोग मुख्य रूप से कृषक वर्ग के हैं। 'सिंगबोंगा' इनके महान देवता हैं। 'गरम-धरम', 'माघे-परब' तथा 'सरहुल' इनके प्रमुख त्यौहार हैं।"[174] इसी 'मुंडा' आदिवासी जनजाति को केंद में रखकर लिखा गया यह उपन्यास (गायब होता देश) इक्यावन छोटे-छोटे अध्यायों में विभाजित है। जिसमें प्रथम अध्याय का शीर्षक है: 'गुमशुदगी या ब्लैकहोल की यात्रा'। और अंतिम अध्याय 'कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ के सर होने तक' है। उपन्यास की शुरुआत कुछ इस तरह से होती है- "किशन विद्रोही की हत्या की गई ! लेकिन न तो कोई चैनल न कोई अखबार पूरी गारंटी के साथ यह कहने को तैयार था कि हत्या ही हुई है। लाश मिली नहीं थी। ख़ून में सना तीर और बिस्तर में जज़्ब

---

[173]लेख-हमारे समय का एक बेहद जरूरी उपन्यास, प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव, 15 जुलाई, 2014

http://kabaadkhaana.blogspot.in/2014/07/blog-post_15.html

[174]भारतीय जनजातियाँ, रूपचन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 33-35

ख़ून के गहरे धब्बे यह बताने की कोशिश कर रहे थे कि हत्या ही हुई होगी।"[175] यह गुमशुदगी किसी और की नहीं बल्कि 'किशनपुर एक्सप्रेस' के पत्रकार 'किशन विद्रोही' (कृष्ण कुमार झा) की है, उपन्यास की कथा की शुरुआत हत्या की इस गुत्थी को सुलझाने और उसकी खोजबीन से शुरू होती है। यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से एक डायरीनुमा उपन्यास बन गया है। यह डायरी उपन्यास के ही पात्र किशन विद्रोही की है। डायरी से ही संकेत सूत्र मिलने लगते हैं लेकिन बावजूद इसके इस (पत्रकार किशन विद्रोही की हत्या) हत्या की गुत्थी उपन्यास के अंत तक अनसुलझी ही रह जाती है। लेकिन इस हत्या की गुत्थी सुलझाने की प्रक्रिया में ही उपन्यास में चित्रित सारी घटनाएँ और प्रसंग एक-एक करके कथा के रूप में पाठकों के समक्ष आते रहते हैं और उपन्यास की कड़ी साबित होते हैं। इस प्रकार से इन्हीं छोटे-बड़े प्रसंगों से इस महाकाव्यात्मक उपन्यास का फ़लक भी विस्तृत होता है। 'गायब होता देश' उपन्यास के इसी विस्तृत और व्यापक कलेवर पर मैत्रेयी पुष्पा की यह टिप्पणी बहुत ही महत्वपूर्ण लगती है- "यह उपन्यास बड़े फलक का आख्यान समेटे हुए अपनी लोक संस्कृति के अद्भुत दर्शन कराता है- गीत, नृत्य के साथ सुस्वादु भोजन की ऐसी तस्वीरें पेश करता है कि बरबस ही उस क्षेत्र में उतर जाने का जी चाहता है।"[176] प्रसिद्ध आलोचक प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव उपन्यास के रचाव के समय और भारत में भूमंडलीकरण के समय को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "'गायब होता देश' के रचनाकार रणेन्द्र की उपन्यास-यात्रा का समय वही है जिसे सामान्य रूप से भारत के भूमंडलीकरण का समय कहा जाता है। यह उनके उपन्यासों के रचे जाने का भी समय है और उनके उपन्यासों के भीतर बहता समय भी।....यह उपन्यास बहुत जतन से हमारे युग की भूमंडलीय लूट के केंद्रीय अंतर्विरोध और संघर्ष के खण्डित समाजशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय (ऐन्थ्रोपोलोजिकल)

[175]गायब होता देश, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 4

[176]गायब होता देश पर मैत्रेयी पुष्पा की टिप्पणी (जानकीपुल.कॉम से साभार) http://www.jankipul.com/2014/05/blog-

प्रशासनिक या निकट वैचारिक भाष्य का अतिक्रमण करके ही उपन्यास बनता है।"[177] वे आगे लिखते हैं कि- "भारत के भूमंडलीकरण के समय को उसकी तमाम जटिलताओं में समग्रतः उपस्थित करता रणेन्द्र का 'गायब होता देश' शीर्षक उपन्यास लिखा तो काफी पहले से जा रहा होगा, लेकिन उसके प्रकाशित होने का समय इससे बेहतर कुछ हो नहीं सकता था। अभी-अभी तो भारत के आम चुनाव गुज़रे हैं जिसमें पूँजी के जादूगरों ने 'विकास' की ऐसी रेशमी चादर तानी जिसने मतदाताओं की नज़रें बाँध लीं। देखते-देखते 'विकास' की यह जादुई चादर एक लबादे में बदल गई जिसे सिर्फ एक आदमी ने पहन लिया। पूँजी के सभी जादूगर एक ही काया में समा गए। इस 'विकास' के तिलिस्म को तोड़ता, कारपोरेट जादूगरी को औपन्यासिक जादू से काटता यह उपन्यास हमारे समय की जरूरत है। पूंजी-प्रतिष्ठान ने देश, समय और समाज का जैसा आख्यान रचा है, 'गायब होता देश' उपन्यास उसका प्रति-आख्यान है, मूल्य, विचार, ज्ञानशास्त्र, अनुभव व भाव संपदा, संस्कृति और राजनीति हर स्तर पर।"[178] लगभग इसी से मिलता-जुलता मत युवा आलोचक अनुज लुगुन का भी है- "झारखंड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास (गायब होता देश) सम्पूर्ण आदिवासी समाज के संकट की ओर ध्यान खींचता है। पूँजीवादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस तरह घास की तरह एक मानव समुदाय को चरते जा रहे हैं, 'गायब होता देश' इसी की मार्मिक कहानी है।"[179] दोनों आलोचक अपने-अपने कथनों में पूँजी के वर्चस्व तथा उसके कुचक्र को रेखांकित किये हैं। यानी कि सब खेल पूँजीवाद और पूँजीवादी ताकतों का है। अतः एक प्रकार से यह कहने में तनिक भी संदेह नहीं कि आज का भूमंडलीकरण पूँजीवाद का ही नव-विकसित या नव्य रूप है। पूँजीवाद के

---

[177]लेख-हमारे समय का एक बेहद ज़रूरी उपन्यास (कबाड़खाना) – प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव
http://kabaadkhaana.blogspot.in/2014/07/blog-post_15.html

[178]लेख-हमारे समय का एक बेहद ज़रूरी उपन्यास (कबाड़खाना) – प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव
http://kabaadkhaana.blogspot.in/2014/07/blog-post_15.html

[179]अनुज लुगुन की टिप्पणी, संकट संघर्ष और आधुनिकता (समालोचन से)

इस नव-विकसित रूप अर्थात् भूमंडलीकरण से उभरे संकट और समस्याओं की तरफ भी दोनों आलोचकों ने इशारा किया है।

रणेन्द्र ने इस उपन्यास में आदिवासी जीवन-समाज का यथार्थ चित्रित किया है। इसमें वह इस प्रकार से सारी विशेषताओं को पाठकों के समक्ष रखे हुए हैं कि वाकई सच में हर कोई इस क्षेत्र में रहना पसंद करेगा। सच में इस तरह था पहले मुंडाओं का अपना देश 'सोना लेकन दिसुम' (सोना जैसा देश)। सोने के कणों से जगमगाती स्वर्णकिरण-स्वर्णरेखा, हीरों की कौंध से चोंधियाती शंख नदी, सफ़ेद हाथी श्यामचंद्र और सबसे बढ़कर हरे सोने, शाल-सखुआ के वन। यही था मुंडाओं का सोना लेकन दिसुम। मुंडाओं को कोकराह ऐसा ही लगा था। इसी कोकराह में विल्किंसन साहब द्वारा बसाया गया शहर किशनपुर था। कितना सुंदर था उनका अपना सोना लेकन दिसुम। यहाँ पर उपन्यासकार व्यंग्य करते हुए लिखता है कि- "लेकिन इंसान थोड़ा ज्यादा समझदार हो गया। उसने सिंगबोंगा की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। उसने लोहे के घोड़े दौड़ाने के लिए शाल वन की लाशें गिरानी शुरू कर दीं।....उसने बन्दरगाह बनाने, रेल की पटरियाँ बिछाने, फर्नीचर बनाने, मकान बनाने के लिए अंधाधुंध कटाई शुरू की। मरांग बुरु-बोंगा की छाती की हर अमूल्य निधि, धातु-अयस्क उसे आज ही, अभी ही चाहिए था।....इन्हीं जरूरत से ज़्यादा समझदार इंसानों की अंधाधुंध उड़ान के उठे गुबार-बवंडर में सोना लेकन दिसुम गायब होता जा रहा था। सरना-वनस्पति जगत गायब हुआ, मरांग-बुरू बोंगा, पहाड़ देवता गायब हुए, गीत गाने वाली, धीमे बहने वाली, सोने की चमक बिखेरनेवाली, हीरों से भरी सारी नदियाँ जिनमें इकिर बोंगा-जल देवता का वास था, गायब हो गई। मुंडाओं के बेटे-बेटियाँ भी गायब होने शुरू हो गए। सोना लेकन दिसुम गायब होते देश में तब्दील हो गया।"[180]

[180]गायब होता देश, उपन्यास के पूर्वकथन से, पृष्ठ सं. 2-3

इस तरह एक प्रकार से ‘गायब होता देश’ एक रूपक है। उपन्यासकार ने इसमें यह बतलाने का प्रयास किया है कि किस तरह विकास के नाम पर आज आदिवासी (मुंडा) समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के साथ-साथ उनका अपना आशियाना भी उजाड़ा जा रहा है। जल, जंगल, जमीन और प्राकृतिक संसाधनो का तीव्र-गति से दोहन हो रहा है। कभी बाँध बनाकर तो कभी बाँध को तोड़कर। भूमंडलीकरण से उपजा यह निजीकरण व रियल एस्टेट सुरसा की तरह इस तरह मुँह बाए हुए हैं कि कितने जल्दी ज्यादा से ज्यादा इनका दोहन कर लिया जाए। आज यही हो रहा है विस्थापन के नाम पर कम से कम क़ीमतों में आदिवासियों की ज़मीन हथिया लेना और उन्हें हमेशा के लिए मुसीबतों और ढेर सारी समस्याओं की खाई में धकेल देना। उपन्यासकार रणेन्द्र ने ‘गायब होता देश’ उपन्यास में इन सभी मुद्दों व समस्याओं पर बहुत गंभीर होकर सूक्ष्म चित्रण किया है। इस उपन्यास में मीडिया का दोहरा चरित्र तथा सरकार और सरकारी तंत्र की कूटनीतियाँ भी उजागर हुई हैं। रणेन्द्र ने इस उपन्यास के माध्यम से एक संदेश यह भी दिया है कि सिर्फ कोकराह ही नहीं बल्कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से अपना देश भी धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। ‘गायब होता देश’ शीर्षक रणेन्द्र ने शायद इसी कारण रखा है। इससे सीख लेना जरूरी है, नहीं तो एक दिन कोकराह की तरह अपना देश भी गायब होते देश में तब्दील हो जाएगा। हमें जरूरत है भूमंडलीकरण के सही-सही रूपों को पहचानने और उसे स्वीकारने की। तभी उचित न्याय हो सकता है। उपन्यास के विषय में आलोचक डॉ. प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव का कथन है कि- “21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में संजीव का ‘रह गयीं दिशाएँ इसी पार’ के बाद ‘गायब होता देश’ ही उत्तर-पूँजी के इस युग में कार्पोरेट मुनाफे के तंत्र द्वारा विज्ञान के सर्वातिशायी अपराधीकरण की परिघटना को सामने लाता है।”[181]

---

[181]लेख- हमारे समय का एक बेहद ज़रूरी उपन्यास (कबाड़खाना) – प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव http://kabaadkhaana.blogspot.in/2014/07/blog-post_15.html

3.2 ग्लोबल गाँव के देवता (2009) रणेन्द्र

उपन्यासकार रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास सन् 2009 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास झारखण्ड की 'असुर जनजाति' के संघर्षों को बयान करता है। यह आदिवासी जन-जीवन का संतप्त सारांश है। 'शताब्दियों से संस्कृति और सभ्यता की पता नहीं किस छन्नी से छन कर अवशिष्ट के रूप में जीवित रहने वाले असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता व संवेदनशीलता के साथ रणेन्द्र ने लिखी है। आग और धातु की खोज करने वाली, धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है।...बदहाल जिंदगी गुजारती संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है। एक प्रकार से 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास असुर समुदाय के अनवरत जीवन-संघर्ष का जीवंत-दस्तावेज़ है। इसमें देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को रणेन्द्र उजागर कर सके हैं। हाशिए के मनुष्यों का सुख-दुःख व्यक्त करता यह उपन्यास झारखंड की धरती से उपजी महत्वपूर्ण रचना है।' (उपन्यास के फ्लैप से साभार)

कथा का प्रारंभ उपन्यास के मुख्य सूत्रधार विज्ञान शिक्षक घुन्ना मास्टर की नियुक्ति से शुरू होता है। मास्टर साहब की पोस्टिंग शहर से दूर बरवे जिला के कोयलबीघा के भौंरापाट के एक आवासीय विद्यालय में होती है। भौंरापाट एक ऐसा इलाका जहाँ बॉक्साइट की माइनिंग सालों से लगातार हो रही है। इसका वर्णन स्वयं उपन्यास के सूत्रधार (घुन्ना मास्टर) जिसे हम लेखक का प्रतिनिधि कह सकते हैं के शब्दों में- "छिटपुट जंगल बाकी खाली दूर-दूर तक फैले उजाड़-बंजर खेत। बीच-बीच बॉक्साइट की खुली खदानें। जहाँ से बॉक्साइट निकाले जा चुके थे वे गड्ढे भी मुँह बाये पड़े थे। मानों धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों।"[182] ऐसी वीरान जगह को देखकर शुरू में

---

[182] ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 11

मास्टर साहब के मन की यह दशा थी कि- "कब खूँटा उखाड़ूँ और भाग निकलूँ।"[183] लेकिन कुछ दिन गुजरने के बाद उनकी मनोदशा बदल जाती है- "रहते रहते अपना भौंरापाट स्कूल मुझे अच्छा लगने लगा था। हेडमिस्ट्रेस और टीचर्स अच्छी लगने लगी थीं, और क्लास की बच्चियाँ अच्छी लगने लगी थीं। साहूजी किरानी की थोड़ी बहुत चालाकी अच्छी लगने लगी। एतवारी तो अच्छी थी ही, उसका आदमी गंदूर भी अच्छा लगने लगा।"[184] हालाँकि मास्टर साहब एक बाहरी व्यक्ति हैं फिर भी इनमें असुरों के प्रति गहरी संवेदना है। आदिवासियों, जनजातियों के सुख-दुख एवं जीवन-संघर्ष स्वयं उन्हें अपना सुख-दुख एवं संघर्ष नज़र आने लगता है। यहाँ पर नौकरी के दौरान मास्टर साहब असुर जनजाति के संबंध में कई मिथकों, अंधविश्वासों तथा गलत अवधारणाओं की हकीकत को समझने के साथ-साथ असुर जनजाति के खिलाफ अब तक हुई कई साज़िशों की ऐतिहासिक समझ भी विकसित व हासिल कर लेते हैं। उनकी यही समझ ही उन्हें आदिवासियों व असुर जनजातियों के संघर्ष में शामिल होने के लिए प्रेरित भी करती है। मास्टर साहब भौंरापाट की सच्चाई देखने-सुनने के बाद सिर्फ़ मूक दर्शक नहीं बने रहे बल्कि स्वयं भी वह असुरों के संघर्ष में शामिल हुए। ऐसा लगता है कि इस पात्र में उपन्यासकार स्वयं समाया हुआ है। एक प्रकार से यह उपन्यासकार का प्रतिनिधि पात्र है। असुर आदिवासियों की एक जाति है। असुरों के बारें में लोगों की जो धारणा थी वही धारणा इस शिक्षक के मन में भी थी। स्वयं मास्टर साहब के अनुसार- "असुर सुनते ही दो बातें ही ध्यान में आती हैं। एक तो बचपन में सुनी कहानियों वाले असुर, दैत्य, दानव और न जाने क्या-क्या! और दूसरा एंथ्रोपोलोजी की किताबों में छपी केवल कॉपीन पहने मर्द और छाती तक नंगी औरतों वाली तस्वीरों वाले असुर।"[185] लेकिन यहाँ पर उनकी यह धारणा गलत साबित हो रही थी। स्वयं घुन्ना मास्टर के शब्दों में- "असुरों

---

[183]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 10

[184]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 19-20

[185]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 17

के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दाँत-वाँत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग निकले हुए लोग होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।"[186] इसके अलावा असुरों के विषय में बहुत सी जानकारी मास्टर साहब को रूमझुम के द्वारा पता चलती है। असुर जनजाति का पढ़ा-लिखा रूमझुम असुर असुरों के विषय में मास्टर साहब को बतलाता है कि- "हम असुर लोग मोटा-मोटी तीन भाग में बँटें हैं। बीर-असुर, अगरिया-असुर और बिरिजिया-असुर। हालाँकि बीर यहाँ बहादुर के सेंस में नहीं आया बल्कि जंगल के अर्थ में आया है। लेकिन प्राचीन असरिया-बेबीलोन सभ्यता में असुर का अर्थ बलवान पुरुष ही होता है। अपने यहाँ भी सायणाचार्य असुरों को बलवान, प्रज्ञावान, शत्रुओं का नाश करने वाला और प्राणदाता पुकारते हैं। ऋग्वेद के प्रारंभ के लगभग डेढ़ सौ श्लोकों में असुर देवताओं के रूप में हैं। मित्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, सभी असुर ही पुकारे जा रहे थे। बाद में यह अर्थ बदलने लगता है और असुर दानव के रूप में पुकारे जाने लगते हैं।.... अंगिरा या अंगिरस ऋषि और अगरिया में एकापन भी ध्यान खींचता है।.... अंगिरा ऋषि भी अपने को आग से उत्पन्न बताते हैं और अगरियों की भी पैदाइश आग ही से हुई है। यह अंगिरा ही हैं जिन्होंने सबसे पहले आग की खोज की थी। आग की खोज और देवताओं से लड़ाई की कहानी कई जगह प्रचलित है। ग्रीक कथाओं में भी प्रमथ्यू स्वर्ग से आग चुराकर लाता है तो देवता उसे सज़ा देते हैं। सींगबोंगा-सूर्य सुर देवता द्वारा असुरों को सज़ा देने की कथा प्रचलित है। किन्तु यह सुर-असुर लड़ाई एक जटिल पहेली है। कभी हमलोग स्थिर से बैठकर इसे सुलझायेंगे। क्या यह पाषाणकालीन लोगों का धातु पिघलाने वाले लोगों से संघर्ष था? सुर में 'सु' शामिल है जिसका अर्थ उत्पादन होता है, इसलिए क्या जंगलों को काटकर उत्पादन यानी खेती करने वालों और सखुआ पेड़ के कोयले पर आश्रित लोहा पिघलाने वालों के बीच की लड़ाई है... ।"[187]

---

[186]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 11

[187]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 18

इस प्रकार बहुतेरे कथा-प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत उपन्यास में झारखण्ड के असुरों की संघर्ष गाथा का बहुत ही स्पष्ट और यथार्थ चित्र खींचा गया है जो अपनी नियति (मृत्यु) के खिलाफ लड़ रहे हैं। जहाँ एक ओर इनके विरुद्ध ग्लोबल गाँव के देवता हैं जैसे-शिण्डालको, टाटा और वेदांग जैसी बहुराष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय कंपनियाँ हैं तो दूसरी ओर एम. पी. और विधायक हैं। साथ ही तीसरी ओर इनका साथ दे रहे शिवदास बाबा जैसे धार्मिक ठेकेदार भी हैं। इनका आपस में गठजोड़ सुरसा की तरह असुरों को लील जाने के लिए ही हुआ है। इन्हीं शोषण की शक्तियों के खिलाफ लड़ रहे तथा संघर्ष कर रहे असुरों को अपनी नियति का एहसास है, लेकिन फिर भी वे अपनी इस नियति को चुपचाप प्राप्त होना नहीं चाहते। बल्कि आखिरी साँस तक संघर्ष करते हुए अपनी नियति को प्राप्त होना चाहते हैं। इनकी लड़ाई लोकतांत्रिक व्यवस्था के खिलाफ न होकर लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर शोषण करने वाले उन ज़ालिमों से है जो इन्हें जड़ से उखाड़ने पर आमादा हैं। प्रधानमंत्री के नाम लिखा गया पत्र इस बात का ठोस सबूत है। रुमझुम द्वारा प्रधानमंत्री के नाम लिखी गयी चिट्ठी एक प्रकार से आदिवासियों तथा असुर समुदाय का वास्तविक यथार्थ प्रस्तुत करती है। इसे उपन्यासकार ने बहुत ही गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। इसे पढ़ने के बाद हर किसी का मन भावुक हो उठेगा। उस चिट्ठी का अंश कुछ इस प्रकार से है- "आपने बहुत ईमानदारी से इस बात को कई मौके पर स्वीकार किया है कि बाज़ार के बाहर रह गए लोगों को इस व्यवस्था का लाभ नहीं मिल सका है। साथ ही आप इस व्यवस्था को मानवीय चेहरा देने की बात करते रहे हैं जिसने हमारे मन में बड़ी आस जगाई है। .... हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने-जलाने का विरोध किया तो दुष्ट दैत्य कहलाये। उन पर आक्रमण हुआ और लगातार खदेड़ा गया। .... लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदल, खुरपी, गैंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुँच गए। हमारे गलाये लोहे के औजारों की पूछ

खत्म हो गयी। लोहा गलाने का हजारों साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया। मजबूरन पात देवता की छाती पर हल चलाकर हमने खेती शुरू की। बॉक्साइट के वैध-अवैध खदान, विशालकाय अजगर की तरह हमारी जमीन को निगलता बढ़ता आ रहा है। हमारी बेटियाँ और हमारी भूमि हमारी हाथों से निकलती जा रही हैं। ....हम असुर अब सिर्फ़ आठ-नौ हजार ही बचे हैं। हम बहुत डरे हुए हैं। हम खत्म नहीं होना चाहते। भेड़िया अभयारण्य से क़ीमती भेड़िये जरूर बच जाएँगे श्रीमान। किन्तु हमारी जाति नष्ट हो जाएगी। सच कहें हम बिना चेहरे वाले इंसान होकर जीना नहीं चाहते श्रीमान। हमें बचा लीजिये श्रीमान। हमारी आखिरी आस आप ही हैं।"[188] इस चिट्ठी में कितना दर्द, कितनी संवेदना है जिसे पढ़ने के बाद हर किसी का मन भारी हो जाता है और आँखें डबडबा जाती हैं। इसमें असुरों की दयनीय होती दशा एवं दुर्दशा के साथ-साथ उनका इतिहास भी प्रस्तुत हुआ है। एक ओर जहाँ पर इनकी स्थानीय जमीन से प्राकृतिक संसाधनों, खनिजों को निकालकर उसकी मोटी कमाई से बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपनी झोली भर रही हैं, सुंदर शहर बसाये जा रहे हैं। वहीं पर इन असुरों एवं आदिवासियों को बदले में दोयम दर्जे के मजदूर की जिन्दगी देकर सन्तुष्ट किया जा रहा है। यह एक प्रकार का छल है जो इनके खिलाफ किया जा रहा है। शायद इसी कथा को विस्तार देने के लिए असुरों आदिवासियों, दलितों एवं हाशिए के लोगों की वास्तविक हकीकत को बयाँ करने के लिए उपन्यासकार ने मास्टर साहब (घुन्ना) जैसे सशक्त पात्र तथा सूत्रधार का सृजन किया है। मास्टर साहब इस असुर समाज में इस कदर रच-बस जाते हैं कि 'बालचन असुर' के बड़े भाई की बेटी 'ललिता' से सहिया (शादी) भी कर लेते हैं। लेकिन 'ग्लोबल गाँव के देवताओं' और असुरों के इस संघर्ष में मास्टर साहब स्वयं अपनी पत्नी 'ललिता' को भी खो देते हैं। मुआवज़ा और पुनर्वास के लिए वेदांग कंपनी तथा पुलिस प्रशासन से बातचीत के लिए जाते समय इन्हें लैंड माइन से उड़ा दिया जाता है। अपनों को खोने का गम क्या होता यह मास्टर साहब के इस कथन में साफ़ तौर पर दिखाई देता है- "बातचीत के

[188]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 83-84

लिए जाते ललिता, बुधनी दी, गंदूर, एतवारी, लालचन दा के बाबा और पंद्रह लोगों की धज्जियाँ उड़ गयी थीं। लेकिन बिखरी हुई देह की जगह पिघला हुआ लोहा वहाँ बहने लगा। लाल पानी-सा लोहा धीरे-धीरे पाट की धरती में समा रहा। .... इस बार ठीक मेरे पैरों के पास से भी धधकता लोहा बहता जा रहा था। न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि वह मुझे खींच रहा है, चुंबक की तरह।"[189]

यह उपन्यास भूमंडलीकरण की विभीषिका का त्रासद आख्यान प्रस्तुत करता है। भूमंडलीकरण अर्थात् आर्थिक पूँजीवाद के आने से आदिवासी समुदाय के लोगों की सभ्यता-संस्कृति तथा प्रकृति के साथ-साथ उनकी जिंदगी भी खतरे में पड़ गयी है। इसलिए इनका लड़ना और विद्रोह करना जायज है। यह अपनी आत्मरक्षा एवं अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं। ग्लोबल गाँव के देवता में दो देवताओं का उल्लेख हुआ है। विदेशी वेदांग यह ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता है। कंपनी विदेशी है लेकिन इसका नाम देशी रखा गया है। दूसरा देवता टाटा है। इन दोनों कंपनियों ने इन्हें लूटा ही है। टाटा कंपनी ने असुरों के लोहा गलाने और औज़ार बनाने का अंत कर दिया। जिसका जिक्र रुमझुम प्रधानमंत्री के नाम लिखी चिट्ठी में भी करता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में जहाँ 'ग्लोबल विलेज़' की परिकल्पना के अंतर्गत संपूर्ण विश्व को एक 'ग्लोबल गाँव' में बदलने की बात की जा रही है, वहीं इस प्रक्रिया का परिणाम यह हो रहा है कि जो असली गाँव हैं वह अब विलुप्त होने की कगार पर आ गए हैं। यह एक विचित्र बिडम्बना ही है कि 'ग्लोबल गाँव' के चक्कर में असली गाँव को उजाड़ दिया जाए और ढिंढोरा पीटा जाए की 'ग्लोबल विलेज' की संकल्पना साकार हो रही है। इसे ही आज विकास कहा जा रहा है। विकास की इस अंधी दौड़ का पैमाना सबके लिए अलग-अलग है। जहाँ पर किसी बड़ी या बहुराष्ट्रीय कंपनी या सरकार के लिए फैक्ट्रियाँ लगाना, उद्योग स्थापित करना और आलीशान पक्की इमारतें बनाना विकास का सूचक है, तो वहीं पर यह बहुतों के लिए विकास नहीं बल्कि उनके लिए यह सिर्फ़ और सिर्फ़ विनाश का मंजर होता है। आदिवासी जहाँ बसते हैं वह धरती प्राकृतिक

[189]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 100

संसाधनों एवं खनिजों से भरपूर होती है। आदिवासी इलाकों में इन्हीं खनिजों के दोहन को विकास का नाम देकर बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना खजाना भरती हैं। साथ ही आदिवासियों को विस्थापित होने के लिए मजबूर करती हैं। कभी-कभी तो बहला-फुसलाकर और कभी ज़ोर जबर्दस्ती या ब्लैकमेल करके इसे बखूबी अंजाम दिया जाता है। जेम्स की बहन सलोनी लकड़ा इसका उदाहरण है। शिंडालको कंपनी सखुआपाट के मैनेजर किशन कन्हैया पाण्डेय सलोनी लकड़ा की ब्लू फिल्म बना लेता है और उसे ब्लैक मेल करता है जिससे असुरों का इस आंदोलन में साथ दे रहे कनारी नवयुवक संघ जिसमें सलोनी लकड़ा का भाई जेम्स भी रहता है पीछे हट जाता है। उपन्यासकार के अनुसार इस समुदाय की आदिवासी महिलाएँ सियानी कहलाती है- "महिलाएँ इस समाज में सियानी कहलाती थीं, जनानी नहीं। जनानी शब्द कहीं न कहीं केवल जनन, जन्म देने की प्रक्रिया तक उन्हें संकुचित करता, जबकि सियानी शब्द उनकी विशेष समझदारी-सयानेपन की ओर इंगित करता मालूम होता।"[190] ये सियानी आदिवासी महिलाएँ सियानी होने के बावजूद भी किशन कन्हैया जैसे लोगों के जाल में आसानी से फँस जाती हैं। इनके सियानेपन के बाद भी ग्लोबल गाँव के देवताओं ने अपनी जरूरतों और इच्छापूर्ति के लिए इन सियानियों का भरपूर इस्तेमाल किया। लेकिन सियानी महिलाओं का इन देवताओं के आगे झुकना उनकी इच्छा नहीं बल्कि उनकी मजबूरी होती थी। सोमा को अपनी जमीन से सिर्फ इसलिए हाथ धोना पड़ा कि उसके पास अपनी बहन जो कि सेरेब्रल मलेरिया से पीड़ित थी, उसकी इलाज़ के दौरान एक प्राइवेट हॉस्पिटल में उसकी मौत हो जाती है लेकिन हॉस्पिटल वाले उसकी मिट्टी बिना फ़ीस जमा किए नहीं ले जाने देते हैं। अत: सोमा मज़बूरी में अपनी जमीन मात्र पाँच हजार रूपयें में एक खदान के दलाल को बेच देता है। यहाँ पर भी आदिवासियों की मजबूरी ही सामने आती है जिसका आये दिन खदान दलाल और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भरपूर फ़ायदा उठाती रहती हैं।

[190]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 23

रणेन्द्र ऐसे ही आदिवासियों के असली गाँवों के गायब होने और उसकी व्यथा-कथा को उपन्यास में प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- "पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी। मुड़ीकटवा से साल-दो साल पर भेंट होती है किन्तु इस जानमारू से तो हर रोज भेंट होगी।"[191] मुड़ीकटवा प्रसंग के माध्यम से आदिवासी समाज में फैले अंधविश्वास को उजागर किया गया है- "दरअसल, अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून में सानकर बिचड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए इस सीजन में मुड़ीकटवा लोग घूमते रहते हैं।.... इस पाट पर जीना बहुत कठिन है, मास्टर साब! किन्तु मौत बड़ी आसान है।"[192] लेकिन यहाँ मुड़ीकटवा से भी घातक ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हैं। यह कंपनियाँ आदिवासी इलाकों में खनिजों को निकाल कर गड्ढे तो कर देती हैं लेकिन जो समझौते हुए हैं उससे वह कतराती हैं। कंपनियाँ लीज़ की शर्तों की अनदेखी करती हैं- "खुले खदानों से बॉक्साइट की निकासी के बाद गड्ढे भरने की बजाय यों ही छोड़े जा रहे थे। लाभ का कुछ भी हिस्सा पाट के लोगों के विकास पर कंपनियाँ खर्च नहीं करती थीं। न पीने के पानी की व्यवस्था, न हॉस्पिटल, न मलेरिया-डायरिया की रोकथाम का कोई इंतजाम। लेबर के अलावा स्थानीय लड़कों को और किसी के काबिल समझा ही नहीं गया भले उनके पास बी. ए., आई. ए. की डिग्रियाँ हों।"[193] यही नहीं इसमें यह भी दिखाया गया है कि इस ग्लोबल गाँव के देवताओं और राष्ट्र-राज्य की आपस में मिलीभगत है। अर्थात् सभी इस लूट में शामिल हैं। "ग्लोबल गाँव के आकाशचारी देवता और राष्ट्र-राज्य दोनों एक दूसरे से घुलमिल गये हैं। दोनों को अलगाना अब मुश्किल है। सामान्य तौर पर इन आकाशचारी देवताओं को जब अपने

[191]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 13

[192]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 12-13

[193]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 51

आकाशमार्ग से या सेटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज-संपदा, जंगल या अन्य संसाधन दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि अरे, इन पर तो हमारा हक़ है। उन्हें मालूम है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक़ तो उनका ही हुआ। सो इन खनिजों पर, जंगल में घूमते हुए लँगोट पहने असुर-बिरजिया, उरांव-मुंडा, आदिवासी, दलित-सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफ़्त होती है। वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं। तब इन इलाकों में झाड़ू लगाने का काम शुरु होता है।"[194] इस उपन्यास में खनिजों की भूख कंपनियों पर इस कदर हावी है कि अपनी इस भूख को मिटाने के लिए जनजातियों को उनकी जमीन से बेदखल करना जरूरी है। उनके इस काम में उन्हें भारत सरकार का भी सहयोग मिलता है- "डॉक्टर साहब की खबर थी कि वन विभाग ने बहुत पहले रिपोर्ट भेजी थी कि लगभग चौंसठ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पहले भेड़ियों की संख्या सात सौ अट्ठासी हुआ करती थी, वह घटती-घटती एक सौ छिहत्तर रह गयी है। ..... तब बताया गया है कि इनका बचाया जाना कितना जरूरी है। वन-विभाग असुरों और आदिवासियों को अपने क्षेत्र में घुसपैठिया मानता है। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वन गाँवों में लोग सैकड़ों वर्षों से रहते आए हैं। वन विभाग ही बाद में आया है। वनस्पतियों और जीवों की तरह आदिवासी-आदिम जाति भी जंगल के स्वाभाविक बाशिंदे हैं। यह स्वीकार करने से उनकी पढ़ाई रोकती है। वे गाँव खाली कराकर ही दम लेंगें। .....अभयारण्य के लिए कँटीले तारों का घेरा डालने का काम 'वेदांग' जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी ने लिया है। इतनी बड़ी कंपनी ने इतने छोटे काम में हाथ डाला, इसमें जरूर कोई राज है। बहुत कुछ वर्षों से इस इलाके से बॉक्साइट बाहर नहीं भेजकर यहीं कारख़ाना खोलने की बात उठती रही है। लगता है 'वेदांग' उसी टोह में आ रहा है। ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता है वेदांग। यह उँगली पकड़कर बाँह पकड़ने वाली बात लगती है। यह कंपनी है विदेशी और नाम रखा है 'वेदांग', जैसे प्योर देशी हो।

[194]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 91-92

कितना चालू-पुर्ज़ा है इसी से पता चलता है।"[195] इस झाड़ू लगाने या आदिवासियों के सफ़ाया करने की कई घटनाओं को उपन्यासकार ने उपन्यास में सिलेसिलेवार ढंग से प्रस्तुत किया है- "छत्तीसगढ़ के रायगढ़ जिले से होकर बहने वाली एक बड़ी नदी शिवनाथ एक इंडस्ट्री समूह को बेंच दी गयी थी। कई गांवों के लोग, मवेशी, चिरई-चुनमुन, खेत-बघार सब पानी के लिए छछन रहे थे। बोन्दा टीकरा गाँव के लोग राजधानी में जाकर अनशन पर बैठे।.... मणिपुर की राजधानी इम्फाल से मात्र पन्द्रह किलोमीटर दूर मलोम कस्बे की पिता इरोम नन्दा, मां इरोम सखी की 34 वर्षीया बेटी इरोम शर्मिला, सशस्त्रबल के विशेषाधिकार कानून के विरोध में पिछले लगभग सात वर्षों से आमरण अनशन पर हैं...केरल की सी. के. जानू. वन विभाग की जिद्द के कारण तिरपन हजार बेघर आदिवासी परिवारों की लड़ाई की अगुआ, वायन्द जिले के गैरमजरुआ जमीन पर बसने की बात सोचते-सोचते पुलिसिया बर्बरता का शिकार होती है...महाराष्ट्र कोंकण में बेघर तेरह हजार आदिवासी परिवारों की लड़ाई लड़ती सुरेखा दलवी, मध्यप्रदेश रीवाँ जिले में संघर्ष करती दुवसिया देवी, छिन्दवाड़ा गोंड गाँव की दयाबाई-किसकी किसकी कथा कही जाय और कितनी कही जाय!.... धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी. के. जानू., सुरेखा दलवी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री।"[196] इस प्रकार के संघर्षों को सिलसिलेवार प्रस्तुत करने के पीछे उपन्यासकार का मंतव्य शायद यही है कि- "शायद स्त्री ही स्त्री की व्यथा समझती है" स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यहाँ पर उपन्यासकार की इच्छा असुर जनजाति के संघर्ष को 'व्यापक समाज के संकट और संघर्ष के प्रतिनिधि' के रूप में प्रस्तुत करने की रही है।

---

[195]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 79-80

[196]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 91-92

रणेन्द्र ने ‘असुर जनजाति’ की संघर्ष-गाथा के संघर्ष को दुनिया के अनेक भागों में फैले हुए आदिवासियों के संघर्ष के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की है। अमरीकी महाद्वीप में ‘इंका’, ‘माया’, ‘एज़्टेक’ और सैकड़ों ‘रेड इण्डियन्स’ की मूक हत्याएँ भी ‘झारखण्डी असुरों’ के संघर्ष से अलग नहीं है क्योंकि उन्हें भी असहिष्णु और बर्बर कहकर कुछ इसी तरह मौत के घाट उतारा गया था। अमरीका की चेराकी जनजाति का किस प्रकार से धीर-धीरे अंत कर दिया गया इसका भी उल्लेख ‘टेल ऑफ टीयर्स’ (आँसुओं की पगडंडी) के माध्यम से उपन्यासकार ने किया है। इस प्रकार रणेन्द्र असुरों की गाथा को एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक संघर्ष गाथा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास का अंत एक आशावादी दृष्टिकोण के साथ बहुत ही व्यंगात्मक और मारक तरीके से होता है- “ग्लोबल गाँव के देवता बहुत खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हज़ार-हज़ार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था। असुर-बिरिजिया, बिरहोर-कोरबा, आदिम जाति-आदिवासी सब मुख्यधारा में शामिल होने ही वाले थे। मुख्यधारा की लहरें चाँद को छूने को बेताब थीं। वह लहराती-इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती वाया दिल्ली, वाशिंगटन डी. सी. की ओर दौड़ी जा रही थीं।.... इधर पाट पर जहाँ-जहाँ पिघला लोहा बहा था वहाँ पलाश का जंगल लहलहा रहा था। टहटह लाल पलाश से तेज़ धार आती। पिघले-बहते लोहे की तेज़ धार जैसी।....राजधानी के युनिवर्सिटी हॉस्टल से सुनील असुर अपने साथियों के साथ कोयलबीघा, पाट के लिए निकल रहा था। लड़ाई की बागडोर अब उसे संभालनी थी।”[197] इस प्रकार यह उपन्यास अतीत के साथ वर्तमान और ग्लोबल के साथ लोकल की संस्कृति को प्रस्तुत करता हुआ अपने समय का एक बेहद जरूरी उपन्यास है।

[197] ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 100

3.3 जिंदगी ई-मेल (2008) सुषमा जगमोहन

सुषमा जगमोहन का यह उपन्यास अपने अनूठे शिल्प प्रयोग की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में एक मध्यमवर्गीय परिवार की बिखरती हुई जिंदगी का सजीव चित्रण किया गया है। यह संपूर्ण उपन्यास पत्रात्मक शैली में लिखा गया है। यह उपन्यास एक पति-पत्नी और बेटों के कम्प्यूटर और ई-मेल पर हुए पत्र-व्यवहार का संग्रह है। सूचना-संक्रांति के इस युग में आज का व्यक्ति तेजी से उच्च शिखर छू लेने को आतुर है। अपनी इस लालसा और इच्छा के लिए वह अपने सभी प्रकार के नैतिक-मूल्यों की तिलांजलि भी देता जा रहा है। कोई किसी से पीछे नहीं रहना चाह रहा है, सभी एक-दूसरे से आगे बढ़ना चाह रहे हैं। जीवन की इस आपाधापी में मानवीय संवेदनाओं व संबन्धों की गरिमा एकदम से नष्ट होती जा रही है। रिश्ते-नाते आदि की डोर ढीली पड़ती जा रही है। एक-दूसरे की देखा-देखी एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़-सी मची हुई है। अधिक धन की चाह और भौतिक जीवन की उन्नति ही इनका मूलमंत्र हो चुका है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि लोग अपने परिवेश, समाज तथा अपनों से बहुत दूर होते जा रहे हैं। आज का दौर भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद का है। इस बाज़ारवाद में नैतिकता जैसी कोई भावना ही नहीं बची है। आज के लोग कुछ काल्पनिक पाने की चाहत में अपना सब कुछ होम कर दे रहे हैं। इस प्रकार बाज़ारवाद के अंधड़ ने सारे मानवीय-मूल्यों को नष्ट तथा संक्रमित कर दिया है। बाजारवाद तथा उपभोक्तावाद ने एक नई संस्कृति को जन्म दिया है। लेकिन यह संस्कृति हमारे लिए एक अपसंस्कृति बन गई है। आज के मनुष्यों में स्वार्थपरता की भावना कूट-कूट कर भरी है। इनके लिए दूसरों के सुख-दुख तथा नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ व पाप-पुण्य आदि से कोई मतलब नहीं है। यह उपन्यास इसी खत्म होती परिवार व्यवस्था, खत्म होती पारिवारिक तथा मानवीय संबन्धों की ऊष्मा, नष्ट होती संस्कृति और संक्रमित होते मानवीय-मूल्यों को बहुत ही

सूक्ष्म ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। साथ ही यह हमें आज के समय में दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहे इन मानवीय जीवन-मूल्यों के प्रति गहराई से सोचने के लिए बाध्य भी करता है।

उपन्यास की कथा दिल्ली के रिहायशी इलाके में रह रहे एक परिवार की है। इस परिवार के कुछ लोगों को अधिक पैसों की चाहत और रईश बनने की ऐसी खुमारी छा जाती है कि वह अपने घर-परिवार से लगभग उखड़ से जाते हैं। इन लोगों को अब भारत में इनके और इनके बच्चों के लिए बेहतर भविष्य दिखाई नहीं देता है। यही नहीं यह भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर भी प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। दीप की बड़ी साली कहती है- "इंडिया की भी कोई पढ़ाई है! बच्चे खटते रहते हैं, उसके बाद भी नौकरी का भरोसा नहीं। देखना, वहाँ से कोई कोर्स करते ही किसी मल्टीनेशनल में लगेगी नौकरी मेरे मनु की।"[198] इसीलिए अपने बेटों को एक बेहतर जिंदगी देने और उनका भविष्य सँवारने के लिए दीप और तनु भी कनाडा के शहर एटोबिकोक (ग्रेटर टोरंटो का एक उपनगर) में बसने का प्लान बना लेते हैं। "एटोबिकोक एक मिली-जुली आबादी वाला शहर है। यहाँ पर उस जैसों का भी गुजारा चल जाता था। हिन्दुस्तानी काफी हैं, पाकिस्तानी भी और श्रीलंकाई भी। इन्हें यहाँ पर दिल्ली से ज्यादा अपनापन दिखाई देता है।"[199] विदेश के प्रति इतना लगाव इनको एक-दूसरे की देखा-देखी ही हुआ है। विदेश के प्रति इतना आकर्षण, लगाव तथा देश के प्रति इनकी हीन भावना इस बात का परिचायक है कि आज जिस तरीके समाज हमने रच डाला है यह सब उसी का नतीजा है। यह इनका दोष नहीं है। यह दोष है आज के मौजूदा भूमंडलीय एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का, जिसने एक नए तरीके का समाज एवं संस्कृति विकसित कर दी है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने सभी को अतिशय भौतिकवादी बना दिया है। लोगों को आज सिर्फ़ अपने भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि से ही मतलब रह गया है। यह अतिशय भौतिकवादी जीवन-दर्शन भूमंडलीकरण की ही देन है। इस उपन्यास में उपन्यास का नायक फ़िल्म

---

[198]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 20

[199]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 12

रिपोर्टर 'दिल्ली पोस्ट' का दीप अर्थात् दीप कुमार मिश्रा उसकी पत्नी तनु उसके दो बेटे रोहित और शरद एक भाई करण और उसकी पत्नी अनीता दीप की एक बहन रेणु तथा परिवार के सबसे बड़े बुज़ुर्ग तथा दीप के पिता अर्थात् बाबा (रिटायर्ड इंजीनियर) शामिल हैं। एक प्रकार से यह उपन्यास दीप और तनु के विदेश जाने और वहाँ से फिर वापस अपने स्वदेश लौट आने का नाटकीय घटना-क्रम है। इस नाटकीय घटना में घर के सबसे बड़े बुज़ुर्ग दीप के पिता 'बाबा' और दीप का छोटा भाई इसे सिर्फ़ चुपचाप असहाय होकर देख भर रहे हैं। "बाबा और करण जिंदगी के इस नाटक में मूक दर्शक ही हो गए थे। कहा जाए तो बाबा ने समझौता कर लिया था।"[200] इस प्रकार से यह संपूर्ण उपन्यास इसी भरे-पूरे परिवार के टूटन, घुटन और बिखराव की कथा है।

उपन्यास की नायिका तनु अपनी बचपन की सहेली मीनाक्षी जिसका घर भी रामनगर में तनु के घर के पास ही था, उसकी देखा-देखी ही कनाडा जाने का निर्णय लेती है। जब तनु को पता चला कि मीनाक्षी कनाडा में सेटल होने की तैयारी कर रही है तो उसे लगा कि वह क्यों पीछे रहे। दोनों सहेलियों में होड़-सी लग गई थी। उससे पहले तक तो जिंदगी अच्छी-खासी चल रही थी। .....तनु अपनी स्कूल की नौकरी में मस्त थी। लेकिन इसके बावजूद भी वह संतुष्ट नहीं थी। वह भी मीनाक्षी की तरह जिंदगी जीना चाहती है। इसलिए वह भी कनाडा जाने की जिद करती है और अपने पति दीप से कहती है कि-
"क्या हम लोग कनाडा में अपनी किस्मत नहीं आजमा सकते?"
इस पर दीप कहता है- "क्या हो गया है, तनु! अच्छी खासी जिंदगी चल रही है।" .... यार, साउथ दिल्ली के इतने पॉश इलाके में इतना अच्छा घर! लोग तरसते हैं, फिर भी कल्पना नहीं कर सकते, ऐसे पॉश इलाके में रहने की। आज की तारीख में ऐसे घर में रहने के लिए कम से कम एक जेनेरेशन की मेहनत चाहिए या फिर ऐसी क़िस्मत कि जो छूओ, सोना हो जाए। गाड़ी है, और सब कुछ तो है! और ज्यादा की तो कोई सीमा नहीं होती।"

[200]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 12

तनु बिजली की तरह तड़पी, "लेकिन घर के भीतर क्या है? सोचा है कभी! हम दोनों के कमाने के बावजूद कितना बच पाता है? इतने बड़े घर की मेंटेनेंस के लिए एक भी पैसा नहीं बच पाता हमारे पास। न जाने कितनी ख्वाहिशें ऐसे ही दम तोड़ देती हैं। .... करण आज तक सेटल नहीं हो पाया। अनीता एक बार गई, सो लौटी नहीं। कितना समझाया मैंने खुद उसे। पीहर में रहकर नौकरी कर रही है। यहाँ अपने घर में पति के साथ सुख-दु:ख बाँटकर नहीं रह सकती थी? अप्स एंड डाउन तो जिंदगी में आते ही रहते हैं। और ये करण, इसे लगता है, कोई जरूरत ही नहीं है बीवी की। दोनों अपनी-अपनी जिंदगी में मस्त। फिर बाबा का रवैया देखा है! उनकी जितनी भी फ्रस्ट्रेशन है, हम लोगों पर ही तो उतरती है, खासतौर से मुझ पर।" थोड़ा रुककर तनु फिर बोली, "आप भी अजीब हैं। किस्मत आज़माने में हर्ज़ क्या है?"[201] लेकिन पति-पत्नी इस पर जल्दी फैसला नहीं ले पाते हैं। क्योंकि यह फैसला उसकी जिंदगी का बहुत ही अहम फैसला है। "तनु की इस खुशी के साथ उसकी जिंदगी का कितना अहम फैसला जुड़ा है-अपने देश को छोड़ने का, नौकरी छोड़ने का, अपने घर को, पिता और भाई को छोड़ने का। कई महीने से तनु इस जगह पर पक्की नौकरी की कोशिश में लगी हुई थी। साउथ एशियन औरतों की इस संस्था में वह इसी उम्मीद पर काम कर रही थी कि यहाँ उसकी नौकरी पक्की हो गयी तो दीप भी अपनी नौकरी छोड़कर कनाडा आ जाएगा; नहीं तो तनु उस नई दुनिया का सपना छोड़-छाड़कर वापस अपने देश आ जाएगी।"[202] लेकिन तनु के पति दीप के मन में इस विषय के प्रति कुछ अलग ही अंतर्द्वंद्व चल रहा होता है। वह कनाडा जाने के बारे में बहुत ही गहराई से सोचने व विचारने लगता है। उपन्यास के नायक दीप के भीतर चल रहे इस अंतर्द्वंद्व का चित्रण लेखिका ने बहुत ही सूक्ष्म ढंग से किया है- "एक नई दुनिया का आकर्षण उसे वहाँ खींचता है। और यहाँ घर, पिता, भाई-माँ तो कब की उन्हें छोड़ दूसरी दुनिया में चली गयी थीं-सब अपनी ओर खींचते हैं।.... नो, नो,

[201]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 19-20

[202]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 8

दीप कुमार मिश्रा! अब यह नहीं चलेगा। बहुत हो चुका। नाऊ यु हैव टु डिसाइड। डॉलर चाहिए या घर? घर भी कौन-सा घर? जहाँ पिता और भाई हैं, जिनके साथ कभी-कभी अजनबीपन महसूस होने लगता है या फिर बीवी और बच्चों के साथ एक खूबसूरत जिंदगी; डॉलर और बाहर की चमचमाती दुनिया।"[203] यहाँ पूँजी ही है जो संबन्धों की गरिमा को नष्ट कर दे रही है। सभी प्रकार के संबन्धों की धुरी आज सिर्फ पूँजी है। डॉलर और बाहर की चकाचौंध भरी जिंदगी ही अंतत: उन्हें रास आती है। आखिर रोज-रोज के इस झमेले से पीछा छुड़ाने के लिए दीप ने फैसला कर ही लिया तनु और बच्चों को कनाडा भेजने का। इसकी चर्चा दीप बाबा से करते हुए उनसे कहता है- "बाबा एक बार इन लोगों को वहाँ की जिंदगी देख आने दो। आप कुछ पैसा दे दो। भरोसा रखो, सारा पैसा आते ही चुका दूँगा। समझ लो, आपका पैसा बैंक में रखा है। इस पर बाबा ने तपाक से कह दिया- जो बेटा मुझे बुढ़ापे में छोड़कर जा रहा हो, उसका क्या भरोसा करूँ? मेरे पास वही थोड़ा-सा पैसा है। तू तो बीवी को लेकर कनाडा जाकर बैठ जाएगा। मैं इस बुढ़ापे में किस घर जाकर भीख माँगूँगा? ....इस बूढ़े बाप के बारे में सोचा है कभी।"[204] लेकिन इन सबके बावजूद दीप और तनु कनाडा जाने का फैसला कर ही लेते हैं। थोड़ी-बहुत आर्थिक अड़चने जरूर आईं लेकिन दोनों ने उसे सुलझा लिया कि पूरा परिवार एक साथ वहाँ सेटल नहीं होगा। फलत: दीप पत्नी तनु और बच्चों रोहित और शरद को कनाडा छोड़कर इस शर्त पर इंडिया वापस चला आता है कि जैसे ही तनु को अच्छी नौकरी मिल जाएगी तो वह भी अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा देकर कनाडा चला आएगा। अब ऐसे हालात थे कि पत्नी और बच्चे विदेश में और पति स्वदेश में। ऐसे समय में पति-पत्नी के बीच जो संबंध का जरिया बनता है वह है कंप्यूटर और मोबाइल। अब हर रोज दोनों इसी ई-मेल और मोबाइल के माध्यम से एक-दूसरे के सुख-दुख को जानते और साझा करते हैं। पति-पत्नी रोज की खबर ई-मेल के जरिये एक-दूसरे को प्रेषित करते रहते हैं। इस

[203]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 8

[204]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 27

प्रकार यह उपन्यास विदेश में रह रही एक पत्नी (तनु) और भारत में रह रहे उसके पति (दीप) के ई-मेल पर भेजे गए पत्र या संदेश का एक जीवंत दस्तावेज़ है। यानी कि इनके जीवन की डोर और इनकी खुद की ज़िंदगी मानों ई-मेल बन गयी हो। संयुक्त परिवार के इसी टूटन, विघटन और बिखराव की कथा को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करता यह हिंदी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास साबित होता है।

मीनाक्षी की देखा-देखी तनु कनाडा तो चली गयी है लेकिन उसकी पारिवारिक ज़िंदगी एकदम बिखर-सी गयी है। शुरू में यह विदेश के प्रति बहुत आकर्षित रहती है लेकिन बाद में इसका भी मोहभंग हो जाता है जैसे अत्यधिक ख़र्चे के चलते मीनाक्षी का हो जाता है। मीनाक्षी अब किसी को कनाडा या विदेश जाने की सलाह नहीं देती है। “शुरू में काफी खुश नजर आ रही थी मीनाक्षी, पर यह खुशी धीरे-धीरे खत्म होती नज़र आ रही थी। सैर-सपाटे में उसका सारा पैसा खत्म हो जा रहा था। उसने लिखा- तनु, यहाँ मत आना तुम। मैं यहाँ आकार पछता रही हूँ। इंडियंस के लिए यहाँ मजदूरी से ज्यादा कुछ नहीं। व्हाइट कॉलर के मज़दूर हैं यहाँ हम लोग। हिंदुस्तान में आप क्या हैं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।”[205] लेकिन तनु को यह लगा कि मीनाक्षी उसे कनाडा नहीं आने देना चाहती है। अत: तनु कहाँ रुकने वाली- “मीनाक्षी की नकल में तनु कनाडा चली तो गई है लेकिन लौटने वाली नहीं। दोनों बच्चों का मन वहाँ लग चुका था। कहा जाए तो उन्होंने वहाँ अपनी दुनिया बसा ली थी। पाँच-छह महीने में उनका सब कुछ बदल चुका था। उनके दोस्त...संगी साथी। उनकी आदतें, उनकी भाषा।”[206] इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है दीप के बेटे शरद का अपना खुद का नाम उच्चारण। “यह उसका वही शरद है! अब तो अपना नाम भी वह अजीब तरीके से बोलने लगा था- शैरड या कुछ ऐसा ही।”[207] दीप अपने बच्चों के यहाँ पर इस तरह से घूमने और उनके बिगड़ने आदि को लेकर काफी सशंकित रहता है।

[205]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 25

[206] जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 9

[207]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 11

इसलिए दीप जब छुट्टियों में कनाडा गया तो वह अपनी पत्नी तनु और बच्चों को फ़ालतू जगहों पर न जाने देने की सलाह देता है। इस पर तनु उससे कहती है कि –'थोड़े दिन में मैं भी कनाडियन हो जाऊँगी, फिर शायद मैं भी...' दीप सिर्फ़ तनु को देखता रह जाता है। लेकिन इसके विपरीत उपन्यास के नायक दीप का दिल एक हिंदुस्तानी का हिंदुस्तानी ही रहता है। "उसे लगा था कि तनु और बच्चे कनाडा की जिंदगी में काफी घुल-मिल गए हैं। लेकिन वह वही का वही हिंदुस्तानी है।"[208] दीप छुट्टी बिताकर पुन: दिल्ली इस शर्त पर वापस चला आता है कि वह भी बहुत जल्द ही यहाँ से सबकुछ निपटाकर बच्चों तथा पत्नी के ही साथ रहने कनाडा आ जाएगा। अब दीप की तनु और बच्चों से बात-चीत और हाल-चाल सिर्फ़ कंप्यूटर और मोबाइल के द्वारा ही होती थी। "दिल्ली आने के बाद तनु से कई बार फोन पर बात हुई। और तकरीबन हर रोज ई-मेल के जरिये।"[209] इस कथन से उपन्यास के शीर्षक का अंदाज़ा सही तरीके से लगाया जा सकता है कि- यानी कि जिंदगी आज ई-मेल हो गई है। संबंधों की बुनियाद इस सूचना-संक्रांति पर टिकी हुई है। जिसमें एक-दूसरे के दुख दर्द को सिर्फ़ यहाँ ई-मेल, मोबाइल आदि के जरिये जाना जा सकता है लेकिन किया कुछ नहीं जा सकता है। हम सिर्फ़ एक-दूसरे को सलाह मशविरा आदि ही दे सकते हैं। हम प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे की कोई मदद नहीं कर सकते हैं। यह सूचना और संचार तकनीकी के आभासीय यथार्थ का युग है। जहाँ पर वास्तविकता कुछ और है और हमें दिखाई कुछ और दे रहा है। आज लगभग सारे संबंध रिश्ते-नाते महज़ एक औपचारिकता मात्र रह गए हैं। सूचना-क्रांति के इस दौर में मोबाइल क्रांति बहुत असरदार साबित हुई है। "इस मोबाइल ने भी दुनिया को कितना छोटा बना दिया है! कहाँ कनाडा की बिजनेस कैपिटल- सात समंदर पार और कहाँ दिल्ली! इसकी बदौलत टोरंटों के एक बस स्टॉप की गहमागहमी कितने

[208]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 10

[209]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 12

आराम से दिल्ली में अपने बेडरूम में महसूस की जा सकती है।"[210] यहाँ हमारे संबंध सिर्फ़ इस तकनीकी के माध्यम से बचे होने का आभास कराते हैं। जबकि वास्तविकता कुछ और ही है। हम अपनों से कितने कट से गये हैं। हमारी एक-दूसरे के छुवन, एक-दूसरे के साथ-साथ रहने, खाने-पीने उनके पास होने का एहसास आज महज़ एक छलावा है। एक दिन उपन्यास का नायक दीप इसी कटु यथार्थ को अपने बेटे शरद से साझा करते हुए उस पर पश्चाताप करता है कि- "सॉरी बेटा। हमने कनाडा जाने का बहुत गलत कदम उठाया। इसी कनाडा ने मेरा घर और हमें अलग कर दिया। अब लगता है, मुझे राम की तरह वनवास मिल गया हो।"[211] अंतत: दीप भारत में ही रहने का फैसला करता है। और कहता है- "मैं कहीं नहीं जा रहा हूँ यह मेरा आखिरी फैसला है।" और बॉस को फोन करके बोलता है- "बॉस, क्या आप मेरा इस्तीफ़ा रोक लेंगे?"…. ठीक है, मैं कल ऑफिस आ रहा हूँ।... बहुत दिन बाद उसे अच्छा लग रहा था अपना आसमान। .... तनु और बच्चे उसके पास आकर खड़े हो गए थे- थके हुए से, हैरान! उसने धीरे से कहा, "यहाँ भी आसमान नीला ही है। देखो एकदम चमकीला। इससे पहले मुझे क्यों नहीं दिखाई दिया था यह। और फिज़ा में कितनी ख़ुशबू है!"[212] इसी कथन के साथ उपन्यास का सुखद अंत हो जाता है।

इस प्रकार से इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे एक हँसता खेलता परिवार औरों की देखा-देखी और अधिक पैसों की खातिर अपने देश से दूर विदेश (कनाडा) में बसने को लालायित हो जाता है और एक दिन वहाँ बस भी जाता है लेकिन अंतत: उन्हें अपना देश ही भाता है और वह कनाडा से वापस अपने देश भारत लौट आते हैं। हिंदुस्तान की माटी में जन्में तथा पले-बढ़े इस परिवार के लोगों को यदा-कदा अपने वतन की भी याद आती रहती है। अपनी मिट्टी और अपने लोगों के खोने

---

[210]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 8

[211]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 105

[212]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 176

का जब इन्हें एहसास होता है तब इन्हें बहुत पछतावा होता है। अपने देश के प्रति इनके मन में यदा-कदा ही सही लेकिन उठती हूक इन्हें पुन: अपने देश के प्रति मोह जगाती है और इन्हें पुन: अपने देश भारत खींच लाती है। इस प्रकार इस उपन्यास में विदेश के प्रति पहले अत्यधिक आकर्षण व मोह फिर उससे मोहभंग होना दिखाया गया है। इसमें विदेश में रह रहे प्रवासी भारतीयों का जीवन, उनकी जीवन-पद्धति, रहन-सहन, खानपान, वेषभूषा और विदेश के प्रति उनकी सोच आदि को बहुत ही बारीकी से चित्रित किया गया है।

3.4 तीसरी ताली (2011) प्रदीप सौरभ

प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रदीप सौरभ का यह उपन्यास किन्नरों के जीवन पर आधारित है। किन्नरों के जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले हिंदी उपन्यासों में मुख्य रूप से 'यमदीप' (1999) नीरजा माधव, 'तीसरी ताली' (2011) प्रदीप सौरभ, 'किन्नर कथा' (2011) महेंद्र भीष्म और 'गुलाम मंडी' (2014) निर्मला भुराड़िया शामिल हैं। प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' अपने समकालीन समय तथा समाज का वास्तविक यथार्थ प्रस्तुत करता हुआ उपन्यास है। प्रदीप सौरभ के अनुसार- 'मुन्नी मोबाइल' की तरह ही इस उपन्यास के नायक और खलनायक भी काल्पनिक नहीं हैं।' अर्थात् इसमें वास्तविकता का पुट ज़्यादा है। तीसरी ताली.... यानी ऐसी ताली या लोग जिन्हें समाज का हिस्सा कभी माना ही नहीं गया। लेकिन समाज के लोगों को इनकी दुवाएँ पाने की चाहत जरूर रहती है। शादी-विवाह हो या पुत्र-पुत्री का जन्मोत्सव वहाँ इनसे दुआ की उम्मीद जरूर की जाती है। बावजूद इसके इस समाज में इन तीसरी योनि के लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। इन्हें लोग हिजड़ा, खोजा, किन्नर तथा नपुंसक कहते हैं। संविधान में इन्हें 'थर्ड जेंडर' के 'ट्रांसजेंडर' श्रेणी में रखा गया है। समाज के इन्हीं बहिष्कृत उभयलिंगी लोगों के कटु एवं वास्तविक जीवन-यथार्थ को काफी जीवंतता के साथ इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। यह उपन्यास उभयलिंगी, हिजड़ों और लेस्बियन लोगों की

हाशिये पर गुजर-बसर हो रही जिंदगी की कहानी तो प्रस्तुत करता ही है साथ ही उनकी जीविका, जीवन-शैली, रहन-सहन, वेषभूषा, परम्पराओं एवं मान्यताओं आदि के बारे में भी हमें अवगत कराता है। एक प्रकार से यह हिंदी का एक ऐसा सशक्त उपन्यास है जो जेंडर की समस्या को लेकर समाज में मौजूद भेद-भाव को बहुत ही गहराई से विवेचित एवं व्याख्यायित करता है। प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी ने इस उपन्यास के विषय में लिखा है कि- "यह उभयलिंगी सामाजिक दुनिया के बीच और बरक्स हिजड़ों, लौंडों, लौंडेबाजों, लेस्बियनों और विकृत-प्रकृति की ऐसी दुनिया है जो हर शहर में मौजूद है और समाज के हाशिये पर जिन्दगी जीती रहती है। अलीगढ़ से लेकर आरा, बलिया, छपरा, देवरिया यानी 'एबीसीडी' तक, दिल्ली से लेकर पूरे भारत में फैली यह दुनिया समान्तर जीवन जीती है। प्रदीप सौरभ ने इस दुनिया के उस तहखाने में झाँका है, जिसका अस्तित्व सब मानते तो हैं लेकिन जानते नहीं। समकालीन बहुसाँस्कृतिक दौर के 'गे', 'लेस्बियन', 'ट्रांसजेंडर' अप्राकृत-यौनात्मक जीवन शैलियों के सीमित साँस्कृतिक स्वीकार में भी यह दुनिया अप्रिय, अकाम्य, अवांछित और वर्जित दुनिया है। यहाँ जितने चरित्र आते हैं वे सब नपुंसकत्व या परलिंगी या अप्राकृत यौन वाले ही हैं। परिवार परित्यक्त, समाज बहिष्कृत-दण्डित ये 'जन' भी किसी तरह जीते हैं। असामान्य लिंगी होने के साथ ही समाज के हाशियों पर धकेल दिए गये, इनकी सबसे बड़ी समस्या आजीविका है जो इन्हें अन्तत: इनके समुदायों में ले जाती है। इनका वर्जित लिंगी होने का अकेलापन 'एक्स्ट्रा' है और वही इनकी जिन्दगी का निर्णायक तत्त्व भी है। अकेले-अकेले बहिष्कृत ये किन्नर आर्थिक रूप से भी हाशिये पर डाल दिये जाते हैं। .... यहाँ वर्जित समाज की फुर्तीली कहानी है, जिसमें इस दुनिया का शब्दकोश जीवित हो उठा है। लेखक की गहरी हमदर्दी इस जिन्दगी के अयाचित दुखों और अकेलेपन की तरह है। इस दुनिया को पढ़कर ही समझा जा सकता है कि इस दुनिया को बाकी समाज, जिस निर्मम क्रूरता से 'डील' करता है वही क्रूरता इनमें हर स्तर पर 'इनवर्ट' होती रहती है। उनकी जिन्दगी का हर पाठ आत्मदंड, आत्मक्रूरता, चिर यातना का पाठ है। यह हिंदी का एक साहसी उपन्यास है जो

जेंडर के इस अकेलेपन और जेंडर के अलगाव के बावजूद समाज से जीने की ललक से भरपूर दुनिया का परिचय कराता है।"[213]

उपन्यासकार प्रदीप सौरभ ने इस उपन्यास को अपने माता-पिता को समर्पित किया है। उपन्यास की कथा 15 अंकों के माध्यम से कुल 195 पृष्ठों में समाहित है। उपन्यास के मुख्य पात्र हैं- गौतम साहब, आनंदी आंटी, डिम्पल (हिजड़ों के गद्दी की मालकिन), संत आशामाई (हिजड़ों की गुरु संत) रानी, रेखा चितकबरी (कालगर्ल्स रैकेटियर), बाबू श्यामसुंदर, सुविमल भाई ('गे' एवं गांधीवादी नेता), सुनीता, विनीत उर्फ़ विनीता, मंजू, ज्योति और फोटोग्राफ़र विजय कृष्णा आदि। उपन्यासकार इन्हीं पात्रों की कथा-कहानियों तथा इनके ही जीवन-संघर्ष को चित्रित करते हुए आगे बढ़ता है और उसका विस्तार करता है। इस उपन्यास में एक तरफ हिजड़ों के जीवन-यथार्थ को दिखाया गया है तो दूसरी तरफ 'लेस्बियन्स', 'गे' या लौंडेबाजी के साथ-साथ कालगर्ल्स के धंधे में शामिल लोगों तथा उनके नेटवर्क आदि को भी काफी सशक्त ढंग से चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में कथा की शुरुआत उपन्यास के पात्र बड़े बाबू 'गौतम साहब' से शुरू होती है। 'गौतम साहब' समाज से कटे हुए आदमी हैं। इनके घर तीन बेटियों के बाद बेटा पैदा हुआ है। लेकिन यह बात कालोनी के लोगों को तब पता चलती है जब हिजड़ों की तालियाँ और ढोलक की थाप उन्हें सुनाई पड़ती है। गौतम साहब हिजड़ों के कितना भी हो हल्ला करने के बाद भी दरवाजा नहीं खोलते हैं। इस पर 'सुंदरी' हिजड़ी कहती है- "गौतम साहब, लल्ला हुआ है और गर्मी में रज़ाई ओढ़कर बैठे हो।" यही नहीं 'बिंदिया' भी बद्दुआ देते हुए कहती है कि- "हिजड़ों को शगुन नहीं दोगे तो लल्ला हिजड़ा निकलेगा।"[214] सभी हिजड़े अपनी-अपनी भड़ास निकाल रहे थे और हाय-हाय चिल्ला रहे थे। 'सुनयना' तो उनके दरवाजे पर मूतने तक की बात करने लगती है। लेकिन उसकी मंडली की सरगना 'डिम्पल' उसे ऐसा करने से

---

[213]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ (उपन्यास के फ्लैप से साभार)

[214]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 11

मना करती है। वह कहती है कि- “हम हिजड़े जरूर हैं, पर हमारे भी कुछ उसूल हैं। हमारे पेट पर लात मारेगा तो भगवान भी इसे माफ नहीं करेगा।”[215] डिम्पल के इस कथन में कितनी नैतिकता झलक रही है। हिजड़ों को अंतत: वहाँ से निराश होकर लौटना पड़ता है। इस घटना पर उपन्यासकार लिखता है कि- “हिजड़े हार मानने वाले प्राणी नहीं होते, पर गौतम साहब ने उन्हें हरा दिया था। पूरी कालोनी सन्न थी। हिजड़ों पर गौतम साहब की जीत! हिजड़ों से दुखी रहनेवालों को उन्होंने रास्ता दिखा दिया था।”[216] लेकिन सभी लोग गौतम साहब जैसे ही नहीं होते हैं। बहुत कुछ ऐसे भी होते हैं जो गृह-प्रवेश से लेकर शादी-विवाह और बच्चा पैदा होने पर हिजड़ों का आशीर्वाद लेना जरूरी मानते हैं। इन लोगों का मानना है कि हिजड़ों को धन-धान्य देने से ऊपरवाला बुरी नज़रों से बचाता है। ऐसा सोचने वालों में कालोनी के ही मयंक अग्रवाल साहब हैं। मयंक अग्रवाल अपने जुड़वा बच्चे के पैदा होने की खुशी में अपनी सोने की अँगूठी सुंदरी हिजड़े को दे देते हैं और साथ ही दस हजार रुपये बच्चे को आशीर्वाद देने के लिए मंडली की सरगना डिम्पल को भी देते हैं। गौतम साहब के घर बेटा हुआ लेकिन वे हिजड़ों के लाख तीसरी ताली बजाने-गाने के बाद भी दरवाजा नहीं खोलते हैं। उसका कारण शायद यह था कि जिसे वह बेटा समझ रहे थे वह उभयलिंगी यानी हिजड़ा था। जिसे गौतम साहब जान-बूझकर बेटे की तरह उसकी परवरिश करते रहना चाहते हैं। यह बात कालोनी के लोगों को हिजड़ावादी ‘आनंदी आंटी’ और गौतम की कामवाली ‘शन्नो’ के माध्यम से पता चलती है। ‘गौतम साहब’ की कामवाली शन्नो ने आनंदी आंटी को सब कुछ बता दिया। हालाँकि ‘शन्नो’ इस बात को किसी से बताना नहीं चाहती थी, लेकिन वह सच बताकर एक प्रकार से गौतम साहब की मदद ही करना चाहती थी। उपन्यासकार ने कामवाली ‘शन्नो’ के माध्यम से समाज का यह कटु सच कहलवाया है कि- “बच्चे को घर में तो रखा नहीं जा सकता था। किसी ने नहीं रखा आज तक, तो फ़िर गौतम साहब ऐसे आधे-

[215]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 11

[216]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 12

अधूरे बच्चे को कैसे रख सकते थे। उन्हें भी तो समाज में रहना था।... आंटी, आप गौतम साहब की मदद करो। आपके तो बहुत सारे हिजड़ों से संबंध हैं।"[217]

'गौतम साहब' द्वारा हिजड़ों के लिए दरवाजा न खोलना, जिससे गुस्से में आकर हिजड़े 'बिंदिया' द्वारा दिया गया श्राप कि-"हिजड़ों को शगुन नहीं दोगे तो लल्ला हिजड़ा निकलेगा।" वास्तव में सच हो गया- "कुछ ही दिनों के अंदर ही परिवार को पता चल गया था कि वह किसी काम का नहीं है। बढ़ने के साथ उसका पुरुषांग विकसित नहीं हुआ।... बच्चे में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण हैं।"[218] यह कितनी सोचने वाली बात है कि विज्ञान तथा तकनीकी के इस आधुनिक युग में आज भी हमारा समाज तीसरी योनि के लोगों के प्रति संवेदनशील नहीं हो सका है। यही कारण है कि हमारा समाज या मन इन्हें सहज रूप से स्वीकार नहीं कर पाता है। हिजड़े बेटे के जन्म पर गौतम की बदहवासी इसी बात का प्रमाण है जिसका चित्रण प्रदीप सौरभ ने इस प्रकार से किया है -"गौतम साहब की चाल में जो अकड़ आयी थी, वह ढीली पड़ने लगी थी।...वे हमेशा झुँझलाए – झुँझलाए से दिखते। अजीब तरह की चिन्ता उनके माथे पर दिखती।... बेतरतीबी ऐसी कि गौतम साहब कभी मोजा पहनना भूल जाते तो कभी उनकी कमीज पीछे से निकली होती या फिर आगे से। ऐसा लगता जैसे उन पर कोई पहाड़ गिर गया हो।"[219] उपन्यास में एक प्रसंग आनंदी आंटी और उनकी हिजड़ी बेटी 'निकिता' का भी आता है। लेकिन 'आनंदी आंटी' 'गौतम साहब' की तरह नहीं हैं। 'आनंदी आंटी' हिजड़ी बेटी 'निकिता' को समाज की परवाह किये बिना उसे अपने घर में ही रखती हैं। तथा समाज का डटकर सामना करते हुए उसे पढ़ाती-लिखाती हैं। लेकिन परेशानी तब आती है जब छठी कक्षा में 'निकिता' को जेण्डर स्पष्ट न होने के कारण किसी भी स्कूल में दाखिला नहीं मिलता। स्कूल में उन्हें जवाब मिलता है कि- "जेंडर

---

[217]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 41

[218]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 41

[219]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 40

स्पष्ट न होने के कारण हम दाखिला नहीं दे सकते हैं... यह स्कूल सामान्य बच्चों के लिए है, बीच वाले बच्चों को दाखिला देने से स्कूल का माहौल खराब हो जाता है।"[220] इसके बावजूद भी आनंदी आंटी हार नहीं मानती हैं। वह निकिता को घर पर ही आठवीं कक्षा तक पढ़ाती हैं। लेकिन निकिता की बढ़ती आयु के साथ जब उसमें हिजड़ों के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे तो कालोनी से लेकर रिश्तेदारों तक में उसका मजाक उड़ाया जाने लगता है। इस उपहास, बेइज्जती और परेशानी से तंग आकर एक दिन 'आनंदी आंटी' को न चाहते हुए भी अपनी बेटी निकिता को हिजड़ा समाज को सौंपने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अंतत: एक दिन वह अपनी बेटी 'निकिता' को 'नीलम' हिजड़े को सौंप देती है।

'गौतम साहब' जिस सच्चाई को समाज से छुपाना चाहते थे, उन्हें नहीं पता था कि एक न एक दिन समाज को यह सच्चाई मालूम ही हो जाएगी। और हुआ भी यही। समस्याओं से तंग आकर एक दिन विनीत अर्थात् विनीता घर से भाग जाती है और तमाम प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए एक दिन वह हिजड़ों की दुनिया में पेज़ थ्री की शख्सियत बन जाती है। एक बड़े नाम के साथ वह हिजड़ों के ब्यूटीपार्लर 'गे वर्ल्ड' की मालकिन बन जाती है। वैसे तो उपन्यास के प्रत्येक किरदार बहुत ही बखूबी से एक नए सच और दर्द को बयाँ करते दिखाई देते हैं। लेकिन इन सभी किरदारों में 'विनीता', 'मंजू', 'रानी' (जो पहले राजा था), 'विजय' एवं 'ज्योति' जैसे किरदार बहुत ही सशक्त तरीके से संघर्षों का सामना करने वाले किरदार हैं। लेकिन सभी किरदारों में 'विनीता' और 'मंजू' का किरदार तो जीवंत होकर भी उनके मृत होने की ही कहानी बयाँ करता है। 'विनीता' और 'मंजू' दोनों ही फ़ोटोग्राफर 'विजय' को प्यार करने लगती हैं। लेकिन अंतत: उन्हें सिर्फ़ हासिल होता है एक असह्य अकेलापन या खालीपन। 'मंजू' हिजड़ों के लिए आयोजित होने वाले कूवागम मेले में प्रथा तथा परंपरा के अनुसार शादी तो कर लेती है लेकिन उसकी माँग में सिंदूर मंदिर के इष्ट अरवाण के नाम का नहीं होता है बल्कि फोटोग्राफर 'विजय' के नाम का सिंदूर वह अपनी माँग में भरती है। यही वजह है कि वह परंपरा के

[220]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 42

अनुसार विधवा बनने से इन्कार कर देती है। क्योंकि वह 'विजय' से प्यार करती है और किसी भी कीमत पर उसे खोना नहीं चाहती है। वह उसी के साथ रहकर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है। यही वजह थी कि 'मंजू' विधवा विलाप न करके हिजड़ों की उस परंपरा को तोड़ देती है। जिससे हिजड़ा समाज में यह बात बहुत कौतूहल का विषय बन जाती है कि आखिर कौन है वह जो इस परंपरा को लात मार रही है। हालाँकि यह सच था कि 'मंजू' एक पूर्ण औरत थी। 'मंजू' वहाँ से किसी तरीके जान बचाकर होटल पहुँच जाती है जहाँ पर 'विजय' ठहरा हुआ है। यहाँ पर 'विनीता' भी चुपके से पहुँच जाती है। और चुपचाप 'मंजू' और 'विजय' का वार्तालाप एकांत में सुनती रहती है। 'मंजू' अपने दिल की बात 'विजय' से कह देती है कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ और तुमसे शादी करना चाहती हूँ, विजय मैं एक पूर्ण स्त्री हूँ। लेकिन 'विजय' जो कहता है उसे सुनकर इन दोनों के पैरो तले की जमीन खिसक जाती है। विजय के कथन के साथ ही इस उपन्यास का अंत भी हो जाता है। इस प्रकार से दिल्ली के सिद्धार्थ इंक्लेव हाउसिंग सोसायटी से शुरू हुई यह किन्नर कथा तमिलनाडु के विल्लुपुरम जिले में आयोजित होने वाले 'कूवागम मेले' में जाकर पूर्णता प्राप्त करती है। दिल्ली के सिद्धार्थ इंक्लेव से 'कूवागम मेले' तक की यह कथा हमें उन सच्चाईयों से अवगत कराती है जिससे हम अभी तक अनभिज्ञ हैं। उपन्यास के अंत में फोटोग्राफ़र 'विजय कृष्णा' का कथन काफी भावुकता भरा है- "मंजू, मैं तुमसे शादी नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि तुम एक मुकम्मल औरत हो। तुम्हारी खूबसूरती हासिल करना किसी की भी खुशकिस्मती हो सकती है, पर मैं खुशकिस्मत नहीं हूँ। मैं तुम्हारे निर्मल व पारदर्शी हृदय का समर्पण स्वीकार कर ही नहीं सकता। तुम मुकम्मल औरत जरूर हो, पर मैं मुकम्मल पुरुष नहीं हूँ... मैं एक हिजड़ा हूँ! हिजड़ा.....। विजय लगातार कहता जा रहा था -"दुनिया के दंश से अपने-आपको बचाने के लिए मैंने लगातार लड़ाई लड़ी और खुद को स्थापित किया। मैं नाच-गाना नहीं, नाम कमाना चाहता था। भगवान राम के उस मिथक को झुठलाना चाहता था, जिसके कारण तीसरी योनि के लोग नाचने-गाने के लिए अभिशप्त हैं। ... परिवार और समाज से बेदख़ल हैं...।... इस

प्रकार विजय के ये शब्द एकलाप बनकर रह गए। इस एकालाप को न मंजू सुन पा रही थी और न विनीता। मानों चम्पा का दरख्त एक बार फिर जमीन से उखड़ गया था। उसे कुदरत की आँधी ने नहीं हिलाया था... किसी ने उसकी जड़ पर ही आरी चला दी थी और इस आरी ने इस बार एक नहीं, दो दरख्तों को चीरा था।"[221] उपन्यास का अंत जरूर इस एक यथार्थ कथन से हो जाता है लेकिन यह बहुत सारे सवाल भी खड़ा कर देता है जिसके कारण इस तीसरे योनि के लोगों की जिंदगी एक नर्क बन चुकी है। किस प्रकार परिवार, समाज आदि से बहिष्कृत ये लोग उभयलिंगी होने के नाते हाशिये पर धकेल दिये जाते हैं। जिससे इनको कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिनमें इनकी सबसे बड़ी समस्या आजीविका की समस्या है। सरकार द्वारा भी हिजड़ों के लिए आवास, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य आदि का कोई उचित प्रबन्ध नहीं किया गया है। यही कारण है कि हिजड़े शादी विवाह, पुत्र जन्मोत्सव या किसी शुभ कार्य के अवसर पर नाच-गाकर अपना जीवन जीने को विवश हैं। इस पेशे में आर्थिक तंगी इतनी है कि इन्हें देह व्यापार जैसे गलत धंधे में भी शामिल होने के लिए विवश होना पड़ता है। इस उपन्यास में 'बेरोजगारी', 'गरीबी' और 'भुखमरी' आदि समस्याओं के कारण पूर्ण पुरुषों अथवा स्त्रियों का हिजड़ा बनकर अपना पेट पालने आदि के भी कई प्रसंग इस उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। जिनमें 'राजा', 'ज्योति', 'मंजू' आदि से संबन्धित कथा-प्रसंग प्रमुख हैं।

हिजड़ों की कई प्रकार की समस्याएँ हैं जिनमें सबसे प्रमुख समस्या है समाज द्वारा अस्वीकार किये जाने की। इन्हें आज भी समाज में हेय दृष्टि अथवा हँसी के पात्र के रूप में देखा जाता है। यह सच है कि परिवार में बच्चे का जन्म हर्षोल्लास का कारण बनता है। लेकिन हिजड़े के जन्म पर परिस्थितियाँ एकदम बदल जाती हैं। जिस घर परिवार में इनका जन्म होता है वहाँ पर जैसे मातम छा जाता है। ऐसे में इन्हें किसी कूड़े के डिब्बे में फेंक दिया जाता है या लावारिस छोड़ दिया जाता है। भारतीय समाज का इस तरीके संवेदनहीन होना कहीं न कहीं हिजड़ों को एक अलग समुदाय या दुनिया

[221]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 195

में जीने के लिए विवश करता है और उन्हें जीवन-भर उनकी समाज में उपयुक्त भूमिका की तलाश करवाता है। लेकिन इस प्रक्रिया में कुछ ऐसे भी होते हैं जो स्वाभिमानी होते हैं और जिंदगी जीते संघर्ष करते सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं। जिनमें 'विनीता' (ब्यूटीपार्लर की दुनिया में बड़ा नाम 'गे वर्ल्ड' की मालकिन), 'सुप्रिया' (डायरेक्टर), 'मणि कलीता', 'राजू' (एन.जी.ओ.), 'विजय' (फ़ोटोग्राफर) आदि पात्र इसी तरह के पात्र हैं। जो हिजड़ों के लिए एक आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। तो वहीं पर कुछ ऐसे भी पात्र हैं जिनमें संघर्षों का सामना करने शक्ति नहीं होती है और वे इस तीसरी योनि की घुटनभरी जिंदगी से इस कदर टूट जाते हैं कि एक न एक दिन अपनी जीवन-लीला ही समाप्त कर लेते हैं। 'निकिता' का प्रसंग इसका जबर्दस्त उदाहरण है। 'निकिता' 'आनंदी आंटी' की बेटी थी जिसे 'आनंदी आंटी' ने 'नीलम' हिजड़े को सौंप दिया था। लेकिन यहाँ आकार वह यहाँ के रीति-रिवाज और व्यहार से डर गयी कि आगे उसे भी सभी की तरह नाच-गाना करना होगा और ऐसे ही जीवन जीना पड़ेगा। इसी उलझन में 'निकिता' एक दिन चूहे मारने वाली दवा खाकर आत्महत्या कर लेती है। इसके अलावा भी इस उपन्यास में और भी ऐसे कई त्रासदी-पूर्ण प्रसंग आए हैं। 'सुप्रिया कपूर' का हिजड़ा होना ही उसकी माँ की आत्महत्या का कारण बनता है। यही नहीं उसकी बड़ी बहन को ससुराल वालों ने घर से निकाल दिया क्योंकि उसकी बहन हिजड़ा है। शोभा तथा राजू को उसके माँ – बाप ने जन्म के बाद उनके हिजड़ेपन का पता चलते ही कूड़े के डिब्बे में फेंक दिया था। इन पात्रों की जीवन गाथा यह दर्शाती है कि आज भी विज्ञान तथा तकनीकी के इस युग में समाज के लोगों में अभी वह जागरूकता नहीं आई है जिससे कि वे पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग की तरह ही इस नपुंसक लिंग अर्थात् उभयलिंगी या हिजड़ा लोगों को भी एक पारिवारिक सदस्य के रूप में स्वीकार कर सकें। इस उपन्यास में 'किसन' एवं 'बाबी' का प्रसंग इस बात को और अधिक स्पष्ट ढंग से पुष्ट करता है। जब 'किसन' खाप या पंचायत का फैसला न मानते हुए भी बाबी हिजड़े के साथ ही शादी करना चाहता है और उसी के साथ जिंदगी गुजरना चाहता है। और अंतत: वह पंचायत के फैसले के खिलाफ़ जाकर बाबी को

अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार भी कर लेता है और गाँव से बाहर एक घर में रहने लगता है। लेकिन उसका यह फैसला गाँव तथा समाज के लोगों को नागवार लगता है अंततः इन दोनों को इनके घर में ही जिंदा जला दिया जाता है। इस प्रकार किसन को विरोधों का सामना करते हुए अपनी जान तक गँवानी पड़ती है। इस घटना तथा प्रसंग के माध्यम से वर्तमान समाज तथा समाज के लोगों की तीसरी योनि के लोगों के प्रति सोच एवं कटु सच्चाई को उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है।

तीसरी योनि के लोगों को सिर्फ परिवार, समाज ही नहीं बल्कि समाज की बहुत सी अन्य संस्थाओं में भी काफी भेदभाव का सामना करना पड़ता है। जिनमें शिक्षण संस्थान भी एक है। शिक्षण संस्थान द्वारा किए गए भेद-भाव को इस उपन्यास में 'मणि कलीता' और 'निकिता' के माध्यम से दिखाया गया है- "मणि कलीता गुवाहाटी असम की रहने वाली है। गुवाहाटी के काला पहाड़ में उसका बचपन बीता। स्कूल गयी। बच्चों की चुहलबाजी और मजाक नहीं झेल पाई। उस दिन तो स्कूल में हद ही हो गई जब कुछ बदमाश लड़कों ने उसे नंगा कर उसके गुप्तांग की नुमाइश की और नारे लगाये – हिजड़ा! हिजड़ा! इस घटना ने मणि को बहुत विचलित किया। अन्ततः उन्होंने स्कूल छोड़कर कथक सीखने का फैसला किया।"[222] मणि का प्रसंग इस तथ्य को उजागर करता है कि शिक्षण संस्थानों में भी इन्हें एक समान तरीके से नहीं देखा जाता है। इस सबके बावजूद मणि कलीता हार नहीं मानती वह संघर्ष करते हुए आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार के कई प्रसंग उपन्यास में भरे पड़े हैं।

इस उपन्यास में हिजड़ों की सरगना तथा हिजड़ों के गद्दी की मालकिन 'डिम्पल' के माध्यम से उपन्यासकार ने हिजड़ों के डेरे और गद्दी के विषय के साथ-साथ उनके रीति-रिवाज, परंपरा, उत्सव एवं गुरु परंपरा आदि को भी बहुत ही जीवंतता के साथ चित्रित किया है। हिजड़ों के डेरे, गद्दी आदि से संबन्धित सभी प्रकार की आंतरिक गतिविधियों का चित्रण उपन्यासकार ने बहुत ही बारीकी तथा यथार्थपरक ढंग से किया है। हिजड़ों की गुरु संत आशामाई हैं जो हरिद्वार के संत शिरोमणि सिद्धेश्वर

[222]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 175

स्वामी की शिष्या हैं। इनका आश्रम या पीठ कुतुबमीनार के पास मेहरौली की पहाड़ियों के बीच स्थापित है। हिजड़े अपने समस्त कार्य इन्हीं के उपदेशों के अनुरूप ही करते हैं। हिजड़े अपने शुभ कार्य पर मुर्गेवाली या खप्परवाली दो देवियों की पूजा करते हैं। मुर्गेवाली माँ को हिजड़े अपनी इष्टदेवी मानते हैं। जिनका निवास स्थान राजस्थान में है। इस प्रकार सामान्य मानव की तरह यह भी अपने गुरु और अपने देवी-देवताओं के प्रति अपार श्रद्दा रखते हैं। इनके अपने नियम और कानून हैं। यह आशामाई के बताए हुये मार्गों पर चलते हैं। इनको जीविका के लिए किसी प्रकार के गलत तरीके नहीं अपनाना है। क्योंकि इनकी संत गुरु आशामाई ने इसे गलत माना है। हिजड़ों की बिरादरी में लड़कियों को हिजड़ा बनाने की मनाही है। इसके विषय में हिजड़ों की गुरु संत आशामाई कहती हैं कि- "कुदरत से खिलवाड़ करने का किसी को हक नहीं है। अपने फायदे के लिए किसी को हिजड़ा बनाना पाप है। ऐसा करने पर हिजड़े को सौ बार हिजड़े का ही जनम लेना पड़ता है और फिर भी उसका पाप कम नहीं होता है।"[223] लेकिन फिर भी डिम्पल के डेरे पर एक ऐसा ही पाप हो जाता है। डिम्पल के डेरे पर अलीगढ़ के नाचने वाले राजा को रानी बना दिया जाता है। उसका गुनाह यह था कि जिस 'मंजू' को डिम्पल अपनी बेटी की तरह मानती आ रही थी उसके साथ राजा ने शारीरिक संबंध बना लिए थे। हालाँकि इसमें उसकी कोई गलती नहीं थी इसमें सारी गलती सिर्फ उसकी बेटी 'मंजू' की ही थी। जो राजा से प्यार करने लगती है। और उसे ऐसा करने के लिए मज़बूर कर देती है। लेकिन राजा को इसकी सजा डिम्पल उसका पुरुषांग काटकर देती है। यह घटना हमें काफी गहराई में जाकर सोचने के लिए विवश करती है। एक तरफ यह हिजड़ा समाज है जहाँ राजा को एक छोटी सी नादानी या भूल की सजा अपना लिंग कटवाकर भुगतनी पड़ती है-वहीं पर दूसरी ओर हम अपने समाज में ऐसे बलात्कारियों को कौन सी सजा देते हैं जो आए दिन मासूम लड़कियों व युवतियों को अपनी हवश का शिकार बना लेते हैं। इसकी अपेक्षा कुछ नहीं बल्कि कुछ जुर्माना, कुछ दिन की जेल और फिर रिहाई। इससे तो अच्छा

[223]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 30

हिजड़ा समाज ही है कम से कम उन्हें अपने समाज, बिरादरी और गुरु आदि का भय तो रहता है। उपन्यासकार ने यह भी दिखाया है कि किस तरह डिम्पल, राजा-मंजू प्रकरण पर बार–बार पश्चाताप करती रहती है। इसके लिए वह अपनी बेटी समान मंजू को हर वह खुशी देना चाहती है। जिसे वह उससे नासमझी में छीन लेती है। वह उसे हमेशा खुश देखना चाहती है। इससे यह पता चलता है कि डिम्पल अंदर से कितनी संवेदनशील, भावुक, ममतामयी किन्नर है।

यह उपन्यास हिजड़ों के इलाकों, उनकी गद्दियों और डेरों आदि में होने वाले आपसी लड़ाई-झगड़े, मारपीट, वर्चश्व तथा गद्दी आदि को हथियाने के लिए की गयी हत्या जैसे जघन्य अपराध को भी बहुत सूक्ष्म ढंग से विवेचित करता है। उपन्यासकार ने इनके आंतरिक जीवन पक्ष को बख़ूबी चित्रित किया है। इसकी वजह यह भी है कि उपन्यासकार प्रदीप सौरभ एक पत्रकार के साथ-साथ एक अच्छे फोटोग्राफर भी हैं। इन्होंने इस उपन्यास को लिखने के लिए एक अच्छा-खासा फील्डवर्क भी किया है। इसमें किसी को हिजड़ा बनाने तथा उसकी चुनरी की रस्म, गिरिया रखने आदि तथा अन्य बहुत से रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं आदि से उपन्यासकार हमारा परिचय कराता है। हिजड़ा चाहे मुसलमान हो या हिंदू, उसको दफ़नाने या फिर जलाने की रस्म वर्षों से कब्रिस्तान में होती आयी है। हिजड़ों के नाचने और गाने के विषय में मंजू विजय को एक मिथकीय कहानी सुनाती है- ‘‘हमारे बुजुर्ग बताते हैं कि जब भगवान राम रावण को मार कर अयोध्या लौटे, तो वहाँ बड़ा भारी जश्न हुआ। रातभर नाच-गाना चला। काफी रात बीतने के बाद भगवान राम ने कहा कि अब सभी नर-नारी अपने घरों को जायें। भगवान राम ने यह आदेश नर और नारियों को दिया था। लिहाजा जो नर या नारी नहीं थे, वे वहीं रह गये। भगवान राम के आदेश का उल्लंघन भला वे कैसे कर सकते थे! राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उन्हें जब यह बात पता लगी, तो उन्होंने तीसरी योनि के उन लोगों को नाचने-गाने का वरदान दे दिया। बस,

तभी से ये लोग नाच-गा रहे हैं।[224] यही नहीं हिजड़ों में गिरिया रखने की भी परंपरा है। गिरिया के विषय में उपन्यासकार ने बताया है कि- "गिरिया वे होते हैं, जिन्हें हिजड़े अपना पति मान लेते हैं। उनके लिए वे आम महिलाओं की तरह करवाचौथ से लेकर पति के लिए होनेवाले हर तीज-त्योहार मनाते हैं। आमतौर पर गिरिया ढोलक या हारमोनियम बजानेवाले होते हैं या फिर गरीब आदमी। समलैंगिक भी कई बार गिरिया बन जाते हैं। आमतौर पर गिरियाओं की मूँछें जरूर होती हैं। हिजड़े मूँछवालों को ही गिरिया बनाना पसंद करते हैं। मूँछों से वे उनकी मर्दानगी महसूस करते हैं और उनका अपने स्त्री होने का अहसास भी पुख्ता हो जाता है।"[225]

हिजड़ा बनाने की प्रथा कुछ इस प्रकार से उपन्यास में वर्णित है। सबसे पहले मुर्गेवाली की पूजा होती है। एक मुर्गे की बलि दी जाती है। गाना बजाना होता है। सभी हिजड़े और गुरु इकट्ठा होते हैं। खतना करने वाला एक्सपर्ट होता है। और फिर पुरुषांग को एक ही झटके में हलाल कर दिया जाता है। यह हिजड़ा संस्कार है जिसके विषय में हिजड़ों की मान्यता है कि- "इस रक्त के बहने के साथ पुरुष का पुरुषत्व बह जाता है और उसमें नारीत्व के गुण प्रवेश कर जाते हैं। इसके बाद लकड़ी के एक गुटके के जरिये घाव को बंद कर दिया जाता है, ताकि पेशाब का रास्ता खुला रहे। खतना एक्सपर्ट गुटके के आसपास टाँकों के जरिये उस छेद को योनि का आकार दे देता है। इसके बाद जख्म पर गरम तैल डाला जाता है और जड़ी-बूटियों का लेप लगाया जाता है, ताकि जख्म जल्दी भर जाए। हिजड़ा बनाने की यह प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होती, जब तक हिजड़ा बननेवाला पुरुष एक सील पर बैठकर ज़ोर नहीं लगाता है। वह तब तक सील पर ज़ोर लगाता है, जब तक उसके गुदा भाग से रक्त नहीं बहता। जब यह रस्म पूरी हो जाती है तो इसे नए बने हिजड़े का पहला रजोधर्म (मेन्सेज) माना जाता है।"[226]

---

[224]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 165

[225]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 44

[226]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 61-62

बलिया के दलित लड़के ज्योति का हिजड़ों के डेरे पर किया गया संस्कार इसी प्रकार का एक सशक्त उदाहरण है। ज्योति की कहानी बहुत ही मार्मिक है। यह बाबू श्यामसुंदर सिंह का सबसे प्रिय लौण्डा था। लेकिन समय की मार ने उसे हिजड़ा बनने के लिए मजबूर कर दिया। ज्योति के माध्यम से उपन्यासकार ने सफेदपोशों का शिकार बनने वाले लौंडों (खूबसूरत किशोरों, युवकों) के दर्द को दिखाया है। ज्योति, सोनम हिजड़े से हिजड़ा बनने के लिए तर्क करता है और उससे कहता है कि- "बिना हिजड़े के भी तो हिजड़ा बना हुआ हूँ। जो अपने को मर्द कहते हैं, वे कौन से हिजड़ों से कम हैं! गरीब का बेटा हूँ, तो पूरे गाँव की भौजाई बन गया हूँ।.... हिजड़े और आम आदमी में क्या अंतर है! दोनों को ही तो भगवान ने बनाया है। मैं तो उसे हिजड़ा मानता हूँ, जो सच्चा फैसला नहीं कर पाते हैं और मौके पाछा दिखाकर भाग जाते हैं।.... माना मैं मर्द हूँ, लेकिन ये समाज मुझसे मर्द का काम लेने के लिए राजी नहीं है। मुझे इस समाज ने मादा की तरह भोग की चीज़ में तब्दील कर दिया है। मैं मर्द रहूँ, औरत रहूँ या फिर हिजड़ा बन जाऊँ, इससे किसी को कोई फर्क नहीं पड़ेगा, पेट की आग तो बड़े-बड़ों को न जाने क्या-क्या बना देती है।"[227] ज्योति के इस कथन में कितनी सच्चाई है। वाकई में यह पेट की आग ही है जो हिजड़ो को नाचने-गाने के साथ कालगर्ल्स रैकेट की दुनिया के प्रति झुकाव के साथ ही साथ रईसजादों के लौंडेबाजी के शौक को पूरा करने के लिए मजबूर करती है। इस प्रकार एक पूर्ण पुरुष ज्योति की हिजड़ा बनने की मजबूरी हमें अंदर तक झकझोर देती है। साथ ही यह घटना हमारे मौजूदा समय तथा समाज में हिजड़ों के जीवन-यथार्थ तथा उनके अस्तित्व के विषय में सोचने के लिए भी हमें बाध्य कर देती है।

लौंडेबाजी भी एक प्रकार से स्त्री-शोषण है। 'रति' के साथ उपन्यास के पात्र सुविमल भाई कुछ ऐसा ही करते हैं। सुविमल भाई 'गे' हैं और लौंडेबाजी के शौकीन हैं। यह गांधीवादी हैं लेकिन व्यक्तिगत तौर पर इन्हें औरत की गंध से नफरत है। यह 'रति' से विवाह सिर्फ अपने सुरक्षा की खातिर

---

[227]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 57

करते हैं। घर के काम-काज, चूल्हा-चौका आदि के लिए 'रति' सिर्फ इनकी पत्नी है। जबकि शारीरिक जरूरत को पूरा करने के लिए वह अपनी पार्टी के युवक अनिल के साथ अप्राकृतिक संबंध बनाकर पूरी करते हैं। सुविमल भाई रति को भी लेस्बियन बनने की सलाह देते हैं। लेकिन रति आगे चलकर इनसे तलाक लेकर अपना घर बसा लेती है।

इस उपन्यास में हिजड़ों का सबसे बड़ा मेला 'कुवागम मेला' एक प्रकार से हिजड़ों के पौराणिक उल्लेख का एक स्रोत भी है। कुवागम तमिलनाडु के विल्लुपुरम जिले का एक छोटा सा गाँव है। यहीं पर कुठनदवार मंदिर स्थापित है जो हिजड़ों का पवित्र तीर्थ स्थल है। यहाँ पर हर साल एक मेला लगता है जो सत्रह दिनों तक चलता है। जिसमें दुनिया भर के हिजड़े आते हैं। यहाँ तीसरी योनि के लोगों को एक दिन के लिए सुहागन बनने का मौका मिलता है जिससे उनकी शादी करने की मुराद भी पूरी हो जाती है। फिर वह विधवा बन जाते हैं। इस प्रकार पूरे कुवागम में सत्रह दिनों तक उत्सव का माहौल होता है। देश के कोने-कोने से हिजड़े जमा होते हैं। महाभारत की कथा के माध्यम से उपन्यासकार ने इस तीसरी योनि के लोगों की संस्कृति और परंपरा को मिथकीय रूप प्रदान किया है। "हर वर्ष वसंत के बाद चित्रा पूर्णिमा के दिन अर्जुन के पुत्र अरवाण की याद में यह मेला लगता है। यहाँ के कुठनदवार मंदिर में अरवाण के सिर के हिस्से की मूर्ति है। मान्यता यही है कि यह सिर महाभारत काल से यहाँ रखा हुआ है। इसीलिए कृष्णरूपी मोहिनी के रूप में जन्म लेनेवाला हर प्राणी उनसे विवाह कर उनकी मृत्यु के बाद विधवा बन जाता है। ..... कथा के बाद अरवाण की मूर्ति को रथ में बिठाकर पूरे गाँव में घुमाया जाता है और फिर उसे अग्नि को समर्पित कर मान लिया जाता है कि उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद सुहागिन बने सब हिजड़े विधवा बन जाते हैं, इस विश्वास के साथ कि स्वर्ग में रहकर अरवाण पूरे साल उनकी रक्षा करेंगे।"[228]

[228]तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 190

भूमंडलीकरण के इस दौर या युग को हम एक प्रकार से विमर्शों का दौर भी कह सकते हैं। समकालीन साहित्य में आज दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री-विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श एवं किन्नर विमर्श को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मौजूदा समय के साहित्य में इन विमर्शों का दौर काफ़ी तीव्र गति से चल रहा है। इन विमर्शों के केन्द्र में वे लोग हैं जिन्हें शुरू से ही शोषण का शिकार होना पड़ा है या वह हाशिए पर जीवन जीने को विवश रहे हैं। 21वीं सदी में सबसे महत्वपूर्ण विमर्शों में एक 'किन्नर विमर्श' भी है। यह विमर्श उन तीसरी योनि अर्थात् उभयलिंगी लोगों के सरोकारों को रेखांकित करता है। यह उभयलिंगी या हिजड़ा समाज द्वारा बहिष्कृत एवं सामाजिक भेद-भाव के चलते ही हाशिए पर त्रासदीपूर्ण जीवन जीने के लिए विवश है। कानूनी रूप से अधिकार प्राप्त होने के बावजूद हिजड़ों को आज भी समाज में उचित मान – सम्मान तथा संवेदनपरक दृष्टि से नहीं देखा जा रहा है। हिजड़ा समाज की इन्हीं सच्चाईयों से हमें अवगत कराता उपन्यास है 'तीसरी ताली'। प्रदीप सौरभ ने अपने इस उपन्यास 'तीसरी ताली' में तीसरी योनि अर्थात् उभयलिंगी या हिजड़ों वास्तविक जीवन-यथार्थ को बहुत ही सूक्ष्म एवं स्पष्ट तरीके से परत-दर-परत निकिता, विनीता, रानी, ज्योति, मंजू, विजय, डिम्पल, सुनयना, पिंकी, रेखा चितकबरी, रीना, मणि कलीता आदि पात्रों के माध्यम से बड़ी ही मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। उपन्यास में इन पात्रों की अपने परिवार से अलग होने की पीड़ा के साथ-साथ उनकी हाशिये पर जिन्दगी जीने की विवशता, लैंगिक भेद-भाव, अकेलापन तथा आजीविका आदि की समस्या को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

3.5 दस बरस का भँवर (2007) रवीन्द्र वर्मा

यह उपन्यासकार रवीद्र वर्मा का चर्चित उपन्यास रहा है। यह उपन्यास भारत के इतिहास में घटित हुए उन सांप्रदायिक दंगों को साहित्य के माध्यम से सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह सांप्रदायिकता जैसे मुद्दों पर महत्वपूर्ण विचार भी प्रस्तुत करता है। इसमें भविष्य में दुबारा ऐसी घटनाएँ

घटित होने का डर किस तरह से लोगों के मन में बना रहता है, इस यथार्थ को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास की कथा के क्रम में बाबरी ध्वंस, गुजरात के गोधरा कांड तथा 1984 के सिक्ख दंगों का जिक्र बहुत सूझ-बूझ के साथ किया गया है। इस उपन्यास में अमरीका के वर्ल्ड ट्रेड तथा भारत में संसद पर हुए आतंकवादी हमलों का भी उल्लेख हुआ है। इस उपन्यास का समय 1992 के बाबरी विध्वंस और 2002 के गुजरात के गोधरा दंगे यानी इसी दस बरस के बीच का है। "इसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) और गुजरात नरसंहार (2002) के बीच फैले दस वर्ष हमारे समकालीन इतिहास का ऐसा समय रचते हैं, जिसकी प्रतिध्वनियाँ देर और दूर तक जाएंगी। इस दशक में केवल सांप्रदायिकता ही परवान नहीं चढ़ी, बल्कि नव-उदारवाद ने भी हमारे समाज में जड़ें पकड़ी-जैसे दोनों सगी बहनें हों। उपभोक्तावाद मूल्य बना। सामाजिक सरोकार तिरोहित होने लगे। यह उपन्यास इसी आरोह-अवरोह को एक परिवार की कहानी द्वारा पकड़ने की कोशिश है, जिसके केंद्र में रतन का तथाकथित 'शिजोफ्रेनीया, है और उसका सामना करते बाँके बिहारी हैं। रतन के भाइयों की संवेदनहीनता जाने-अनजाने एक चक्रव्यूह की रचना करती है, जिससे बाँके बिहारी अपने छोटे बेटे को निकालते हैं। रतन अपने उन्माद में अपनी प्रेमिका 'सपना' का बलात्कार करता है। पत्रकार बाँके बिहारी के लिए यह 'गुजरात' का रूपक बन जाता है। इन्ही कथा-सूत्रों के इर्द-गिर्द लेखकीय चिंताएँ बिखरी हैं, जो समकालीनता का अतिक्रमण करती हुई मनुष्य की नियति की पड़ताल करती हैं।" (उपन्यास के फ्लैप से साभार) झाँसी के रहने वाले पत्रकार बाँके बिहारी के परिवार में इनके चार बेटों नमन, पवन, मदन और छोटे रतन के अलावा इनकी पत्नी गायत्री हैं। लेकिन यह परिवार अपने जड़ से उखड़ सा गया है। बड़ा बेटा नमन एक मुस्लिम लड़की नूरजहाँ से शादी कर लेता है तथा वह लखनऊ में रह रहा है। इसकी पत्नी भी बैंक में नौकरी करती है। इन दोनों का एक बेटा है मुन्ना। दूसरा पवन है जो अपनी पत्नी किशोरी के साथ मुंबई जैसे शहर में रहता है। इनकी एक बेटी भी है बेबी जिसका असली नाम मल्लिका है। इसी के नाम पर पवन ने पी. वी. सी. पाइप का कारख़ाना भी दहिसर में खोल रखा है।

पवन के अंदर यौन-लिप्सा भरी पड़ी है। इसका किसी डायना नाम की महिला से नाजायज़ संबंध है। जिसकी वजह से इसकी पत्नी किशोरी के मुँह से बार-बार 'जय कौशल्या मैया' का नाम निकलता है। "किशोरी के मुँह से बार-बार 'जय कौशल्या मैया' निकलने के पीछे सिर्फ़ परदे पर मीनारों का गिरना नहीं था। उसके पीछे डायना भी थी जिसका नाम कभी अंजली हो जाता, कभी सुनयना और कभी कुछ और। किशोरी को पता चल जाता था। कभी पवन के बदन की पराई गंध से, कभी किसी फ़ोन से और कभी गाड़ी के फ़र्श पर सीट के नीचे गिरे कंडोम के छिलके से। जब ऐसा कुछ होता तो किशोरी की आँख से एक आँसू गिरता और उसके मुँह से निकलता 'जय कौशल्या मैया'। लेकिन उस दिन तो हद ही हो गई जब किशोरी किटी पार्टी के लिए दोपहर में अपनी सहेली वर्षा के घर जाती है और पार्टी स्थगित हो जाती है। वह जब लौटकर आती है तो देखती है कि-"पलंग पर चित लेती एक नंगी औरत हँस रही है। पवन फ़र्श पर तिरछा उसके पास नंगा खड़ा है।"[229] तीसरा मदन पैसों की खातिर अमेरिका जा बसता है। वहाँ इसने शादी भी किसी जेन नाम की लड़की से कर ली है। सबसे छोटा बेटा रतन है जो गाँव में ही माँ-बाप के साथ रहता है। यह 'शिजोफ्रेनिया' (Schizophrenia) का शिकार है। यह एक मानसिक विकार है। 'स्किज़ोफ्रेनिया' का शाब्दिक अर्थ है – 'मन का टूटना'। रोगी अकेले रहने लगता है। अपना ध्यान नहीं रख पाता है। उसे लगता है कि सभी उसके खिलाफ़ हैं। उसकी शारीरिक जरूरतें आदतें बिगड़ जाती हैं। नींद नहीं आती है। रोगी अकारण ईधर-उधर घूमता रहता है। अजीबोगरीब हरकतें और लोगों पर शक करने लगता है। यही नहीं रोगी बेवजह कभी भी हिंसात्मक हो सकता है। पत्रकार बाँके बिहारी अपने इसी छोटे बेटे के प्रति हमेशा चिंतित रहते हैं। इसी के इलाज़ के लिए वह ईधर से उधर भटकते रहते हैं। इलाज़ के सिलसिले में ही रतन झाँसी से कभी लखनऊ कभी मुंबई आता जाता है। घर में सभी लोग एक-दूसरे से काफ़ी कटे हुए हैं। यह एक वृद्ध माँ-बाप के लिए बहुत ही असहनीय किंतु एक कटु सत्य है जिसे पत्रकार बाँके बिहारी और उनकी पत्नी गायत्री ही

[229]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 138-140

समझ सकते हैं। रतन होली के दिन अपने घर पर ही अपनी प्रेमिका सपना का बलात्कार करता है। सपना और रतन का 15 वर्षों का संबंध आज तार-तार हो गया था। जिससे वह गणित पढ़ कर सौ में से पूरे सौ अंक लाई थी और जिसे वह हमेशा गुरु कहती थी। उसी गुरु ने आज ऐसा कृत्य कर दिया था। वह सपना इस घटना से काफी टूट जाती है लेकिन फिर भी वह थाने में रतन के खिलाफ़ एफ़. आई. आर. लिखवाती है। सपना अपने आपको झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई समझती है। बलात्कार की यह घटना तब घटित होती है जब बाँके बिहारी गुजरात के गोधरा में हुए दंगों की रिपोर्टिंग के लिए अहमदाबाद जाते हैं। पत्रकार बाँके बिहारी इस घटना को गुजरात में हुए दंगे से जोड़कर देखते हैं। बाँके बिहारी स्तब्ध थे। पौर के खालीपन को देखते हुए उनके मन में वह अदृश्य परदा काँपा जो रतन के चेहरे पर था। यही परदा पहली बार उन्होंने दस बरस पहले देखा था, जिसे अभी पहचाना। वह इतवार का दिन था। रतन रात को घर लौटा था। जब बाँके बिहारी ने दरवाज़ा खोला, तो रतन के मुँह से पहली बार शराब की गंध आई। .... बाँके बिहारी बेटे के चेहरे की जानिब देखते हुए खड़े थे। तब वे यह समझे थे कि यह पहली शराब का परदा है। उन्हें क्या पता था कि यह परदा दस बरस में गाढ़ा होता हुआ एक दिन गुजरात में छा जाएगा।"[230] बाँके बिहारी ने कोर्ट में अपने बयान में कहा कि- "उस दोपहर सूने घर में वे छत पर एक बार गए थे। चूँकि अटारी अंदर से बंद थी, इसलिए उन्होंने खिड़की के छेद से अंदर देखा : सलमा ने रामकुमार को धक्का दिया और अपने मुँह में ठुँसा रुमाल निकाला। ....निगम वकील ने फौरन जज की ओर देखते हुए कहा- 'मी लॉर्ड, रतन के पिता बेटे के गम में सनक गए हैं। वे नाम भी भूल गए। इस पर बाँके बिहारी चीखे- 'मैं कुछ नहीं भूला' मेरे घर में मेरे बेटे ने मेरी आँखों के सामने बलात्कार किया।"[231]

[230]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 193-194

[231]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 204

इसमें सांप्रदायिकता अपने मुखर रूप में प्रस्तुत हुई है। 1992 का बाबरी ध्वंस और 2002 का गुजरात नरसंहार यह दस बरस आज भी सतत है। उपन्यास में सांप्रदायिकता के अनेक घटना प्रसंग कथा के क्रम में आए हुए हैं। 2002 के गोधरा कांड का जिक्र उपन्यास में इस तरह से आया है- "मुख्य ख़बर गुजरात में दंगों की ही थी। कल ट्रेन में दिन-भर कुछ छिटपुट ख़बरे कानों में पड़ती रही थीं। यह ख़बर पक्की थी। परसों घटे 'गोधरा' का बदला कल गुजरात ने ले लिया था। गोधरा कहाँ था? गोधरा यदि गुजरात में था तो क्या गुजरात ने गुजरात से बदला लिया? हत्या, लूट और आगजनी का तांडव हुआ था। पता नहीं क्या-क्या हुआ था? यह तो पहली खबर थी। ट्रेन में एक गुजराती अहमदाबाद का 'संदेश' लिए था-जिसमें गोधरा में हुए बलात्कारों की ख़बर थी। कल प्रतिशोध का अभियान शुरू हुआ। शहर जले थे। अहमदाबाद का चरम पूर्व सांसद एहसान ज़ाफरी का कल अपराह्न दहन था। भीड़ से घिरे अपने घर के सामने दौड़ते लहूलुहान ज़ाफरी को ज़िंदा जला दिया गया था।"[232] बाँके बिहारी को इस घटना ने नूरजहाँ की याद दिला दी। नूरजहाँ कोई और नहीं बल्कि इनके पोते की माँ अर्थात् इनकी बहू थी। वह अपने मन में सोचते हैं- "आग का कोई भरोसा नहीं। बाबरी मस्जिद ढहने के तुरंत बाद दस साल पहले नूरजहाँ के पिता लखनऊ में खो गए थे। नूरजहाँ रोई थी। क्या नूरजहाँ फिर रोएगी?....गुजरात गुजरात से बदला ले रहा था। क्या मेरा एक बेटा दूसरे बेटे से बदला लेगा? बाँके बिहारी की आँखों के सामने नूरजहाँ का चेहरा आ गया था। उन्होंने उसे फिर एक मुसलमान की तरह देखा जैसे ब्याह के वक्त देखा था। फिर भूल गए थे। भूला हुआ शिद्दत से दिसंबर 1992 में याद आया था। फिर लगातार याद आता रहा। जब-जब बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि का मसला गरमाता, बाँके बिहारी को नूरजहाँ का मुसलमान होना याद आता जैसे कोई दर्द बार-बार उठता हो।"[233] बाँके बिहारी और श्याम सुंदर गुजरात दंगे की बात करते हुए इसकी तह तक जाते हैं। श्याम सुंदर बाँके बिहारी से

[232]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 12-13

[233]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 13

कहता है-"क्या देश में फ़ैलती बेरोज़गारी और गुजरात के बीच कोई रिश्ता है? सीधा रिश्ता है। कैसे? बेरोजगार राम-भक्तों की फ़ौज में भर्ती होते हैं। लोग उस फ़ौज को अयोध्या जाते देखते हैं और कीर्तन करने लगते हैं। फ़ौज गोधरा लौटती है और गुजरात हो जाता है। फिर श्याम सुंदर ने एक दशक पीछे लौटकर शहर की उस भावभीनी अगवानी को याद किया जो उसने राम-ईंट लिए अयोध्या प्रयाण करते कारसेवकों के लिए अंजाम दी थी। शहर में जगह-जगह उनके लिए पूड़ी-सब्जी, रायता और बूँदी के लड्डू परोसे गए थे। कारसेवकों के माथे पर भगवा-पट्टी थी। या गले में रामनामी दुपट्टा था और होंठों पर 'जैश्रीराम!' वे शहर को 'जैश्रीराम' बुलवाते अयोध्या के लिए रवाना हुए थे।"[234] इसी सच को बाँके बिहारी म्यूजियम के सभागार में कहते हैं- "देखिये, शहर का राम बदल रहा है। यह इतिहास से बदला लेना चाहता है। इसे बचाईए!....उन हाथों से बचाईए जो उन्हें अस्त्र की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। जब राम खुद बचेंगे, तभी वे आपको बचाएंगे। श्याम सुंदर की जिद थी कि लोगों को राम से छुड़ाना होगा। तब बाँके बिहारी ने शहर के दैनिक में 'नए राम, पुराने राम' शीर्षक से लेख लिखा कि- "नए राम 1949 में पैदा हुए जब बाबरी मस्जिद में मूर्तियाँ रखी गईं। ये प्रतिरोधी राम हैं। ये तुलसीदास के राम से अलग हैं, जो करुणा के सागर हैं। करुणा के सागर का गुजरात में लूट, बलात्कार और आगजनी से क्या संबंध हो सकता था? बंदरों की सेना ने भी राक्षसों की लंका में ऐसा नहीं किया था। 'जैश्रीराम' के नारे बोलते हुए अहमदाबाद के बाज़ारों से टी. वी., फ्रिज या जूते, कपड़े चुराना कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं था। यह निखालिस लूट थी, डाका था।.... राम की वानर-सेना राक्षसी व्यवहार नहीं कर सकती थी। लूट और बलात्कार और आगजनी करते साक्षात राक्षस राम की सेना नहीं हो सकते।"[235] इस उपन्यास में 1984 के सिख दंगे का भी जिक्र आया है। इसके माध्यम से नामकरण की राजनीति पर भी प्रहार किया गया है। इस दंगों में एक विशेष समुदाय के लोगों को निशाना बनाया गया

---

[234]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 35

[235]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 35

था। नूरजहाँ भी इससे भयभीत होती है वह अपने पड़ोसी जगजीत सिंह की घटना को याद करते हुए मन में सोचती है-“पिछले माह कानपुर में विकराल दंगे हुए थे जिसमें सिखों को गले में जलते टायर डालकर या उन्हें पेट्रोल में नहलाकर जला दिया गया था। वे सड़क पर आग पहने हुए भागे थे.... वे चीखते थे और उनको घेरे आग भड़क जाती थी....इन्हीं सिखों में बैंक की कानपुर ब्रांच का अमरीक सिंह था, जिसकी लाश की शिनाख़्त नहीं हो सकी। ये 84 के दंगे थे। इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद।”[236] अमरीक सिंह नूर को दो बार जगतसिंह के सफ़ाचट चेहरे में नज़र आया था और उसने नूर से कहा था- ‘नूर सुन, तू भी अपने नाम की दाढ़ी-मूँछ कटा ले। नूरजहाँ की जगह नूरकुमारी ठीक रहेगा। यह बात नूर नमन से कहते हुए कहती है-‘अमरीक बच जाता, नमन, अगर वह जगजीत हो जाता।’ इस प्रकार भारत में हुए सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका को चित्रित करता यह अपने दौर का सबसे महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि उपन्यास है। इसमें अल्पसंख्यकों की समस्या तथा उनकी वास्तविक स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। इसमें अल्पसंख्यक मुस्लिम लोगों के दर्द को बहुत ही यथार्थपरक ढंग से दिखाया गया है। उपन्यास में दिखाया गया है जब दंगे हो रहे होते हैं तो उस समय इनके घरों में लूटपाट तथा इनकी बहू-बेटियों से बलात्कार जैसी घटना को अंजाम देने वाले इनके आस-पास के लोग ही होते हैं। यही लोग इनके घरों के साजो-सामान वगैरह को लूट ले जाते हैं। पत्रकार बाँके बिहारी जब गुजरात दंगे की रिपोर्टिंग करने अहमदाबाद जाते हैं तो श्याम सुंदर का साला मोहन उन्हें बतलाता है कि- “नवरंगपुरा में मुसलमानों के घर उसी तरह चिन्हित थे जैसे नाज़ी जर्मनी में यहूदियों के। जब शहर भड़कता, मुसलमान पुराने शहर में अपनी बस्तियों में भाग जाते।”[237] इस उपन्यास में राजनीति, अर्थनीति, मीडिया तथा हिंदी सिनेमा के प्रभाव को बहुत सशक्त रूप में रेखांकित किया गया है। यह उपन्यास अपसंस्कृति के सच को तो प्रस्तुत करता ही है साथ ही साथ यह वृद्धों की समस्या को भी

[236]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 59-60

[237]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 170

काफी सशक्त ढंग से रेखांकित करता है। नयी पीढ़ी पर पुरानी पीढ़ी का कोई नियंत्रण नहीं रह गया है। इस उपन्यास में स्मृतियाँ बहुत हैं। इतिहास में घटित घटनाएँ कैसे साहित्य में चित्रित या घटित होती हैं यह उपन्यास इसका जीता जागता उदाहरण है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने फ़िल्मी गीतों का बहुत रचनात्मक उपयोग किया है। इसमें अनमेल विवाह, नामकरण की राजनीति, दहेज़ समस्या, बेरोज़गारी आदि पर भी विचार प्रस्तुत किया गया है।

'दस बरस का भँवर' उपन्यास में रवीन्द्र वर्मा भूमंडलीकरण के जमाने की चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि कैसे इस जमाने में बाजारवाद हावी होता जा रहा है। भूमंडलीकरण एक प्रकार का बाजारवाद ही है। इसमें यह दिखलाया गया हैं कि कैसे कोई चीज़ भूमंडलीकृत होती है। इसमें पूँजीपति और धर्म के ठेकेदारों की मिलीभगत और उनके झूठ का पर्दाफाँस किया गया है। इस तरीके की घटनाएँ इनकी सोची समझी साजिश का हिस्सा होती हैं। जिस पर बाज़ारवाद का प्रभाव है। इसलिए इस युग को बार-बार रवीन्द्र वर्मा भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद का जमाना कहते हैं। उपन्यास में गणेश जी के दूध पीने की खबर कैसे भूमंडलीकृत हुई उसका एक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं-"आज सुबह ग्यारह बज़े दिल्ली से खबर आई थी कि गणेश जी दूध पी रहे हैं। इस खबर की ताईद बंबई, कलकत्ता और बंगलौर से भी हुई थी। जैसे-जैसे दिन चढ़ा, पहले खबर अखिल भारतीय हुई, फिर भूमंडलीकृत हो गयी। यह भूमंडलीकरण का जमाना था। हर चीज़ समूची धरती पर फैलने को तड़प रही थी।"[238] इस ख़बर की रिपोर्टिंग मीडिया भी ख़ूब कर रही थी। इससे मीडिया के चरित्र का अंदाजा लगाया जा सकता है। टेलीविज़न पर रात की मुख्य ख़बर सिर्फ़ यही थी- "जगह-जगह गणेश जी ने दूध पिया। मंदिरों में दूध के कटोरे लिए भक्तों की कतारें थीं। भक्त हर उम्र के थे। सबको कोई न कोई हाजत थी। स्त्रियाँ कुछ ज़्यादा थीं। क्या आपको विश्वास है कि गणेशजी दूध पी रहे हैं? संवाददाता सवाल पूछकर

[238]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 49

माइक भक्त के मुँह में लगा देता।"[239] यह भूमंडलीकरण और बाजारवाद का जमाना है। इसलिए यह ख़बर भी समूची धरती पर फ़ैल गई थी।

इस उपन्यास में रवीन्द्र वर्मा भूमंडलीकरण द्वारा उपजी पाश्चात्य संस्कृति अर्थात् भूमंडलीय अपसंस्कृति की भी कलई खोलते हैं। इस उपन्यास में आज के युवाओं का वास्तविक सच प्रस्तुत किया गया है। उनका विदेश के प्रति बढ़ता लगाव, अतिशय भौतिकवादी जीवन-दृष्टि, आज के युवाओं में बढ़ती रिश्वतखोरी, अतिशय स्वार्थी एवं लोभी प्रवृत्ति को बहुत ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें वृद्धावस्था की समस्या के साथ-साथ बार-बालाओं की समस्या भी उठाई गई है। आज के इस दौर में बढ़ रही कट्टरता, धर्मांधता में अर्थ की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस उपन्यास में यह भी दिखलाया गया है कि आज के समय में सभी प्रकार के संबंध एवं रिश्ते-नाते सिर्फ़ अर्थकेन्द्रित हो गए हैं। आज के मनुष्यों के लिए पूँजी अर्थात् धन ही सबसे बड़ी चीज़ है। इस उपन्यास में मदन एक ऐसा चरित्र है जिसका झुकाव विदेश की ओर अधिक रहता है। यह अतिशय भौतिकवादी है। इसके लिए पूँजी अर्थात् पैसा ही सबसे बड़ी चीज़ है। इसलिए वह जैन लड़की से विवाह भी कर लेता है। मदन के माध्यम से उपन्यासकार ने आज के युवाओं का वास्तविक सच दिखाया है। मदन का भाई 'रतन' जब अपनी नौकरी चली जाने के बाद उसे कुछ मदद करने के उद्देश्य से खत लिखता है। मदन और रतन द्वारा किए गए इस पत्र-व्यवहार में संबन्धों से बढ़कर एक व्यापारिक दृष्टिकोण की झलक दिखाई देती है। रतन अपने भाई 'मदन' से पूरे व्यापारिक शब्दावली में भारत में पूँजी निवेश की बात करता है। 'रतन' अपने भाई को जिस प्रकार से पत्र लिखता है उसे देखकर यह लगता है कि वह किसी अमेरिकी कंपनी से भारत में व्यापार करने की बात चला रहा हो। पत्र में धीरुभाई अंबानी के उद्योग साम्राज्य का जिक्र करते हुए वह यह साबित करना चाहता है कि किस प्रकार से व्यक्ति शून्य से शिखर तक पहुँच सकता है, वह भी उसी प्रकार शिखर या ऊँचाई पर पहुँच सकता है। "इस

---

[239]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 55

भूमंडलीकरण के दौर में अमेरिका से लेकर हिन्दुस्तान तक नौकरियों के संसार का सिकुड़ना था। अंत में, यह सवाल पूछा गया था कि भारत में भैया कितना पूँजी निवेश करना चाहेंगे।"[240] अगले सप्ताह 'मदन' का पत्र आता है उसमें पूँजी निवेश की पेचीदगियों का बयान था। प्रमुख तत्व लाभ था। लाभ तभी संभव था जब उद्योग विश्वसनीय, अनुभवी हाथों में हो। 'मदन' 'रतन' को पैसे लगाने के बजाय उसे नौकरी करने की सलाह देता है। इसमें पारिवारिक संबंध किस प्रकार अर्थ केन्द्रित हो गए हैं यह भी बखूबी चित्रित किया गया है। बड़े भाइयों के पैसे से पढ़-लिखकर आज अमेरिकी हुए 'मदन' में हम इसे आसानी से देख सकते हैं। आज वह स्वयं अपने छोटे भाई 'रतन' की उद्यमशीलता के रास्ते में रोड़े अटका रहा है। "कुछ लाख रुपए उसके लिए हाथ का क्या, पैर का मैल थे। लेकिन अब किसी सेठिए की तरह वह दमड़ी दाँतों से पकड़ रहा था। उसने तो साफ़-साफ़ ही लिख दिया था कि बिना मुनाफ़े की गारंटी के वह कुछ भी करने को तैयार नहीं। तब फिर उसमें और किसी और अमेरिकी पूँजीपति में फर्क ही क्या था?[241] इस प्रकार आज के दौर में संबन्धों की गरिमा एकदम से नष्ट होती जा रही है। आज संबंध केवल अर्थ से संचालित हो रहे हैं। अमेरिका भारत में वैसे ही अपना उपनिवेश फैला रहा है जैसे कभी अंग्रेजों ने फैलाया था। इसका वर्णन उपन्यास के पात्र 'नमन' के भाषण में देखा जा सकता है। इसमें वह भूमंडलीकरण, उपनिवेशवाद और उसके प्रकोप के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति की पोल खोलता है- "उसने आंकड़ों की मदद से बताया कि भूमंडलीकरण का पहला दशक अवसान की ओर अग्रसर है और उसके राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रवक्ताओं के सुनहरे वादे धूल में लोट रहे हैं। उसने कहा कि किसानों और मजदूरों की आत्महत्या का दौर शुरू हो गया है। वह दिन दूर नहीं जब बैंक के कर्मचारी भी इसी राह पर चलेंगे। मध्यवर्गीय कर्मचारी किसी धोखे में न रहें ! यह पिज्जा और डिजाइनर कपड़ों का संसार घरों में टी. वी. का परदा उठाकर घुस रहा है। बच्चे हज़ारों के कपड़े और

[240]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 69

[241]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 70

जूते माँगते हैं। कल बैंकों का निजीकरण होगा और छटनी होगी। जो बच्चे आज पिज्जा खा रहे हैं, उनके लिए रोटी जुटाना मुश्किल हो जाएगा। दोस्तों, नमन ने कहा-दो सदी पहले अंग्रेजों ने एक हाथ में सलीब और दूसरे हाथ में बंदूक लेकर हमारे देश में प्रवेश किया था। इस दशक में गोरों ने फिर एक हाथ में पेप्सी और दूसरे हाथ में टी. वी. का केबिल लेकर हमारी धरती पर कदम रखे हैं। धरती पर कदम रखने वाले वे ख़ुद नहीं हैं। उनके अक्स हैं। ये अक्स अन्तरिक्ष में घूमते सैटलाइट के जरिए हमारे घरों में आते हैं। हमें पता नहीं चलता। हम अमरीकी बिम्बों के गुलाम हैं।"[242] नमन के इस कथन में कितना दर्द है, कितनी पीड़ा है, उसका यह कथन भूमंडलीकरण के वास्तविक रूप का रेखांकन भी प्रस्तुत करता है।

3.6 दौड़ (2000) ममता कालिया

'दौड़' प्रसिद्ध कथाकार ममता कालिया का लघु उपन्यास है, यह उपन्यास सन 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। लेकिन उससे पहले यह 'तद्भव' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। यह एक ऐसा उपन्यास है जो आकार में लघु है लेकिन अपने कलेवर और समस्याओं के निरूपण में बहुत ही विस्तृत। इसकी लघुता और इसके कलेवर तथा इसमें विवेचित या चित्रित समस्याओं के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक खगेन्द्र ठाकुर ने अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए लिखा है कि-"'दौड़' लघु उपन्यास है लेकिन आकार मे ही लघु है यह, कथा, कथ्य, चरित्र, शिल्प, शैली, भाषा आदि के समन्वित रूप में आज की महान रचना है।"[243] यह लघु उपन्यास हमारे समक्ष बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दों, प्रासंगिक प्रश्नों एवं समस्याओं को उठाता है। "'दौड़' आज के उस मनुष्य की कहानी है जो बाज़ार के दबाव-समूह, उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता तथा अंधी दौड़ में नष्ट होते मनुष्य के आसन्न खतरे में पड़े मनुष्यत्व को उजागर करती है। यह रचना मनुष्यों की पारस्परिक सम्बन्धों की परंपरा और वर्तमान

---

[242]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 73-74

[243]दौड़, ममता कालिया, (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ सं. 6

की जटिलताओं के मध्य विकराल होते अंतराल की सूक्ष्म पड़ताल करती है।"[244] इस लघु उपन्यास में भूमंडलीकरण, औद्योगिकरण और उदारीकरण तथा बाज़ारवाद से उपजी विसंगतियों का चित्रण बहुत ही सूक्ष्म ढंग से किया गया है। "बाज़ारतंत्र और उपभोक्तावाद पर हिंदी में पिछले दिनों बहुत कुछ लिखा गया है। भूमंडलीकरण पर भी लिखा गया है। लेकिन 'दौड़' भूमंडलीकरण, व्यावसायिकता, आजीविकावाद, विज्ञापनबाजी, उपभोक्तावाद आदि के मिश्रण से बने मनुष्यों की कहानी बहुत प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करता है।"[245]

यह उपन्यास भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के फलस्वरूप उपजी विसंगतियों और समस्याओं को जो आज विकराल रूप धारण कर रही हैं, की व्याख्या भारत के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। प्रसिद्ध समीक्षक कृष्ण मोहन के अनुसार- "बीसवीं सदी के अंत में भारतीय समाज के गहरे साँस्कृतिक संकट का आख्यान है 'दौड़'।"[246] जैसा की यह जगजाहिर है कि भूमंडलीकरण, उदारीकरण, पूंजीवाद 90 के दशक की परिघटना है। प्रस्तुत उपन्यास 'दौड़' सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। जिसमें पूंजीवाद, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद ने विगत 10 वर्षों में भारतीय समाज को किस तरह अपने नियंत्रण में कर लिया है और मनुष्यता की भावना को दूषित कर उसमें व्यावसायिकता और आजीविकावाद यानी भौतिकता को जो प्रश्रय दिया है जिससे मानवीय संबंधो में दरार आई है। जिसके परिणाम स्वरूप हमारे सामाजिक-साँस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है और अभी हो रहा है। 'दौड़' उपन्यास इन सभी बातों का लेखा-जोखा बहुत ही सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है।

उपन्यास की कथा एक मध्यम वर्गीय परिवार पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में 5 मुख्य पात्र हैं, राकेश, रेखा, पवन, सघन और स्टेला। बाकी सभी गौण। उपन्यास के पात्र 'राकेश' और 'रेखा' अपने

---

[244]दौड़, ममता कालिया (उपन्यास के फ्लैप से साभार)

[245]दौड़, ममता कालिया (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ सं. 7

[246]दौड़, ममता कालिया,(उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ सं. 7

बेटों 'पवन पांडे' और 'सघन' को समय के साथ-साथ चलने और आगे बढ़ने को प्रेरित करते रहते हैं। यह दोनों अपने बेटों के भविष्य को लेकर इतना सक्रिय रहते हैं कि कहीं उनके बेटे जीवन की दौड़ में पीछे न रह जाएँ। और यही सोच कर वह अपने बड़े बेटे पवन को एमबीए करने के लिए प्रेरित करते हैं। एम.बी.ए करके पवन अपनी जिंदगी को सुख-सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए पैसों की खातिर इधर-उधर दौड़ने लगता है। वह जितना अपने भौतिक जीवन में आगे बढ़ता है उतना ही वह अब अपने माँ-बाप से दूर होता जा रहा था। अब यही 'राकेश' और 'रेखा' को भारी पड़ रहा है। लेकिन इसके जिम्मेदार क्या वे खुद नहीं? रेखा यही बात अपने पति 'राकेश' से कहती है कि- "पहले तुम्हें भय था कि बच्चे कहीं तुम जैसे आदर्शवादी न बन जाएँ इसीलिए उसे एमबीए कराया। अब वह यथार्थवादी बन गया है तो तुम्हें तकलीफ़ हो रही है। जहाँ नौकरी कर रहा है, वहीं के कायदे कानून ग्रहण करेगा"।[247]

भौतिकतावाद के साथ दिखावेपन की प्रवृत्ति इस कदर हावी होती जा रही है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ लगातार बढ़ती ही जा रही हैं। अपनी इन्हीं असीमित इच्छाओं की पूर्ति के लिए आज का प्रत्येक युवा पैसों के लिए गलत या सही रास्तों की परवाह किए बिना ही अपनी भौतिक उन्नति के लिए लगातार दौड़ रहा है और दौड़ता ही चला जा रहा है। उसे एक पल का समय नहीं है कि वह यह तय कर सके कि जो रास्ता उसने चुना है वह कहीं हमें गर्त की ओर तो नहीं ले जा रहा है। लेकिन नहीं, वह दौड़ता ही जा रहा है। उसकी इस अंधाधुंध दौड़ में वह जितना पा रहा है उससे कहीं अधिक वह खोता जा रहा है उसके अपने परिवार, संस्कार, संस्कृति, परम्पराएँ अपने जीवन मूल्य, लगातार विघटित हो रहे हैं। जिनसे वह कोसों दूर होता जा रहा है।

3.7 फाँस (2015) संजीव

---

[247]दौड़, ममता कालिया,पृष्ठ सं. 41

प्रसिद्ध कथाकार संजीव का फाँस उपन्यास किसानों की समस्या पर केन्द्रित है। इस उपन्यास को संजीव ने इस देश के किसानों को समर्पित किया है। उपन्यास के समर्पण में संजीव जी लिखते हैं कि- 'सबका पेट भरने और तन ढकने वाले देश के लाखों किसानों और उनके परिवारों को जिनकी 'हत्या' या 'आत्महत्या' को हम रोक नहीं पा रहे हैं।' इस उपन्यास का सृजन संजीव ने महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा के अपने एक वर्ष के अतिथि लेखक (2011-12) के कार्यकाल के दौरान किया। संजीव उपन्यास के आभार वक्तव्य में लिखते हैं कि- 'इस उपन्यास को आधार देने का श्रेय महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा को जाता है, जहाँ (2011-12) के एक वर्ष के दौरान अतिथि लेखक के रूप में मैंने इसकी शुरुआत की, जहाँ से विदर्भ के विभिन्न जिलों की भूमि और भूमिपुत्रों की दशा-दिशा और दुर्दशा देखने और समझने का मुझे अवसर मिला।' इस प्रकार संजीव विश्वविद्यालय के अपने प्रवास के दौरान विदर्भ के किसान परिवारों से मिले, उनके दु:ख दर्द के साथ वहाँ की जमीनी हकीकत को जाने और समझे। संजीव ऐसे भी किसान परिवारों से मिले जिनके परिजन ने किसी कारणवश आत्महत्या कर ली थी। इस प्रकार से संजीव का यह उपन्यास उनके द्वारा किए गए फील्ड वर्क एवं गहन शोध का परिणाम है। 'फाँस' उपन्यास की कथा कुल 42 अंकों तथा 255 पृष्ठों में समाहित है। इसमें विदर्भ के किसानों की कथा के साथ-साथ भारत के उन तमाम किसानों तथा उनके परिवारों की कथा कही गयी है जो खेती-किसानी के कर्ज़ से परेशान होकर आत्महत्या कर लेते हैं।

इस प्रकार इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में पिछले दो-तीन दशकों में होने वाली किसान आत्महत्याएँ ही हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एन. सी. आर. बी. - नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो) के ताजा आँकड़ों के अनुसार- वर्ष 2014 के मुक़ाबले वर्ष 2015 में किसान आत्महत्याओं में 2% की बढ़ोत्तरी हुई है और अब यह प्रतिशत बढ़कर 42% हो गया है। 30 दिसंबर 2016 को जारी एनसीआरबी रिपोर्ट 'एक्सिडेंटल डेथ्स एंड सुसाइड इन इंडिया 2015' के अनुसार वर्ष 2015 में

12,602 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने आत्महत्या की। वर्ष 2014 में यह संख्या 12,360 थी जबकि वर्ष 2015 में यह संख्या बढ़कर 12,602 हो गई। इस प्रकार देखा जाए तो वर्ष 2014 के मुकाबले 2015 में किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों के आत्महत्या में 2 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई। इन आँकड़ों के अनुसार- महाराष्ट्र में सबसे ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की। सूखे की वजह से साल 2014 और 2015 खेती के लिए बेहद खराब साबित हुआ। इसका सबसे ज्यादा असर महाराष्ट्र में दिखाई दिया। इन मौतों में करीब 87.5 फीसदी केवल सात राज्यों में ही हुई हैं। साल 2015 में महाराष्ट्र में 4,291 किसानों ने आत्महत्या की। किसानों के आत्महत्या के मामले में महाराष्ट्र के बाद कर्नाटक है। कर्नाटक में वर्ष 2015 में 1,569 किसानों ने आत्महत्या कर ली। तेलंगाना (1400), मध्य प्रदेश (1290), छत्तीसगढ़ (954), आंध्र प्रदेश (916) और तमिलनाडु (606) भी इसमें शामिल है। इस रिपोर्ट के अनुसार किसानों और खेतों में काम करने वाले मजदूरों की आत्महत्या का कारण कर्ज, कंगाली और खेती से जुड़ी दिक्कतें हैं। आँकड़ों के अनुसार- आत्महत्या करने वाले 73 फीसदी किसानों के पास दो एकड़ या उससे भी कम जमीन थी। ताजा जनगणना आँकड़ों के अनुसार- पिछले कुछ वर्षों में किसानी छोड़ चुके किसानों की संख्या 80 लाख से भी अधिक है। इसका कारण शायद एक ठोस व कारगर कृषि-नीति का अभाव है। इस प्रकार आज खेती-किसानी एक मज़बूरी और संभावित मौत का नाम है। यह एक ऐसा मार्ग है जिस पर कोई विकल्पहीनता की ही स्थिति में चले तो चले, पर स्वेच्छा से इस पर कोई नहीं चलना चाहता। फिर भी इस देश में विकल्पहीन किसानों की कमी नहीं है। बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके पास खेती-किसानी के अलावा और कोई चारा भी नहीं है। एक शेतकरी (किसान) शिबू की बेटी कलावती कहती भी है- "इस देश के सौ में चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानी छोड़ भी दी।"[248] इस प्रकार किसानों की आत्महत्या से संबंधित प्रस्तुत यह आँकड़े, उनके आत्महत्या के पीछे के

[248]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 17

कारणों, परिस्थितियों तथा किसानों व किसान परिवारों की दशा एवं दुर्दशा आदि का भयावह सच प्रस्तुत करते हैं। इसी भयावह सच को रेखांकित करता यह उपन्यास किसान जीवन का एक जीवंत दस्तावेज़ है। इसमें सुखाड़ विदर्भ क्षेत्र के किसानों की समस्याओं को प्रमुख रूप से उठाया गया है। विदर्भ के बारे में सभी का मानना है कि- "विदर्भ कृषि का ज्वालामुखी है। सुप्त ज्वालामुखी। कर्ज़ उतारना तो दूर, किसानों की आमदनी ही इतनी कम है कि खेती में बने रहना मुमकिन नहीं।"[249] विदर्भ में कपास और गन्ना की खेती प्रमुख रूप से होती है। अत: यह उपन्यास मुख्य रूप से कपास किसानों की समस्या पर केन्द्रित है, लेकिन उपन्यास में कुछ घटना-प्रसंगों के माध्यम से गन्ना किसानों की भी समस्याओं पर विचार किया गया है। आज भूमंडलीकरण और सूचना संक्राति के इस दौर में जहाँ कोई भी चीज़ कुछ मिनटों तथा सेकेंडों में वायरल होकर कहाँ से कहाँ पहुँच जा रही है, वहीं पर इन किसानों की समस्याओं तथा इनकी आत्महत्याओं से संबंधित कोई भी सही आँकड़ा, खबर या रिपोर्ट किसी भी समाचार चैनल या समाचार-पत्र की सुर्खियाँ नहीं बनती है। सुर्खियाँ में तो छाए रहते हैं सेलिब्रेटी लोग। "मीडिया की हजार-हजार आत्महत्याएँ कोई खबर नहीं बन पातीं हैं। खबर बनती है मुंबई में चल रहे लक्मे फैशन वीक की प्रतियोगिता। 512 खबरिया चैनल जुटे हैं उसे कवर करने को।"[250] इस प्रकार यह उपन्यास मीडिया के इस दोहरे चरित्र को भी उजागर करता है।

'फाँस' किसान जीवन से संबंधित प्रेमचंद के गोदान के बाद हिंदी का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास के विषय में प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि- "भारत में अब तक तीन लाख से अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या की है। यह मानवता के इतिहास की एक भयावह त्रासदी है और अमानवीय समाज-व्यवस्था का भीषण अपराध भी। इस त्रासदी और अपराध के प्रतिरोध की प्रवृत्ति पैदा करने वाला यह उपन्यास 'फाँस' प्रेमचंद के कथा साहित्य की प्रगतिशील

---

[249]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 66

[250]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 183

परंपरा का आज की स्थिति में विकास करेगा" (उपन्यास के फ्लैप से साभार)। सच में प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद भारतीय किसान जीवन की त्रासदी को प्रस्तुत करता 'फाँस' हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। किसान के लिये गाय, बैल, भेड़-बकरी, मुर्गा-मुर्गी आदि सभी परिवार के ही अभिन्न अंग होते हैं। यही सब उसकी मुसीबत के समय काम आने वाले बैंक बैलेंस और पूँजी भी होते हैं। उपन्यास में शिबू के वडील (पिता) का यह कथन- "लालू ज्यादा नहीं चल पाएगा, बदलकर दूसरा ले लेना। माकड़ू बैल घर का वासरू (बछड़ा) है। मकरी गाय की निशानी। 'उसके बाद गाय नहीं ले पाये हम। उसे मत बेचना।"[251] गोदान के दृश्यों की याद दिलाता है। साथ ही जुताई करते हुए कीचड़ में फँसे बैल 'लालू' की मौत का मर्मांतक चित्रण 'दो बैलों की कथा' के हीरा और मोती की भी याद दिलाता है। शिबू अब बहुत परेशान रहने लगा। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे? अकेले होता तो शायद खेती-किसानी छोड़कर किसी शहर में कमाने-धमाने चला जाता लेकिन दो-दो जवान बेटियों को छोड़कर वह कहाँ जा सकता था। परेशान और निराश होकर झिझक बस वह कभी-कभी बोल देता इस बार किसानी छोड़ दूँगा। इस पर उसकी छोटी बेटी (कलावती) किसी विद्वान का हवाला देते हुए कहती है कि - "शेती कोई धंधा नहीं, बल्कि एक लाइफ स्टाइल है-जीने का तरीका, जिसे किसान अन्य किसी भी धंधे के चलते नहीं छोड़ सकता। सो तुम बाबा.... तुम लाख कहो कि तुम खेती छोड़ दोगे, नहीं छोड़ सकते। किसानी तुम्हारे खून में है।"[252]

इस उपन्यास को पढ़ना देश की सबसे अवसाद-पूर्ण स्थिति से गुजरना है। यह उपन्यास तमाम प्रकार की समस्याओं, विसंगतियों एवं हादसों की एक लम्बी श्रृंखला हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास एक प्रकार से किसानों तथा किसानों की आत्महत्या से संबंधित उनके बयान का हलफ़नामा है। उपन्यास की शुरुआत महाराष्ट्र (विदर्भ) राज्य के यवतमाल जिले के एक सुखाड़ गाँव 'बनगाँव' के

[251]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 16

[252]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 17

चित्रण के साथ होती है। 'बनगाँव' का चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि- "भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा, आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंस के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा-आधा।"[253] भारत के प्रत्येक गाँव की तरह ही इस 'बनगाँव' में भी लड़कियों के प्रति वही सोच और नजरिया है, जो हिंदी प्रांतों में। 'छोटी मुलगी' (कलावती) स्कूल के एक साँस्कृतिक कार्यक्रम (धानौरा में आयोजित) के बाद अपनी सहेली मंजुला के साथ उसके गाँव 'मेंडालेखा' क्या चली गई, तूफान आ गया, मानो अनर्थ हो गया। 'बनगाँव' में यह बात आग की तरह फैल गई कि 'कलावती, शिबू की छोटी मुलगी स्कूल से घर नहीं लौटी।'..... 'और पढ़ाओ इन मुलगियों को, जैसे बैरिस्टर बनेगी।'[254] पिता शिबू इस घटना के बाद से छोटी (कलावती) का स्कूल जाना बंद करवा देता है। शायद कलावती को एक लड़की होने की यह सज़ा मिली थी। यह प्रकरण लड़के-लड़कियों के प्रति समाज में व्याप्त भेद-भाव को दर्शाता है। इसी गाँव का निवासी है एक आम शेतकरी (किसान) शिबू तथा उसका परिवार। इस परिवार में शिबू (शिवशंकर) के अलावा उसकी पत्नी शकुन (शकुन्तला) उसकी दो बेटियाँ छोटी (कलावती) और बड़ी (सरस्वती) हैं। यह परिवार तमाम प्रकार की परेशानियों, मुश्किलों के बीच संघर्ष करते हुए अपना जीवन जी रहा है। शिबू और शकुन का भी वही सपना है जो हर माँ-बाप का होता है। शिबू भी चाहता है कि अपनी दोनों लड़कियों को पढ़ा-लिखाकर एक अच्छे से घर में ब्याह दे। लेकिन खेती-किसानी के कर्ज़ में शिबू इस कदर लगातार फँसता चला जा रहा था कि उसे उसकी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ पूरी होती नहीं दिख रही थी। एक तो सूखे और भूखे की मार झेल रहा था, उस पर भी खेती-किसानी के चक्कर में सरकारी बैंकों तथा सेठ-साहूकारों से इतना कर्ज़ ले चुका था कि वह उसके गले की 'फाँस'

---

[253]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 9

[254]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 11

बना हुआ था। फिर मुलगियों की शादी के लिए दहेज के लाखों रुपये तथा गाड़ी के पैसे कहाँ से ले आता। शिबू के अन्तर्मन में द्वंद्व चल रहा था कि वह क्या करे। किसी तरह से लाख जतन करके अपनी बायको (पत्नी) की मदद से एक दिन अपने गले में पड़े कर्ज़ रूपी फंदे को निकाल तो लेता है लेकिन उसके बाद भी वह समय और समाज की मार झेल नहीं पाता, अंतत: एक दिन कुएँ में कूदकर अपनी जान दे देता है। पीछे छोड़ जाता है जवान बेटियाँ और रोती-बिलखती पत्नी शकुन को जिसने गले की हसुली बैंक के कर्ज़ और ब्याज़ चुकाने के चक्कर में बेच दी थी। कर्ज़ के बोझ तले दबे होने के कारण शकुन के लिए उसकी हसुली भी एक 'फाँस' बन गई थी। शकुन को अब रह-रहकर याद आ रही हैं पति की बातें, कहता था- "रानी, ये कर्ज़ गले की फाँस है निकाल फेंको और जिस दिन मैंने निकाल फेंका, वह जैसे निहाल हो गया, गाँव भर में लड्डू बँटें, गीत गाते हुए बरसात में भीगते हुए नाचता रहा।"[255] लेकिन शिबू की कहानी किसी एक किसान या एक घर की कहानी नहीं है बल्कि आत्महत्या के लिए मजबूर उन समस्त भारतीय किसानों की महागाथा है जो इस खेती-किसानी के पेशे में बुरी तरह फँसकर अपना जीवन दाँव पर लगा दे रहे हैं। इस प्रकार से यह कथा विदर्भ के किसानों की कथा के साथ-साथ समस्त भारतीय किसानों तथा उनके परिवारों की भी व्यथा-कथा है। उपन्यास की पात्र छोटी (कलावती) कहती है- "भारतीय किसान कर्ज़ में जन्म लेता है, कर्ज़ में ही बड़ा होता है, कर्ज़ में ही मर जाता है।"[256] यह कथन कितना हृदयविदारक, मारक किन्तु हमारे समय तथा समाज का एक कटु तथा भयावह सच है।

आत्महत्या के बाद मुआवजा बाँटने के लिए सरकारी उपक्रमों द्वारा पात्र-अपात्र का निर्धारण किया जाता है। यह देखा जाता है कि आत्महत्या करने वाला 'पात्र' है कि 'अपात्र'। एक तो किसान परिवार पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा है, उस पर भी उन्हें अब यह साबित करना है कि अमुक किसान

[255]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 105

[256]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 185

पात्र था, अपात्र नहीं। पीड़ित किसान परिवार को अब अपनी सारी ऊर्जा मृतक के पात्र-अपात्र में लगानी पड़ती। आत्महत्या के बाद इसका निर्धारण करने में हमारी सरकार और उसके उपक्रम किस हद तक अमानवीय और हिंसक हो सकते हैं इसका सशक्त उदाहरण यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। बैंक का कर्ज चुकाने में अपनी पूरी ज़िंदगी की कमाई लुटा देने के बाद सूखेपन और सरकारी नीतियों की मार झेलते किसी किसान की आत्महत्या सरकारी दस्तावेजों में सिर्फ इसलिए किसान आत्महत्या के रूप में दर्ज नहीं होती कि बैंक में अब उसके नाम पर कर्ज़ की कोई रकम बाकी नहीं है। ज़िंदगी की महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों के चलते बार-बार हानि उठाने के बाद आत्महत्या को मजबूर हुए किसी नवयुवक किसान की आत्महत्या एक किसान की आत्महत्या नहीं मानी जाती है, क्योंकि सरकारी दस्तावेजों में भू-स्वामी के नाम के सामने उस किसान-पुत्र का नाम न हो कर उसके पिता का नाम है। इस प्रकार से यह तो केंद्र तथा राज्य सरकार द्वारा सरकारी राहत कोषों की राशि बचाने का सोचा-समझा तरीका और एक साज़िश है, जो किसान-विरोधी ही है। इस प्रकार यह उपन्यास किसानों की दारुण-दशा और सरकारी नीतियों आदि की विस्तृत पड़ताल करते हुए उसकी मारक समीक्षा भी प्रस्तुत करता है।

इस उपन्यास में जहाँ समस्याओं तथा साधनों के अभाव में अपनी लड़ाई लड़ता जीवन से संघर्ष करता तथा खेती-किसानी के पेशे में पिसता हुआ किसान शिबू (शिवशंकर) है, तो वहीं पर किसानों के लिए एक आदर्श व्यवस्था स्थापित करने वाला सुनील भी है। तथा खेती-किसानी के चक्कर में बैल के साथ बैल बने मोहनदास वाघमारे व सब कुछ होम कर चुके मौत के साये में निर्भीक जिंदगी जीता नाना भी है। शिबू तो आत्महत्या कर ही लेता है लेकिन आत्महत्या को गलत बताने वाला हमेशा इस पर ज्ञान-दर्शन देने वाला सुनील भी आत्महत्या कर लेता है। सुनील कहता था, एक भी आदमी ने अगर मेरे रहते आत्महत्या की तो मेरे जीवन को धिक्कार है, और उसी सुनील ने सबसे पहले आत्महत्या की। सुनील एक बड़ा खेतिहर था। सबका सलाहकार, सबका आदर्श। लेकिन बड़ी

खेती तो नुकसान भी बड़ा होगा। ऊपर से महत्वाकांक्षी योजनाओं के असफल होने की निराशा। किसी भी प्रकार की कोई बीमा सुरक्षा भी नहीं। इन सभी से निराश सुनील यह कदम उठाता है। कहाँ इसका फिकरा था कि- 'हिम्मते मर्दां मदते खुदा।' लेकिन वह खुद ही हिम्मत हार गया और एंडोसल्फान पीकर मौत को गले लगा लिया। "बुत बनता गया सुनील-इन सबका दोषी मैं हूँ, सबकी हिम्मत बँधाने वाला खुद ही हिम्मत हार बैठा। हवा में फ़िकरे उड़ रहे थे- 'कभी कर्ज़, कभी मर्ज़, कभी सूखा कभी डूब।' दूसरा फ़िकरा- 'भूत से शादी करोगे तो अपना घर चिता पर ही बनाना पड़ेगा।' सो, सुनील आज भूत बन चुका था। जो खुद भी डूबा औरों को भी ले डूबा।"[257] पीछे छोड़ जाता है पत्नी, बेटियाँ, और बेटे बिज्जू (विजयेन्द्र) को जो अपनी पढ़ाई छोड़कर चला आता है इसी पेशे में पिसने।

यह उपन्यास सरकार की नीतियों और उनके विकास के नाम पर पेश किए जा रहे अविवेकपूर्ण मॉडल की भी कलई खोलता है। विकास का यह नारा और मॉडल एकदम से झूठा साबित हो रहा है और देश का किसान दिन-प्रतिदिन और तबाह होता जा रहा है। विदेशी गाय तो आ गई। 20 से 25 हजार की गाय का किसानों को सिर्फ 5 हज़ार देना था। इसके लिए बकायदा लोन भी दिया जाने लगा। यह गाय तीस-तीस किलो दूध भी देती हैं। लेकिन इस बार तो समस्या और विकराल थी। इन गायों के चारा-पानी की। आखिर इतना दूध देनेवाली गायों को खिलाए क्या? सुनील ने सुझाव दिया वरसीम बोओ। ये क्या चीज़ है- सिंगदाना। सिंगदाना नहीं, एक घास, गाय को मजबूत करने वाली घास। योजनाकारों ने सोचा था कि दूध का धंधा रोज पैसा लाएगा। सैद्धांतिकी के इस पक्ष पर उन्होंने कभी गौर ही नहीं किया कि विदर्भ की सूखी धरती पर मवेशियों को खिलायेंगे क्या और दूध बेचेंगे कहाँ।"[258] यहाँ तो लेने के देने पड़ गए। दूध बेचने बाजार निकले तो उसके खरीददार नहीं। इस दूध से पेट खराब हो जाता है अत: कोई दुकानदार लेने को तैयार नहीं। इससे किसानों को कोई लाभ नहीं

---

[257]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 72

[258]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 68-69

हुआ लाभ हुआ तो बिचौलियों और दलालों को। सरकारी दलालों की तो बन आई। पहले जब ये गाय दी गई थीं तो उन्हें कमीशन मिला और अब मजबूरी में जब किसानों को बेचनी पड़ रही हैं तो भी इनको बिचवाने का कमीशन मिला। प्रसिद्ध पत्रकार पी.साईंनाथ ने बार-बार इन समस्याओं पर लिखा है। ये विदेशी नस्ल की गाय खुद तो खत्म हुई ही देसी नस्ल की गाय और बछड़े भी क्षेत्र से गायब हो गये। विकास की इस अंधी दौड़ में सूखे की मार से खेत भी बंजर और जानवर भी। और अब आत्महत्या के बाद मनुष्य (किसान) भी।

इस उपन्यास में कर्ज़ देने के नाम पर सरकारी विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा धर्म के नाम पर धर्म के ठेकेदारों द्वारा निरंतर किया जा रहा पाखण्ड भी सामने आता है। इसका सशक्त उदाहरण उपन्यास में मोहन दास बाघमारे की कथा है। सूखे की मार झेल रहा मोहन कर्ज लेने के लिए सरकारी विभागों और बैंकों का दरवाज़ा खटखटाता है। लेकिन वह वहाँ आफ़िसरों की बहानेबाजी और टाल-मटोल से तंग आ जाता है। आख़िर में जब उसे कोई चारा दिखाई नहीं देता तो वह अपने बैल जिसे वह भाई की तरह मानता था, का सौदा कसाई शम्सुल से कर देता है। एक को साँप ने काट खाया था तो दूसरे को मजबूरी में कसाई (शम्सुल) को बेचना पड़ा। कसाई के हाथों बैल बेचने पर मोहन की पत्नी सिंधुताई नाराज़ होकर कहती है- "पहले को साँप ने डसा था और दूसरे को ..? तुमने!" इस पर मोहनदास ईगतदास वाघमारे रोते हुए कहता है-"मुझ पर थूको सिंधु, थूको। कल तक मैं वाघमारे था, आज से भाई मारे...!"[259] अब तो खुद ही मोहन बैल की जगह खेत जोत रहे हैं। सिन्धु ताई ने हल की मूठ पकड़ रखी है। धर्म का फंदा इतनी आसानी से मोहन को कहाँ छोड़ सकता था। बैल को कसाई के हाथ बेचना जैसे महापाप हो गया अब इससे बचने के लिए इसका प्रायश्चित भी जरूरी था। इसके लिए दोनों पति-पत्नी धर्म के ठेकेदार निरंजन देवगिरि से मिलते हैं। गिरि मोहन को प्रायश्चित करने और शुद्धि का विधान बतलाता है। कसाई को बैल बेचना महापाप है। "बहुत भयंकर पाप है गो-वध। प्रायश्चित का

[259]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 52

एक ही उपाय है- बैल के गले का फंदा गले में डालकर भिक्षा पात्र लेकर भीख माँगनी पड़ेगी। शुद्धि तक न घर में घुस सकते है न मनुष्यों की बोली बोल सकते हैं। बैल की बोली बाँ... बाँ ! या फिर संकेत ! क्या समझे ?..... इस पोला (बैलों का त्यौहार) से अगले पोला तक। फिर मैं आकर प्रायश्चित और शुद्धि के लिए विधान करूँगा।''[260] काशी के स्वामी निरंजन देव गिरी जैसे पंडित यह प्रायश्चित सुझाते हैं। पूरी दुनिया में काशी के पंडितों का कोई सानी नहीं। शिवाजी महाराज को भी उन्होंने क्षत्रिय बनाया। और इस सीधे-सादे किसान मोहन को भी धर्म का वास्ता देकर पाप-पुण्य में ऐसा उलझाया कि- ''मोहन दादा किंवदंती बन गए, कहानी बन गए, किस्सा बन गए, कोई कहता वर्धा बस स्टैंड पर उन्हें देखा, कोई सेवा ग्राम रेलवे स्टेशन पर, कोई कहता फलाने गाँव में 'बाँ... बाँ'... कहकर भीख माँग रहे थे, कोई कहता फलाने मंदिर में....।''[261] समाज की इस जटिल जातीय जकड़न, सूखे और भूखेपन की मार तथा समानता और बराबरी की आकाँक्षा के चलते सिंधुताई ने बौद्ध धर्म अपना लिया। यह प्रकरण सरकारी अफसरों, धर्म तथा आस्था के नाम पर लोगों को लूटते आ रहे गिरि जैसे बाबाओं के प्रति हमारे अंदर इतनी घृणा, नफरत और आक्रोश पैदा कर देता है कि इन पर थूकने का मन करता है। लेकिन सीधे-साधे गरीब का कोई एक हत्यारा नहीं है। ''हत्यारे कई हैं-एक से बढ़कर एक! स्वर्ण मंदिर में दुख भंजरी पाठ के लिए दस-दस साल से लाइन है... बड़े-बड़े हैं अंधविश्वास की इस लाइन में। अमिताभ बच्चन समेत एक लाख तीस हज़ार। वहाँ कोई बेर का पेड़ है तो शिरडी में नीम का पेड़ और बोधगया में पीपल का, बनारस में....। ये सभी हत्यारे हैं... सभी।''[262]

इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि किस तरह से पहले किसानों को बी. टी. (बैसिलस थुरिंजिएंसिस) यानी कि जी. एम. (जेनेटिकली मोडिफ़ाएड) बीजों का इस्तेमाल करने के लिए पहले

---

[260]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 56

[261]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 56

[262]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 179

बहलाया-फुसलाया जाता है। "शेतकरी (किसान) की एकता तोड़ने के लिए या उनके उद्धार के नाम पर भगवान जाने सन 2002 में आया था कापूस (कपास) का महाबीज बी. टी. कॉटन बीज़।"[263] इसके लिए उन्हें बुला-बुलाकर कर्ज़ भी दिया गया। लेकिन उस समय इसकी जो शर्तें थीं वह झूठी साबित हुईं। "बी. टी. कॉटन इस आश्वासन के साथ आया था कि प्रथम दो छिड़काव के बाद कीटनाशक की जरूरत कम पड़ती जाएगी। मगर उल्टा हुआ। ईल्लियाँ क्या मरती, मिलबाग जैसे कई भुनगे पैदा हो गए। ऐसे जर्म्स इसके पहले यहाँ नहीं थे। अब इन्हें मारने के लिए और ज्यादा तगड़े कीटनाशक की जरूरत आ पड़ी। फल यह कि फसल, बीज़, मिट्टी, पानी, मित्र कीड़े और मित्र पक्षी सबका नाश।"[264] यही नहीं पहली बार तो पैदावार अच्छी होती है लेकिन दूसरी बार फिर से नया बीज़ लेना पड़ता है। एक तो किसान सूखे की मार और प्राकृतिक आपदाओं के कारण कर्ज़ के बोझ तले पहले से दबे हुये हैं उस पर बार-बार बीज़ खरीदना उन्हें और भी ज़्यादा कर्ज़ में डुबा देता है। सरकार द्वारा दिल्ली में बैठे-बैठे बनाई गईं और लागू की गईं नीतियाँ और योजनाएँ किसान विरोधी साबित होने लगीं। ऐसे में उन्हें लगातार होती आ रही हानि ही उन्हें आत्महत्या के रास्ते पर ले जाती है। इस अपराध के अलावा इनके पास और कोई विकल्प नहीं रह जाता। अत: वह आत्महत्या जैसे अपराध के लिए मजबूर हो जाते हैं। सुनील को इसी बात का मलाल रहा– "दिल्ली में बैठकर क्यों बना ली सरकारों ने हमारे गाँवों के कायाकल्प की योजना? क्यों जगाए सपने-बी. टी. बीज़ की तरह बाँझ सपने? मर गए लोग। हमसे पूछते हम बताते-बड़े नहीं, छोटे-छोटे सपने चाहिए हमारे गाँव को।"[265] इस प्रकार से यह उपन्यास किसानों की ओर तो हमारा ध्यान आकर्षित करता ही है साथ ही भारतीय कृषि नीति पर भी प्रश्न-चिह्न खड़ा करता है। यह उपन्यास सरकारी योजानाओं एवं नीतियों की भी पोल खोलता है। केंद्र सरकार

---

[263]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 37

[264]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 199

[265]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 72

द्वारा किसानों के लिए लागू की जा रही नीतियाँ ज़्यादातर सही नहीं है और जो हैं भी वह कारगर नहीं रही हैं। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है और यहाँ किसान ही देश का अन्नदाता कहलाता है। लेकिन यही अन्नदाता किसान विपरीत परिस्थितियों में भी संघर्ष करते हुए, जीवन और मौत से जूझते हुए सभी का पेट तो भरता है किसी तरह लेकिन वह खुद भूखा रह जाता है। पिछले तीन-चार दशकों से देश में किसानों की आत्महत्या करने की प्रवृत्ति जिस कदर बढ़ी है वह भारत जैसे खाद्यान्न में आत्मनिर्भर या किसी भी देश के लिए सही या अच्छी स्थिति नहीं कही जा सकती है। "यह कोई महामारी या ऐसी कोई विपत्ति नहीं आयी है कि भारत सहित दुनिया भर के किसान बेमौत मारे जा रहे हैं। यह वैश्विक व्यवस्था का नया रूप है जिसमें किसान को हाशिये पर धकेला जा रहा है। आत्महत्या एक संक्रामक व्याधि की तरह देश के उन राज्यों में जा रही है जहाँ अब तक नहीं थी।"[266] आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, विदर्भ, बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़ के किसानों की भी यही स्थिति है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उदारीकरण को प्रोत्साहन दिया गया और जिसमें नई-नई नीतियाँ बनाई गईं और योजनाएँ लागू की गई। लेकिन यह नीतियाँ और योजनाएँ किसानों के लिए अभी तक उपयोगी सिद्ध नहीं हुई हैं। "उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है-बिल्कुल ठुस्स यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती हैं। उसकी सामाजिक जिम्मेदारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता, सिचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं।"[267] यही कारण कि भूमंडलीकरण की नीतियाँ किसानों के लिए बेअसर रही हैं। लेकिन यह सोचने की बात है कि ऐसा क्यों हो रहा है कि जो उत्पादन या अनाज उत्पन्न कर रहा है वह भूखा है और इन उत्पादों की दलाली करने वाले सेठ-साहूकार दिन

---

[266]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 195

[267]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 109

प्रतिदिन मालामाल हो रहे हैं। इस प्रकार से यह उपन्यास किसानों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए हमारे सामने ढ़ेर सारे प्रश्न भी खड़ा कर देता है जिसका उत्तर या समाधान शायद ही किसी के पास हो। इस प्रकार से यह उपन्यास सिर्फ़ विदर्भ के गाँव बनगाँव की ही कथा नहीं है बल्कि यह तेलंगाना, आंध्र-प्रदेश, कर्नाटक, बुंदेलखंड (उत्तर प्रदेश) एवं छत्तीसगढ़ के किसानों के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत के किसानों की व्यथा-कथा है। समीक्षक विवेक मिश्र के अनुसार- ''फाँस उपन्यास को पढ़ना आज के समय में देश की सबसे अवसादपूर्ण घटना से, हादसों की एक लम्बी श्रृंखला से गुजरना, उससे रूबरू होना है। यह एक ऐसे विषय को हमारे सामने ला खड़ा करता है जिससे हम लगातार मुँह छुपाते आए हैं और वह लगातार किसी प्रेतछाया सा हमारे अतीत-वर्तमान और भविष्य पर मँडराता रहा है। 'फाँस' किसी एक किसान, किसी एक खेतिहर परिवार, किसी एक गाँव या फिर किसी एक प्रांत की खेती और किसानी की समस्याओं की कथाभर नहीं है, बल्कि यह उस घाव के नासूर बनने की कथा है जिसमें कई दशकों से, कहें की आजादी से बहुत पहले से धर्म, अंधविश्वास, जटिलजातीय संरचना, शोषण के सामंती सामाजिक ढांचे के कीड़े बिलबिला रहे हैं और उसमें राजनैतिक उपेक्षा और भ्रष्टाचार का संक्रमण भी बुरी तरह फैल गया है। ये खेती (जिसे देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ माना जाता है) के कैंसर जैसे असाध्य रोग से पीड़ित हो जाने की कथा है।''[268]

वास्तव में किसानों की समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब सरकार और राजनेता राजनीतिक स्वार्थ से ऊपर उठकर किसानों के हित के लिए एक साथ मिलकर काम करेंगे। किसानों और मजदूरों की समस्याओं को सिर्फ़ चुनावी मुद्दा नहीं बनने देंगे। सिर्फ़ चुनाव के समय आर्थिक-पैकेज और प्रलोभन न देकर एक कारगर नीति और टिकाऊ समाधान की बात करेंगे। अन्यथा किसानों की समस्याओं का समुचित समाधान संभव न होगा। यह उपन्यास सिर्फ़ किसानों की समस्याओं, उनकी दयनीय दशा एवं दुर्दशा तथा उनकी आत्महत्याओं का ही भयावह सत्य नहीं प्रस्तुत करता

[268]लेख-'फाँस' उपन्यास एक सामूहिक सुसाइड नोट है, विवेक मिश्र, सिताब दियारा, 5 फरवरी, 2016

अपितु किसानों को यह समाज के सामाजिक-साँस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक पहलुओं के साथ-साथ क्षेत्र विशेष में अच्छी पैदावार देने वाली फसलों, फसलों की क़िस्मों व उन्नत बीजों, उर्वरकों एवं कीटनाशकों के प्रयोग, खाद बनाने की विधि, खेती करने की सही विधियों-प्रविधियों आदि के बारे में भी बतलाता है। इसलिए इस उपन्यास के दो पक्ष दिखाई देते हैं। एक पक्ष किसानों की समस्याओं एवं उनकी आत्महत्याओं की पड़ताल करता है तो दूसरा पक्ष समस्याओं के समाधान खोजता आगे बढ़ता है। इस खोज में शामिल हैं मृतकों के परिजन जिनमें सुनील का बेटा विजयेन्द्र, शिबू और शकुन की छोटी (कलावती) तथा बड़ी (सरस्वती), शकुन, सिंधुताई, अशोक, मंगल मिशन वाला मल्लेश, विजय राव बापट राव नाना तथा सबके लिए आदर्श गाँव 'मेंडालेखा' के दलित दादा जी खोबरागडे जी जिन्होंने एच. एम. टी. धान विकसित किया लेकिन विश्वविद्यालय इसे अपना धान मानते हुए इसका पेटेंट अपने पास रखते हुए इसे दुगुने दाम पर बेचने लगता है। इस प्रकार इसमें ऐसे वैज्ञानिक सोच वाले तथा पढ़े-लिखे लोग भी हैं। इन लोगों को पता है कि आत्महत्या या जान देने से कुछ नहीं होने वाला, यदि व्यवस्था को बदलना है तो लड़ना होगा संघर्ष करना होगा। इन लोगों द्वारा 'मंथन' जैसी संस्था का गठन इसी उद्देश्य से किया गया है। साथ ही 'कलावती कुंज की कालियाँ' में उन बच्चों को सहारा दिया जाता है जिन बच्चों के माता-पिता आत्महत्या कर लिए हैं या किसी कारण वश इस दुनिया में नहीं हैं। इस प्रकार यह उपन्यास हमारे सामने सिर्फ़ प्रश्नों एवं समस्याओं का पहाड़ ही नहीं खड़ा करता अपितु उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। किसानों और मजदूरों के साथ हो रहे अत्याचार और अन्याय में हमारी सामाजिक-साँस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ भी कम ज़िम्मेवार नहीं हैं। भूमंडलीकरण को बढ़ावा देने वाली तथा उसे संचालित करने वाली अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं (विश्व बैंक, गाट, आइ. एम. एफ़.) के साथ सरकार और कारपोरेट जगत भी इसकी जिम्मेदार हैं। इन सबकी आपस में मिलीभगत है। उदारीकरण के नाम पर बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। राजनेताओं को सिर्फ वोटबैंक की राजनीति करनी है। धर्म के

ठेकेदारों को धर्म और नैतिकता की आड़ में सिर्फ अपना उल्लू सीधा करना है। इस प्रकार से ये सभी लोग किसानों तथा गरीब मजदूरों की समस्याओं का समाधान ढूँढने की बजाय अपना व्यक्तिगत हित साध रहे हैं। इस उपन्यास में गरीब किसानों, दलितों, तथा आदिवासियों के विकास और विस्थापन के साथ-साथ उनके जंगल तथा वहाँ संसाधनों के अधिकार-क्षेत्र आदि का यथार्थ के धरातल पर विस्तार से वर्णन करता है। आज आदिवासियों से विकास के नाम पर उनका सब कुछ छीन लिया जा रहा है। जो जंगल या बन उनके जीविकोपार्जन का सहारा हमेशा-हमेशा के लिए रहे आज उन पर सरकार द्वारा प्रतिबंध लगा दिया गया है। ऐसे लोग जंगल में रहकर भी जंगल की एक भी पेड़ या पत्ती नहीं छू सकते हैं। साथ ही सरकारी लोगों द्वारा भी इनको तरह-तरह के अत्याचार भी सहने पड़ते हैं। उपन्यास में एक घटना घटित होती है जिसमें जंगल की सुरक्षा के नाम पर तैनात सरकारी सिपाही खुदाबख्श शिबू की छोटी बेटी कलावती से महुआ चुनते समय बदतमीजी करता है, जिस पर छोटकी उसका मुँह नोच लेती है और गाँव की औरतें भी उसे खूब पीटती हैं। सरकारी सिपाही खुदाबख्श का इस तरह से मार खाना ही इस गाँव के लिए तबाही का कारण बन जाता है। पूरे गाँव के लोगों को पुलिस उठा ले जाती है। थाने में डीवाई. एस. पी. कहते हैं- "आप लोगों को मालूम नहीं कि बिना परमिशन के आप जंगल का कुछ भी नहीं छू सकते हैं। न बाँस, न बल्ली।"

"मावा भी नहीं?" शकुन ने पूछा।

"मावा भी नहीं।" उत्तर आया।

शकुन पुन: बोल पड़ती है- "और जो सुअर, भालू, बंदर खाते हैं, परमिशन लेते हैं?"

"कहा न, बहस मत करो।" सरकारी कर्मचारी गुर्राया।

“ई तो जुलुम है हाकिम। अगर हम आपके सिपाही को अपनी मुलगी के साथ मनमानी करने देते तो ठीक था, उसका मुलगी ने मूँ नोच लिया, हमने खदेड़ लिया तो गलत हो गया।”[269]

यह घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि किस तरह सरकारी अफसरों एवं नौकरशाहों द्वारा गरीब किसानों दलितों एवं आदिवासियों का शोषण अभी भी लगातार हो रहा है। इस उपन्यास के विषय में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं कि ‘अपनी इस साहित्यिक विरासत के आधार पर आज यही कहने को जी चाहता है कि भूमंडलीकरण के आक्रामक दौर में नष्ट होती हुई ग्राम संस्कृति और आत्महत्या के लिए विवश किसानों को केंद्र में रखकर किया जाने वाला कथा-सृजन ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकता है।’(उपन्यास के फ्लैप से साभार)

3.8 मुन्नी मोबाइल (2009) प्रदीप सौरभ

‘मुन्नी मोबाइल’ प्रदीप सौरभ का पहला ही उपन्यास था जिससे उन्हें काफी प्रसिद्धि मिली। इनका दूसरा उपन्यास ‘तीसरी ताली’ भी काफी चर्चित रहा। यह ऐसे कथाकार हैं जो लगातार भूमंडलीकरण से उपजी विसंगतियों को लेकर सृजन करते रहें हैं। इनका तीसरा उपन्यास ‘देश भीतर देश’ है। ‘और सिर्फ तितली’ इनका चौथा उपन्यास है। जिसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विविधता और उसका ताना-बाना प्रस्तुत किया गया है। ‘मुन्नी मोबाइल’ एक प्रकार से तकनीकी के सहारे आगे बढ़ने की कहानी भी है। बस जरूरत है कि उसका सही इस्तेमाल हो नहीं तो उसके भयानक परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं। इसे उपन्यास की नायिका ‘मुन्नी’ के चरित्र के माध्यम से इसे बख़ूबी समझा जा सकता है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र आनंद भारती और बिन्दू यादव हैं। एक मोबाइल मिलने से ‘बिन्दू यादव’ अर्थात् ‘मुन्नी’ की पूरी तकदीर ही बदल जाती है। इस क्रम में बिन्दू यादव कब मुन्नी बन गई, यह उसे स्वयं भी याद नहीं। हाँ, मुन्नी से मुन्नी मोबाइल बनने की कहानी आनंद भारती को जरूर याद

[269]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 24

है। मुन्नी काफी जिद्दी और अक्खड़ी स्वभाव की महिला है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है आनंद भारती से मोबाइल माँगने की उसकी जिद। मुन्नी आनंद भारती से कहती है- "इस बार दिवाली पर मुझे कोई ऐसा-वैसा गिफ्ट नहीं चाहिए। पिछली बार की तरह इस बार मिठाई, बर्तन और कपड़े आदि नहीं चलने वाले'।.....'मोबाइल चाहिए मुझे! मोबाइल!।"[270]

अंतत: आनंद भारती उसे निराश नहीं करते हैं और मुन्नी की यह जिद पूरी करते हुए वह उसे मोबाइल लाकर दे देते हैं। हाथ में मोबाइल आ जाने से मुन्नी की ज़िदगी ही बदल जाती है। यहीं से मुन्नी के नए जीवन की शुरुआत होती है। मोबाइल मुन्नी के जीवन में एक नई क्रान्ति ला देता है। बहुत जल्दी ही मुन्नी इस तकनीकी दुनिया के खेल में पारंगत हो जाती है। हालाँकि मुन्नी अनपढ़ थी लेकिन उसके लिए मोबाइल एक खिलौना बन जाता है। जो उसके जीवन की दिशा ही बदल देता है। मुन्नी अब लोगों के नंबर मोबाइल में नहीं बल्कि अपने दिमाग में सेव कर लेती थी। वह मोबाइल मिलने के बाद बहुत ही व्यस्त हो गयी थी। इसलिए कभी-कभी आनंद भारती उस पर झल्ला भी जाते थे। इसी झल्लाहट का ही नतीजा था कि एक दिन आनंद भारती उसे 'मुन्नी मोबाइल' नाम दे देते हैं। "एक दिन वह खाना खिला रही थी कि अचानक उसके मोबाइल की घंटी बजी। वह तवे पर रोटी छोड़कर बतियाने लगी। रोटी को जलना ही था और रोटी जल भी गई। आनंद भारती को गुस्सा आ गया। उन्होंने चीखते हुए आवाज़ लगाई 'ए मुन्नी मोबाइल'।"[271] इस प्रकार से यहीं से 'बिन्दू यादव' अब 'मुन्नी मोबाइल' के नाम से जानी जाने लगी जिसे यह नया नाम दिया था स्वयं पत्रकार आनंद भारती जी ने। अब धीरे-धीरे मुन्नी अपने इस नए नाम से काफी मशहूर और प्रसिद्ध हो जाती है। अब मुन्नी वही बक्सर के छोटे से गाँव वाली नहीं रही, उसकी दुनिया भी बढ़ने लगती है। उसके अंदर उत्साह और शक्ति का संचार हो जाता है। अब वह हमेशा हर उस व्यक्ति से लोहा या मोहड़ा लेने को तैयार

[270]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 9-10

[271]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 12

रहती थी, जो उसकी राह में रोड़ा बनता था। मोबाइल मिलने तथा इस तकनीकी से जुड़ने के बाद मुन्नी का स्टैण्डर्ड काफी बढ़ गया था। मुन्नी अनपढ़ थी, इसलिए पढ़ाई के महत्व को नहीं समझती थी। यही कारण था कि वह अपने बच्चों की पढ़ाई पर अधिक ध्यान नहीं दे सकी। मुन्नी का कथन है- "पैसे कमाने के लिए लोग पढ़ाई करते हैं और मैं बिना पढ़े लिखे पैसे कमा रही हूँ।"[272] मुन्नी को अपने अनपढ़ होने का तनिक भी अफसोस नहीं था। वह अनपढ़ होते हुए भी जो चाहती थी उसे अपने दृढ़ संकल्प द्वारा उसे हाशिल भी कर लेती थी। मुन्नी अँगूठाछाप थी परन्तु उसकी जिद और दृढ़-संकल्प ही उसे दस्तखत करना सिखा देते हैं। वह भूमंडलीकरण के इस बाज़ारवाद में उपयोगितावाद के अर्थ को भली भाँति समझ जाती है और सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है। वह आनंद भारती को भी नहीं छोड़ती है जिसने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी थी। वह आनंद भारती को खरी-खोटी सुनाते हुए कहती है- "आपने पढ़ कर क्या कर लिया। आप तो वहाँ पढ़े जहाँ नेहरू जी पढ़े थे। न अपना घर चलाया न बच्चे पाले, न अपनी लुगाई रख पाए, न अपने माँ-बाप की इज्जत कर पाए।... मैं निपढ़ हूँ। पढ़ी लिखी नहीं हूँ। आपकी सेवा में रहती हूँ। पूरा कुनवा पाल रहीं हूँ।"[273] यहाँ पर मुन्नी का अहंकार और उसकी स्वार्थी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार उपन्यासकार प्रदीप सौरभ इस उपन्यास में बिहार के बक्सर जिले के एक छोटे से गाँव से आई एक साधारण व गरीब महिला 'मुन्नी' के इसी जीवन-संघर्ष की कथा को पत्रकार आनंद भारती के माध्यम से कहलवाया है। यह आनंद भारती कोई और नहीं बल्कि स्वयं उपन्यासकार प्रदीप सौरभ हैं जो पत्रकार के साथ-साथ एक सूत्रधार की भी भूमिका में हैं। उपन्यास का शीर्षक 'मुन्नी मोबाइल' बहुत आकर्षित करने वाला शीर्षक है। प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी के शब्दों में- "मुन्नी मोबाइल एक दम नई काट का एक दुर्लभ प्रयोग है। प्रचारित जादुई तमाशों से अलग जमीनी, धड़कता

[272]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 76

[273]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 155

हुआ, आसपास का और फिर भी इतना नवीन कि लगे आप इसे उतना नहीं जानते थे।"[274] उपन्यासकार ने इस उपन्यास में भूमंडलीकरण के परिणाम स्वरूप हुए विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों एवं बदलाओं को भी रेखांकित किया है। जिनमें धर्म, राजनीति, बाजार, मीडिया, शिक्षा व बेरोजगारी आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के प्रसंगों के माध्यम से उपन्यासकार ने समकालीन समय तथा समाज का जीवंत चित्र भी प्रस्तुत किया है। प्रसिद्ध कथाकार व समीक्षक रवींद्र कालिया के अनुसार- "'मुन्नी मोबाइल' समकालीन सच्चाईयों के बदहवास चेहरों की शिनाख़्त करता उपन्यास है। धर्म, राजनीति, बाज़ार और मीडिया आदि के द्वारा सामाजिक विकास की प्रक्रिया किस तरह प्रेरित व प्रभावित हो रही है, इसका चित्रण प्रदीप सौरभ ने अपनी मुहावरेदार रवां-दवां भाषा के माध्यम से किया है।"[275] इस प्रकार से सामान्य जन-जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है जो उपन्यासकार की पैनी और पारखी दृष्टि से अछूता रह गया हो। भूमंडलीकरण के इस नव-पूंजीवादी रूप ने बाज़ारवाद एवं उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया है। इस बाज़ारवाद के भले ही ज़्यादातर परिणाम हमारे समाज के लिए विनाशकारी ही साबित हुए हैं। लेकिन इसी बाजारवाद ने स्त्रियों को आज़ादी भी प्रदान की है, सुंदर और आकर्षक दिखने की एक नई दृष्टि के साथ-साथ उन्हें जीवन जीने के लिए शक्ति भी दी है। वर्तमान युग में उदारीकरण और निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। जिससे उपभोक्तावाद और बाज़ारवाद लगातार हम पर हावी होता जा रहा है। लेकिन इसी उपभोक्तावादी एवं बाज़ारवादी संस्कृति में स्त्री ने एक ख़ास एवं सक्रिय उपभोक्ता के रूप में अपनी पहचान बनाई है। 21वीं सदी की स्त्री को अपनी सामर्थ्य व शक्ति का पता चल गया है। 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास की पात्र 'बिन्दू यादव' इसका सशक्त उदाहरण है। यह उपन्यास एक घरेलू कामकाज करने वाली स्त्री के निर्भीक और साहसी इरादों के सहारे विकास के पाठ पर उसके आगे बढ़ने की कथा भी है। उपन्यासकार प्रदीप सौरभ ने इसी

---

[274]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, कवर पृष्ठ से साभार

[275]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, कवर पृष्ठ से साभार

बाज़ारवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति के बढ़ते हुए दुष्प्रभाव को केन्द्र में रखते हुए 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास का सृजन किया है।

उपन्यासकार ने उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र 'मुन्नी मोबाइल' के माध्यम से एक महत्वाकांक्षी स्त्री के जीवन-चरित्र, उसकी सोच व क्रियाकलापों के साथ-साथ उसके विकास और विनाश का वर्णन किया है। 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास की नायिका 'बिन्दू यादव' उर्फ़ 'मुन्नी' अभिजात्य परिवारों में झाड़ू-पोछा लगाने वाली एक काम-काजी महिला है। विभिन्न प्रकार के तरीकों एवं रास्तों पर चलने का जोखिम उठाते हुए मुन्नी अपने परिवार को चलाने के लिए निरंतर संघर्ष करती रहती है। मुन्नी की यह जीवटता हमें उसकी सोच और महत्वाकांक्षाओं से अवगत कराती है। मुन्नी हार मानने वाली महिला नहीं है वह निरंतर संघर्ष करते हुए विकास के पथ पर अग्रसर एक महत्वाकांक्षी महिला है। यह सही है कि मुन्नी अपने विकास के जिन रास्तों को चुनती है उनमें सभी रास्ते सही नहीं होते हैं, कुछ गलत भी हैं। जो आगे चलकर उसके विनाश का कारण भी बनते हैं। किन्तु इन सबके बावजूद 'मुन्नी मोबाइल' एक आम स्त्री के जीवन की सफलताओं एवं विफलताओं की यथार्थ कहानी है। बिहार के बक्सर की रहने वाली बिन्दु अपने पति के काम के चलते जीवनयापन हेतु दिल्ली की सीमा से जुड़े साहिबाबाद गाँव में आकर बस जाती है। जहाँ पर गुर्जरों का झुण्ड है और जाटों का वर्चस्व और आतंक फैला है। जब वह यहाँ आयी तो उसकी उम्र मात्र 17 वर्ष थी और उसकी एक छोटी बच्ची भी गोद में थी। उसका पति शराब बनाने की फैक्ट्री में काम करता था। वे झुग्गी-झोपड़ी में रहते थे। शुरू में मुन्नी सिर्फ़ घर की देखभाल और बच्चों का ध्यान रखती थी। लेकिन कुछ दिन बाद धीरे-धीरे वह भी घर में ही स्वेटर बुनने का काम करने लगी और घर खर्च के लिए कुछ पैसे अर्जित करने लगी। शनैः-शनैः परिवार भी बढ़ने लगा और 6 बच्चों के साथ अब 8 लोगों का परिवार बन गया। मुन्नी स्वभाव से जिद्दी लेकिन हमेशा झूठ के खिलाफ रहने वाली व सच के लिए लड़ने-भिड़ने वाली महिला है। परन्तु उसका पति सीधा-सादा, कम बोलने वाला इंसान है। तीज त्यौहारों पर दारू पी लेता है, पर

लड़ाई झगड़ा से वह बहुत दूर रहता है। ऐसे में उस इलाके में अब मुन्नी मोर्चा संभालती है। उपन्यासकार ने उपन्यास में इस बात को बहुत ही सशक्त ढंग से हीर सिंह और मुन्नी के मध्य हुए झगड़े के द्वारा प्रस्तुत किया है। एक दिन ऐसा भी आता है जब मुन्नी एक-एक पैसे जोड़-जोड़कर झोपड़ी से पक्का मकान भी बनवा लेती है जो हीर सिंह को बर्दाश्त नहीं होता। इसी के चलते हीर सिंह मुन्नी के बच्चों पर चोरी का इल्ज़ाम लगा देता है जो मुन्नी के लिए असहनीय झूठ था। जिससे दोनों में झगड़ा हो जाता है यहाँ पर मुन्नी जैसे साक्षात दुर्गा व काली बन जाती है और हीर सिंह को अंतत: पीछे खदेड़ कर ही दम लेती है। यही नहीं वह हीर सिंह से कहती है कि -"मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है। इस बात को कभी न भूलना।"[276] बस इसके बाद तो मुन्नी अब मुन्नी मोबाइल के नाम से जानी जाने लगी। अब वह हर किसी के सामने अपनी धाक जमाती और कहती-"मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है और बिहार की रहने वाली हूँ। मैं किसी से डरती नहीं हूँ।"

मुन्नी में धन कमाने की चाह दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। इसी अत्यधिक धन की चाह में उसमें पैसे कमाने की होड़ लग जाती है। ऐसे ही समय में उसकी पहचान गाँव के ही एकमात्र अस्पताल की डॉक्टर शशि से हो जाती है। मुन्नी यहाँ भी काम सीखने लगती है। इसी क्रम में वह पैसे कमाने के नए-नए साधन और तरीके भी अख्तियार कर लेती है। वह मरीज़ लाने के नाम पर कमीशन कमाने लगती है। साथ ही अब वह धीरे-धीरे वो पूरी नर्स हो चुकी थी। मुन्नी एबोर्शन के लिए लड़कियाँ खोज के लाती और कमीशन खाती। मुन्नी रात-बिरात औरतों की डिलीवरी कराने लगी जिससे उसको काफ़ी पैसे मिलने लगे। मुन्नी चतुर तो थी ही अब वो दूसरी डॉक्टर से भी अपनी सेटिंग करने लगी जिसके कारण डॉ. शशि से उसकी खटपट हो गई। अब वो बड़े-बड़े घरों में काम करके भी पैसे कमाने लगती है। अब वह हर उस कार्य को करने लगती है जहाँ पर उसे मुनाफ़ा दिखाई देता है। मुन्नी की आनंद भारती से उसकी मुलाकात इसी क्रम में होती है। इस तरह के काम करते-करते मुन्नी अब पूरी

---

[276]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 14

तरह से मँज चुकी है। लेकिन आज के समय में संचार साधनों एवं सूचना तकनीक ने जितना हमें और हमारे जीवन को सरल बनाया है उतना ही इसने हमें नुकसान भी पहुँचाया है। प्रसिद्ध समीक्षक अभिताभ राय के अनुसार- "नेट और मोबाइल दुनिया के सब अच्छे-बुरे क्रिया-कलापों के प्रतीक है। ये प्रतीक है-नयी मानसिकता के। आप सारी दुनिया से कनेक्टेड हैं- हर वक्त! सारी दुनिया में आप हैं।"[277]

मुन्नी के लिए नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ तथा सही-गलत से कोई लेना देना नहीं था। उसके लिए सिर्फ़ सफलता और अपना विकास ही मूलमंत्र हो गया था। इन सबके बावजूद आनंद भारती हर किसी को मुन्नी के जीवन-संघर्ष की कथा बहुत ही मज़े से सुनाते थे। लेकिन उन्हें तनिक भी इस बात का अंदेशा नहीं था कि एक दिन यही मुन्नी पैसों के चक्कर में इतना पागल हो जाएगी कि 'सैक्स-रैकेट' चलाने लगेगी। यह आनंद भारती के लिए अविश्वसनीय लेकिन कटु सत्य था, मुन्नी वाकई में अब कालगर्ल्स संचालिका बन गई थी। यह वही मुन्नी है जो बिहार के बक्सर के एक छोटे से गाँव से आई हुई थी। मुन्नी के चरित्र का विशिष्ट पहलू है उसकी दबंगता और महत्वाकांक्षा। यह सही है कि मुन्नी घरों में काम करने वाली एक साधारण सी नौकरानी थी लेकिन उसकी इच्छा यह थी कि उसकी बेटियाँ पढ़-लिख कर कुछ बन जाएँ। जिससे उन्हें किसी के घर में चूल्हा-चौका न करना पड़े। अपनी इसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए मुन्नी मोबाइल ने जो सफ़र पत्रकार आनंद भारती के घर से शुरू किया था वह आगे चलकर बहुत अनैतिक हो गया। मुन्नी एक मेहनती महिला जरूर थी लेकिन वह शुरू से ही सही या गलत तरीके से पैसे कमाने में लीन थी। चाहे कुँवारी युवतियों के गर्भपात का प्रसंग हो, बस मालिकों से झगड़ा मोल लेना हो या 'सैक्स रैकेट' प्रसंग। उसकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाएँ ही उसे ऐसा करने के लिए मजबूर करती थीं। इसलिए वह सही गलत सब भूल चुकी थी। लेकिन उसे यह नहीं पता था कि यही कार्य उसे एक न एक दिन उसके लिए जानलेवा साबित होगा। कामवाली के

[277]समीक्षा, संपा. सत्यकाम, अक्टूबर-दिसम्बर-2011, अंक-4, पृष्ठ सं. 35

यूनियन से लेकर साहिबाबाद के बस मालिकों से दुश्मनी, डॉ. शशि के नर्सिंग होम में उसके अवैध धंधों और 'कालगर्ल्स रैकेट' जैसे गलत धंधे ही अंत में उसकी हत्या (मर्डर) का कारण बनते हैं। जिसे आनंद भारती बखूबी समझते हैं। उपन्यास के अंत में उन्हें मुन्नी के मर्डर का मामला पूरी तरह से समझ में आ जाता है। विदेशी लड़कियों को अपने रैकेट में शामिल करने की सजा मुन्नी को मिली थी। अब आनंद भारती के सामने मुन्नी का हर रूप एक कोलाज़ बनकर उभरता था। "मोबाइल की माँग से लेकर हस्ताक्षर करने तक का सफर, बच्चों की पढ़ाई से लेकर बेटी रेखा के लिए कंप्यूटर ले जाने की उसकी हसरत... फिर नौकरानियों की सप्लाई से लेकर कालगर्ल्स की सप्लाई का काम .... मुन्नी के संघर्ष से लेकर सफल होने तक की इंद्रधनुषी यात्रा बदरंग हो गई थी। आनंद भारती सोच रहे थे कि उन्होंने जिस मिट्टी से मुन्नी की एक संघर्षशील मूर्ति गढ़ने की कोशिश की थी, वह मिट्टी चाक में आकार लेने से पहले ही बिखर गई। उनके संघर्ष की मूर्ति टूट गई थी।"[278]

इस प्रकार उपन्यास की यह नायिका उपन्यास के अंत में आकर खलनायिका बन जाती है। जब तक वह ईमानदारी से कार्य करती है तब तक तो वह एक सभ्य स्त्री रहती है और साथ ही दूसरी स्त्रियों के लिए एक आदर्श भी बनी रहती है। लेकिन जब उसकी इच्छाएँ और महत्वाकांक्षाएँ बढ़ने लगती हैं और वह पैसों की खातिर 'सैक्स रैकेट' चलाने लगती है तो वह एक क्रूर और निर्दयी महिला बन जाती है। यहाँ इसके लिए संबंध, मान-मर्यादा या ईज्जत से बढ़कर सिर्फ़ और सिर्फ़ पैसा ही सबकुछ होता है। यही उसकी अत्यधिक धन की चाह ही उसे एकदम से अंधा कर देती है। आगे चलकर उसको इसका खामियाज़ा भुगतना ही पड़ता है। उपन्यास के अंत में 'सोनू पंजाबन' एक बड़े कांट्रेक्ट किलर को सुपारी देकर इसकी हत्या करवा देती है। इस प्रकार मुन्नी की अत्यधिक पैसों की चाहत या हवस, उसकी कमीशनखोरी, शार्टकट वाले रास्ते उसके लिए जानलेवा सिद्ध होते हैं। इस प्रकरण से उपन्यासकर हमें यह संदेश भी देता है कि ये सभी गलत रास्ते या तरीके किसी आदर्शवादी राह का

[278]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 156

निर्माण नहीं करते बल्कि यह हमें हमेशा के लिए परेशानियों के ही दलदल में फँसा देते हैं। मुन्नी का पति नंदलाल अपने तीनों बेटों को लेकर बक्सर चला जाता है। जबकि उसकी छोटी बेटी रेखा चितकबरी मुन्नी की ही बनाई राह पर चलने लगती है। रेखा चितकबरी कालगर्ल वर्ड की एक नई अवतार बनकर सुर्खियों में आती है। रेखा चितकबरी और इसके धंधे का जिक्र प्रदीप सौरभ अपने महत्वपूर्ण उपन्यास 'तीसरी ताली' में भी किए हैं। कहाँ मुन्नी अपनी छोटी बेटी रेखा को पढ़ा-लिखा कर आनन्द भारती की तरह एक अधिकारी बनाना चाहती थी लेकिन वह तो कालगर्ल्स की दुनिया की मालकिन बन जाती है और मुन्नी के आशिक गाजियाबाद के गैंगस्टर पलटू से रिश्ता भी जोड़ लेती है। अंतत: एक प्रकार से कहें तो मुन्नी का अंत होने के बाद भी कथा का अंत नहीं होता बल्कि रेखा के रूप में एक और शुरुआत ही होती है, जिसका शायद ही कोई अंत हो।

मुन्नी के अलावा उपन्यास में कई अन्य स्त्री पात्र भी हैं जैसे-पत्रकार आनन्द भारती की पत्नी शिवानी, मानसी, सुधा पाण्डेय, डॉ. शशि खोखरा, सीमा, राधा, नंदिनी, रेखा चितकबरी (मुन्नी की बेटी) आदि। इन सभी पात्रों तथा चरित्रों के माध्यम से उपन्यासकार ने समकालीन समय तथा समाज में स्त्रियों के वास्तविक जीवन-यथार्थ को प्रस्तुत किया है। पत्रकार आनंद भारती का शिवानी से अलगाव हो या मानसी से भावनात्मक जुड़ाव वाला प्रसंग, या उनकी सुधा पाण्डेय के साथ कोलकाता यात्रा का प्रसंग और उनका इलाहाबाद के प्रति विशेष लगाव। ये सभी कथा-प्रसंग उपन्यास की कथावस्तु से किसी न किसी प्रकार जुड़ाव रखते हैं और उपन्यास की मूल कथा को रोचकता प्रदान करते हुये उसे आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

उपन्यासकार ने मुन्नी मोबाइल के माध्यम से समकालीन समाज के ही वास्तविक स्त्री-जीवन का यथार्थ काफी जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया है। मुन्नी के क्रिया-कलाप उसे अपने पति (नंदलाल) व तीनों बेटो से अलग कर देते हैं। इसमें सिर्फ़ मुन्नी का दोष नहीं है यह उपभोक्तावाद और बाजारवाद का असर है जिससे कोई बच नहीं सका है। यही नहीं बाज़ारवाद अभी पता नहीं कितनी निम्नवर्गीय

औरतों के जीवन को तबाह किया होगा और अभी कर भी रहा है। इस प्रकार से यह उपन्यास स्त्री विमर्श की दृष्टि से अपने ढंग का एक नया और अनूठा उपन्यास साबित होता है। यह उपन्यास भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप समाज में आए हुये परिवर्तनों एवं बदलाओं को रेखांकित करता हुआ पिछले तीन-चार दशकों के भारत का आईना है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप उपजी विभिन्न समस्याओं एवं विसंगतियों को चित्रित करने का सफल प्रयास किया है। जिनमें पूँजीवादी समाज में विकसित उपभोक्तावाद, व्यक्तिवाद और बाज़ारवाद के भयावह परिणामों के प्रति उपन्यासकार ने हमें सचेत भी किया है। भूमंडलीकरण रूपी अपसंस्कृति ने पारंपरिक भारतीय नारी समाज के प्राचीन ढाँचे को ही तोड़ दिया है। इस बाजारवादी तथा उपभोक्तावादी युग में स्वार्थ की भावना और अधिक बलवती हुई है। सभी नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ आदि को भूलकर अपने-अपने ढंग से सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। यह अत्यधिक उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि ही अंत में उनके विनाश का कारण भी साबित हो रही है। इस उपन्यास की मुख्य महिला पात्र मुन्नी इसका प्रमाण है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने ‘मुन्नी मोबाइल’ के माध्यम से बदलते सामाजिक-मूल्यों, शहरी परिवेश, आधुनिक उप-निवेशवाद, आर्थिक-मंदी और मध्य-वर्ग के युवाओं की कुंठाओं को तो उजागर करता ही है साथ ही शहरीकरण, औद्योगीकरण, सामंतवाद व पूँजीवाद तथा सांप्रदायिकता सहित समूचे भूमंडलीय भारत के वास्तविक यथार्थ को भी प्रस्तुत करता है।

3.9 रेहन पर रग्घू (2008) काशीनाथ सिंह

प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह का यह काफी चर्चित उपन्यास है। यह सर्वप्रथम ‘तद्भव’ पत्रिका में धारावाहिक रूप में छपा था। इस उपन्यास के लिए उपन्यासकार काशीनाथ सिंह को वर्ष 2011 के साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है। समीक्षकों ने इसे इनकी रचना यात्रा का नव्य शिखर माना। इसके विषय में प्रसिद्ध समीक्षक अखिलेश लिखते हैं कि- “‘रेहन

पर रग्घू' प्रख्यात कथाकार काशीनाथ सिंह की रचना-यात्रा का नव्य शिखर है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है-तब्दीलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है-उसका प्रामाणिक और गहन अंकन है 'रेहन पर रग्घू'। यह उपन्यास वस्तुत: गाँव, शहर, अमेरिका तक के भूगोल में फैला हुआ अकेले और निहत्थे पड़ते जा रहे समकालीन मनुष्य का बेजोड़ आख्यान है।....'रेहन पर रग्घू' नए युग की वास्तविकता की बहुस्तरीय गाथा है। इसमें उपभोक्तावाद की क्रूरतावों का विखंडन है ही, साथ में शोषित-प्रताड़ित जातियों के सकारात्मक उभार और नयी स्त्री की शक्ति एवं व्यथा का दक्ष चित्रांकन भी है। (अखिलेश, उपन्यास के फ्लैप से साभार) नामवर सिंह ने इसे बदलते हुए यथार्थ की कहानी बताया है। वे लिखते हैं कि- "भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दुष्प्रभाव से गाँव भी नहीं बचे हैं। घर के घर तबाह हो रहे हैं, पति-पत्नी के बीच संबंध ठंडे पड़ते जा रहे हैं, बेटी बाप के लिए परायी होती जा रही है। बेटा अपने बाप के आए हुए पचास हजार रुपये अपने पास रख लेता है और समझता है कि बाप से वसूल करने का उसे हक है। उपभोक्तावाद ने मानवीय रिश्तों को ध्वस्त कर दिया है और लोग हत्यारे बनते जा रहे हैं। बताने की जरूरत नहीं है कि इस कथा में, बदलते यथार्थ की इस प्रस्तुति में, इसका प्रतिरोध भी छुपा हुआ है और इस तरह, इस व्यवस्था की चुनौती भी दी गयी है।"[279]

उपन्यास की शुरुआत में उपन्यासकार ने दिन के दोपहर में जिस अंधड़ भरी हवा, ओलों तथा बर्फ़ के पत्थरों की मूसलाधार बारिश का दृश्य खींचा है उसमें उपन्यास के पात्र रघुनाथ के ही जीवन की झलक दिखाई देती है। "शाम तो मौसम ने कर दिया था वरना थी दोपहर! थोड़ी देर पहले धूप थी। उन्होंने खाना खाया था और खाकर अभी अपने कमरे में लेटे ही थे कि सहसा अंधड़। घर के सारे खुले खिड़की दरवाज़े भड़ भड़ करते हुए अपने आप बंद होने लगे खुलने लगे। सिटकनी छिटक कर कहीं गिरी, ब्योड़े कहीं गिरे जैसे धरती हिल उठी हो, दिवारें कांपने लगी हों। आसमान काला पड़ गया और

---

[279]लेख-बदलते यथार्थ की कहानी, नामवर सिंह, चौपाल, संपा. कामेश्वर प्रसाद सिंह, अर्धवार्षिकी, वर्ष: 1, अंक: 1, पृष्ठ सं. 29

चारों ओर घुप्प अँधेरा।.... इकहत्तर साल के बूढ़े रघुनाथ भौचक! यह अचानक क्या हो गया? क्या हो रहा है?[280] दरअसल, यही घुप्प अँधेरा तो रघुनाथ के जीवन में भी छा गया है। उनके बेटे-बेटी उनके बताए रास्तों पर न चलकर अतिशय भौतिकवादी और उनसे लगभग दूर हो गए हैं। रघुनाथ देख रहे हैं कि अंदर और बाहर सब जगह तब्दीलियों का एक नया तूफ़ान निर्मित हो गया है। रिश्तों-नातों तथा मानवीय संबन्धों की गरिमा नष्ट हो गयी है। शहर में गाँव तथा गाँव में शहर प्रवेश कर गया है। रघुनाथ को यह सबकुछ बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। इसमें रघुनाथ का कोई वश नहीं है। इस तरीके से हुए बदलाओं को देखकर रघुनाथ एकदम अचंभा हैं। उन्हें यकीन ही नहीं हो रहा है कि यह सब इतने जल्दी कैसे हो गया? उपन्यासकार ने इस प्रसंग के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कैसे हमारा समाज, गाँव, घर, घर के लोग, रिश्ते-नाते और सारे मानवीय संबंध पलक झपकते ही एकदम से बदल गए हैं। सिटकनी और ब्योड़े छिटक कर कहीं गिरी इसका रघुनाथ के जीवन से बहुत गहरा संबंध है। उनके बेटे-बेटी उनके बताए अनुसार नहीं चले और उनसे बहुत दूर हो गए। इस प्रकार इस चित्रण में हम रघुनाथ के जीवन की झलक पाते हैं। लेकिन यह दुख, पीड़ा सिर्फ़ रघुनाथ की नहीं है बल्कि समूचे मध्यवर्ग की है। प्रत्येक उस मनुष्य की है जो भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति तथा उसकी आँधी में लगातार पिसता चला आ रहा है। इस प्रकार यह उपन्यास भारतीय मध्य-वर्ग के जीवन की विडंबना एवं विसंगति को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से विवेचित करता है। प्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार- "'रेहन पर रग्घू' के रघुनाथ भूमंडलीकृत होते समाज में लगातार हाशिए पर धकेली जा रही संस्कृति के प्रतीक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उपन्यास उदारीकरण के बाद भारतीय परिवेश में, उसकी सामाजिक संरचना में तेज़ी से आए उन आत्मघाती बदलाओं को रेखांकित करता है जिन्होंने भारतीय समाज को भीतर ही भीतर खोखला बना दिया है। मध्यवर्गीय दोगलेपन की एक-एक परत को यह बड़े ही प्रभावशाली ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। असल में, 'रेहन पर रग्घू' के रघुनाथ की

[280]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 11

कहानी आत्मीयता के पुलों के ढहने की कहानी भी है।[281] इस उपन्यास में भूमंडलीकरण के इस दौर में समकालीन मनुष्य के निरंतर अकेले पड़ते जा रहे, असहाय, एकाकीपन की ज़िंदगी जीने को विवश मनुष्य की व्यथा-कथा बहुत ही संजीदगी से चित्रित हुई है। इस तरह से भूमंडलीकरण की विद्रूपताओं को रेखांकित करता यह हिंदी का एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय उपन्यास है। इसमें कथाकार ने यह बताने का भरसक प्रयास किया है कि किस तरह बाजार हमारे गाँव तथा घर में घुस चुका है। जिसने हमारी स्वतंत्रता, निजता यहाँ तक कि हमारी चेतना को भी कैद कर रखा है। पूँजी के प्रलोभन, नव-धनाढ्य मध्यवर्गीय जीवन और इस प्रकार के मुखौटावादी समाज तथा समाज के लोगों का उपन्यासकार ने चित्रण कुछ इस प्रकार से किया है- "जिस कम्पनी में और जिस कांट्रेक्ट पर अमेरिका जाना है, उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा की अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले।"[282] अर्थात् आज के इस समय में घर-परिवार की सारी समस्याओं का समाधान सिर्फ़ पूँजी में निहित हैं। पूँजीवाद और भूमंडलीकरण ने गाँव, घर, समाज-संस्कृति, रिश्ते-नातों, संबन्धों आदि को इस तरह जकड़ लिया है जिससे हमारी दया, करुणा, भावना और मानवीय संवेदना लगभग मृत पड़ गई है। इस विषय में प्रसिद्ध आलोचक चौथीराम यादव लिखते हैं कि- "पूँजीवाद आर्थिक संबन्धों को इतना मजबूत बना देता है कि उसके सामने पारम्परिक संस्कार और संवेदनात्मक संबंध चकनाचूर हो जाते हैं। बाजारवाद के इस दौर में रूपये की खनक ने जिन्दगी की खनक को फीका कर दिया है। आज मानवीय संवेदना के सारे स्रोत सूखते जा रहे हैं। आदमी उपभोक्ता के रूप में बाज़ार में खड़ा है, बिकाऊ

---

[281]मध्यवर्गीय दोगलेपन की एक-एक परत को 'रेहन पर रग्घू' हमारे सामने रखता है - विश्वनाथ त्रिपाठी, विश्वनाथ त्रिपाठी से पुखराज की बातचीत, 'अपनी माटी' मासिक ई-पत्रिका (www.ApniMaati.com) शुक्रवार, 23 दिसंबर, 2011 http://www.apnimaati.com/2011/12/blog-post_23.html

[282]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 7

माल की तरह। आज सदाचार, सच्चाई, परोपकार जैसे पारंपरिक जीवन-मूल्य पिछड़े आदमी के लक्षण बन कर रह गये हैं।"[283]

'रेहन पर रग्घू' सिर्फ़ एक गाँव की ही कहानी नहीं है, यह भूमंडलीकृत होते समाज की कहानी है जो पहाड़पुर से बनारस तथा अमेरिका के कैलिफोर्निया तक फैली है। अर्थात् भारत के एक गाँव से अमेरिका तक फैली हुई कहानी। उपन्यास की शुरुआत में ही उपन्यासकार लिखता है कि- "अगर 'काशी का अस्सी' मेरा नगर है तो 'रेहन पर रग्घू' मेरा घर है – और शायद आपका भी।"[284] बनारस उपन्यासकार का नगर है तो पहाड़पुर जो इस उपन्यास का केंद्र भी है, उसका गाँव। 'रेहन पर रग्घू' मेरा घर मतलब पहाड़पुर गाँव उसका घर है। इसी अपने घर की कथा को उपन्यासकार काशीनाथ सिंह ने 164 पृष्ठों में रचा है। लेकिन यह कथा नगर की कथा के साथ-साथ गाँव की भी कथा है। 'रेहन पर रग्घू' मेरा घर है – और शायद आपका भी, इसमें सांकेतिकता के साथ-साथ समग्रता भी है। इसके माध्यम से वह प्रत्येक भारतीय गाँव और गाँव के लोगों को भी इसमें समाहित करते हैं। आज के समय में जिस तरीके का गाँव तथा समाज निर्मित हो रहा है उसका सशक्त उदाहरण है उपन्यास में चित्रित पहाड़पुर गाँव। काशी अर्थात् बनारस जहाँ पर उनका नगर है तो पहाड़पुर जो उपन्यास का केंद्र भी है, उनका घर है। इसमें उपन्यासकार ने भूमंडलीकरण के दौर में ख़त्म होती मानवीय संवेदना, अपसंस्कृति तथा भूमंडलीकरण के भयंकर दुष्प्रभाव को, जो शहर के साथ-साथ हमारे गाँव तथा घर तक भी दस्तक दे चुका है, का यथार्थ चित्रण किया है। इस पहाड़पुर गाँव में रामनाथ, छविनाथ आदि कई नाथ हैं। लेकिन इनमें रघुनाथ एक ही हैं। इस रघुनाथ के परिवार में पत्नी शीला के अलावा एक बेटी सरला और दो बेटे संजय और धनंजय हैं। इस छोटे परिवार की समस्या बड़ी दयनीय और दिल को छू लेने वाली है।

---

[283]लेख- रेहन पर-'रग्घू या इक्कीसवीं सदी का गाँव-घर?', चौथी राम यादव, चौपाल, संपा. कामेश्वर प्रसाद सिंह, वर्ष:1, अंक:1, पृष्ठ सं. 35

[284]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 7

रघुनाथ ने अब तक जो चाहा वो पाया। लेकिन बेटी सरला का विवाह न करना उनको आघात पहुँचा जाता है। सरला के लिए लगातार छ: साल घूमने के बाद भी वह सरला के लिए कोई उचित वर नहीं ढूँढ पाते हैं और सरला की उम्र तीस वर्ष से ऊपर की हो जाती है। सरला के एक दलित अधिकारी से संबंध हैं। छोटा बेटा धनंजय नोएडा में डोनेशन देकर एमबीए कर रहा है और वहाँ एक दक्षिण भारतीय महिला के साथ लिव-इन रिलेशनसिप में रहने लगता है। इसके अलावा उनका बड़ा बेटा संजय बिना उनसे बताए किसी प्रोफ़ेसर सक्सेना की बेटी से शादी कर लेता है और उनकी सिफ़ारिश पर कैलिफोर्निया चला जाता है। लेकिन वहाँ जाने के बाद भी वह सौदेबाजी में फँस जाता है। उसके लिए पत्नी सिर्फ़ घर का काम काज करने वाली एक नौकरानी है। अंतत: सोनल से उसका मोहभंग हो जाता है और वह शादीशुदा और एक बेटी की माँ आरती गुर्जर के साथ रहने लगता है। जो एक अमेरिकी लैंडयार्ड की इकलौती बेटी है। इस प्रकार से संजय एक कारपोरेट कल्चर का हिस्सा बन जाता है जिसमें विवाहेतर संबन्धों की पूरी छूट थी। अंतत: वह इसमें और भी फँसता चला जाता है। इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य किसी न किसी समस्याओं में फँसे एवं जकड़े हुए हैं। रघुनाथ स्वयं भी अपनी पैतृक जमीन के मोह में फँसे हुए हैं। परिवर्तन और बदलाव की ऐसी आँधी आई है कि जिसने रिश्तों को भी बदल दिया है। इस तरह से इसमें पारिवारिक विघटन की कथा कही गयी है। लेकिन यह कथा सिर्फ़ पहाड़पुर और रघुनाथ की कथा नहीं है बल्कि भूमंडलीकरण के भँवर में फँसे समस्त भारतीय समाज के गाँवों तथा लोगों की भी कथा है। काशीनाथ सिंह ने इस उपन्यास के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास किया है कि शहर में गाँव और गाँव में शहर कैसे प्रवेश कर चुका है। गाँवों और शहरों के इस मिलन ने एक नए प्रकार की संस्कृति को जन्म दिया है जो एक प्रकार से हमारे समय, समाज के लिए एक अपसंस्कृति ही साबित हुई है।

इस प्रकार ‘रेहन पर रग्घू’ में भूमंडलीय अपसंस्कृति का ही यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक संबन्धों, मानवीय मूल्यों, नैतिकता आदि का ह्रास हुआ

है। इसने समाज की संरचना पर भी प्रहार किया है। जिससे टूटन और विघटन की स्थिति पैदा हो गयी है। आज संबन्धों का आधार सिर्फ़ पूँजी अर्थात् धन हो गया है। मानवीय संवेदनाएँ मृतप्राय हो चुकी हैं। करुणा, दया, ममता जैसी भावनात्मकता के लिए कोई स्थान नहीं बचा है। चारों ओर बाज़ारवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति दिखाई देने लगी है। समाज की इसी सच्चाई को काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में चित्रित किया है। अमेरिका के प्रति आकर्षण और वहाँ पर बसने की प्रवृत्ति आज इस कदर हावी होती जा रही है जिसकी वजह से व्यक्ति अपनी जमीनी संस्कृति से उखड़ता चला जा रहा है। उसके लिए रिश्तों की कोई अहमियत नहीं है उसे सिर्फ़ अपना भौतिक जीवन समृद्ध करना है। इस उपन्यास में 'रग्घू' अर्थात् 'रघुनाथ' मास्टर अपनी नई पीढ़ी को अमेरिका में बसते देख बहुत चिंतित होते हैं। वह मन ही मन सोचते हैं कि- "कभी सोचा था कि कभी ऐसे छोटे-से गाँव से लेकर अमेरिका तक फैल जाओगे? चौके में पीढ़ा पर बैठकर रोटी प्याज नमक खानेवाले तुम अशोक विहार में बैठकर लंच और डिनर करोगे।"[285] यह उपन्यास समकालीन समय के पारिवारिक जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करता है। आज का व्यक्ति सामाजिकता एवं नैतिकता के धरातल पर बहुत ही तुच्छ होता जा रहा है। जिससे सामाजिक संबन्धों की गरिमा धूमिल होती जा रही है। भूमंडलीकरण ने आज ऐसी संस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है। "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे - थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[286]

[285]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 13

[286]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 98

इस प्रकार से यह उपन्यास आज के समकालीन तथा भूमंडलीकृत होते समय तथा समाज का एक ऐसा जीवंत दस्तावेज़ है जिसमें भूमंडलीकरण के समय के समाज तथा समाज के लोगों की मनोदशा गहराई से चित्रित हुई है। साथ ही इसमें दलित समस्या, स्त्री समस्या तथा मजदूरों आदि की समस्या पर भी विचार किया गया है। आज के इस बाजारवाद ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा है। इसके लिए सभी मनुष्य सिर्फ़ एक उपभोक्ता मात्र हैं। यह एक ऐसा दौर है जिसमें संबन्धों, भावनाओं आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा है। 'रेहन पर रग्घू' बाज़ारवाद तथा बाज़ारवाद की इन्हीं साजिशों के प्रति हमें सचेत करता है। इसमें कथानायक रघुनाथ एक ऐसे ग्रामीण मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाई दे रहा है जो वर्तमान उदारवादी पूँजी के प्रलोभन और शहरी चकाचौंध से प्रभावित तो है लेकिन उसका अपने गाँव-घर के समाज एवं संस्कृति आदि से मोहभंग भी नहीं हो पा रहा है। रघुनाथ न तो अपने गाँव को छोड़ पा रहे हैं और न ही शहर को पूरी तरह से आत्मसात कर पा रहे हैं। रघुनाथ के भीतर चल रहे इस अंतर्द्वंद्व को हम देख सकते हैं – "वे गाँव से आजिज भी आ गए थे लेकिन उसे छोड़ना भी नहीं चाहते थे। मन शहर और कॉलोनी की ओर बहक रहा था– जीवन के नयेपन की ओर, साफ सुथरे पक्के मकानों और कोलतार पुती सड़कों की ओर, अनजाने नए संबन्धों की ओर। ये आकर्षण थे मन के लेकिन उधर जाने में हिचक भी रहा था मन।"[287] बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद के इस युग में पूँजी ने समूचे वैश्विक परिप्रेक्ष्य में न केवल राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन किये अपितु सामाजिक सम्बद्धता, पारिवारिक संबंध और मानवीय मूल्यों आदि को व्यापक स्तर पर प्रभावित भी किया है। वास्तव में भूमंडलीकरण और भूमंडलीकरण को संचालित करने वाली उन संस्थाओं जिनमें आई.एम.एफ़., विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन आदि का चरित्र केवल और केवल जोड़-तोड़ का है। अलगाववाद, क्षेत्रीयतावाद, सामाजिक भेदभाव, तुष्टिकरण के रूप में इनके पास अमोघ अस्त्र होते हैं, जिनको ये समय-समय पर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इस्तेमाल करते रहते हैं। जीवन के प्रति

[287]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 92

इस अतिशय भौतिकवादी जीवन-दृष्टि तथा अत्यधिक धन की चाह (पूँजीवादी प्रलोभन) और आपाधापी माहौल ने रघुनाथ के संतानों को एक ऐसी संस्कृति की ओर धकेल दिया है जिसकी वजह से उनका पूरा परिवार बिखराव की स्थिति में आ पहुँचा है। इससे रघुनाथ एकदम से लाचार और बेबस हो गए हैं। रघुनाथ अनायास ही अपनी पत्नी से कहते हैं- "शीला हमारे तीन बच्चे हैं लेकिन पता नहीं क्यों, कभी-कभी मेरे भीतर ऐसी हूक उठती है जैसे लगता है–मेरी औरत बाँझ है और मैं निःसंतान पिता हूँ।"[288]

भूमंडलीकरण के इस युग में सामाजिक परंपराओं की धार अब कुंद होने लगी है। विवाह जैसी संस्थाएँ एवं संस्कार महज़ औपचारिक मात्र रह गए हैं। बदलते हुए सामाजिक परिवेश में भूमंडलीकरण मनुष्य के संबन्धों से कैसे खिलवाड़ कर रहा है। इस बात को उपन्यासकार काशीनाथ सिंह बहुत अच्छी तरह से समझते हैं। रघुनाथ का बेटा संजय अमेरिका में नौकरी के दौरान अपनी पत्नी से किस तरह के विचारों को रखता है? एक उदाहरण दृष्टव्य है- "मैं तो डियर, परदेस को ही अपना देस बनाने की सोच रहा हूँ।....तुम भी क्यों नहीं ढूँढ लेती एक बॉयफ्रेंड।"[289] यहाँ पर संजय की अतिशय भौतिकवादी जीवन-दृष्टि उसे एक दम से संस्कारविहीन बना देती है। वह अपनी पत्नी को बॉयफ्रेंड बना लेने की सलाह दे रहा है। यह किसी भी दृष्टि से भारतीय संस्कृति का लक्षण नहीं है। यही नहीं संजय के लिए सिर्फ़ एक ही मक़सद है पैसा। इसी वजह से वह आरती गुर्जर से एक नया रिश्ता जोड़ लेता है और अपनी पत्नी सोनल से तलाक ले लेता है। सोनल यह बात भलीभाँति समझ रही थी। वह अपने मन में सोचने लगती है कि- "अमेरिका आने के बाद उसमें (संजय) तेज़ी से बदलाव आया है- एक दो सालों के अंदर! यह उसकी तीसरी नौकरी है! वह एक शुरू करता है कि दूसरी की खोज में लग जाता है- पहले से उम्दा, पैसों के मामलों में। उसमें सब्र नाम की चीज़ ही नहीं है। वह जल्दी से जल्दी ऊँची से

---

[288] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 89

[289] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 110

ऊँची ऊँचाइयाँ छूना चाहता है! जैसे ही एक ऊँचाई पर पहुँचता है, थोड़े ही दिनों में वह नीची लगने लगती है! इसे वह महत्वाकांक्षा बोलता है! अगर यही महत्वाकांक्षा है तो फिर लालच क्या है?"[290] इस प्रकार देखा जाए तो यह भौतिकवादी जीवन-दृष्टि और पूँजी या धन की अत्यधिक चाह ने ही संजय को इतना पतित भोगी बना दिया है। जिसके मन में दया, ममता, करुणा आदि के लिए कोई जगह ही नहीं बची है। संजय के कार्यों को हम किसी भी तरह से सही नहीं ठहरा सकते हैं। इस प्रकार यह उपन्यास समूचे भारतीय मध्यवर्ग के समाज की बिडंबना एवं विसंगति को चित्रित करता हिंदी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। जिसमें भूमंडलीकरण रूपी अपसंस्कृति का वास्तविक यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। यह उपन्यास सिर्फ़ भूमंडलीकरण के दौर में नष्ट होती मानव-सभ्यता एवं संस्कृति की ही पड़ताल नहीं करता अपितु इस अपसंस्कृति के भविष्य में होने संभावित खतरों के प्रति भी हमें आगाह करता है।

3.10 स्वर्णमृग (2012) गिरिराज किशोर

'स्वर्णमृग' प्रख्यात कथाकार गिरिराज किशोर का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'स्वर्णमृग' उपन्यास साइबर क्राइम पर केन्द्रित है। और यह साइबर जगत के अंदर तक की पड़ताल करता है। उपन्यास के आवरण पर यह लिखा है कि वैश्वीकरण की त्रासदी पर पहला मौलिक उपन्यास है। लेकिन इस पर डॉ॰ पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि- "साइबर क्राइम की दुनिया पर यह हिंदी का पहला उपन्यास जरूर है लेकिन पुस्तक के आवरण पर यह घोषणा (लेखकीय या प्रकाशकीय?) कि यह वैश्वीकरण की त्रासदी पर पहला मौलिक उपन्यास है, जल्दी हजम नहीं होती। इससे पहले भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति के प्रतिरोध में रवीन्द्र वर्मा, काशीनाथ सिंह, अलका सरावगी, राजू शर्मा वगैरह के उपन्यास आ चुके हैं। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, और निजीकरण रूपी अपसंस्कृति का प्रतिरोध इन

[290]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं.-110

सभी लेखकों ने अपनी रचनाओं में किया है। गिरिराज किशोर भी उन्हीं रचनाकारों में से एक हैं जो अपने उपन्यास 'स्वर्णमृग' के माध्यम से भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति को बहुत ही सटीक ढंग से रेखांकित करते हैं। इसमें वैश्वीकरण के ज्वलंत प्रश्न को, कथानायक 'पुरुषोत्तम' के माध्यम से उभारा गया है, और उसमें छिपे खतरनाक सत्य को उद्घाटित किया गया है।"[291]

उपन्यास के समर्पण में गिरिराज किशोर लिखते हैं कि- 'उन सबको जो इस वैश्वीकरण के स्वर्णमृग के भोजन बने, उनको भी जो अभी भी स्वर्णमृग का पीछा करने को उद्यत हैं।' अर्थात् वैश्वीकरण एक स्वर्णमृग है जो हमें लुभा रहा है। आज के अधिकांश लोग इस स्वर्णमृग को पाने की ख़ातिर हर वक्त उद्यत हैं। उपन्यास की भूमिका से लेकर उपन्यास के उपसंहार तक संपूर्ण कथा के सूत्र एक सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत हुए हैं। उपन्यास की समग्र कथा को 11 उपशीर्षकों या उप-अध्यायों में बाँटा गया है। उपन्यास के अध्याय क्रमश: इस प्रकार हैं- 'अंतर्वेदना', 'मंदी का व्यापार', 'उसका बयान', 'लालच की दलदल', 'राहत का भ्रम', 'घात-प्रतिघात', 'बातें ही बातें', 'नदी अनंत थी', 'झूठ-सच की नाव', 'आत्मवेदन', और 'उपसंहार'। "'स्वर्णमृग', यानी सोने का हिरन, बड़ा शातिर करिश्मा है प्रकृति का ! बाबा तुलसीदास ने कहा- 'निगम नेति जेहि ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा।' यानी उसके मायाजाल से मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक नहीं बच पाये ! वही स्वर्णमृग आज वैश्वीकरण के चोले में सारी दुनिया में घूम रहा है और बड़े-बड़े राजनेता-कूटनीतिज्ञ बेतहाशा भागे जा रहे हैं उसके पीछे।"[292] उपन्यास का नायक 'पुरुषोत्तम खुराना' अर्थात् पुरुषो इस वैश्वीकरण और ग्लोबलाइजेशन के बारे में अपने मित्र 'राघव' से कहता है कि- "हमारे वैश्वीकरण और उनके

---

[291]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, (उपन्यास के फ्लैप से)

[292]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, (उपन्यास के फ्लैप से)

ग्लोबलाइजेशन में अंतर है। वह धन की कील पर चक्कर काट रहा है, हमारे वैश्वीकरण का अर्थ है सबका एकीकरण यानी समता।"[293]

यह उपन्यास पाठक को इस (साइबर क्राइम) अपराध जगत की जड़ों तक ले जाता है। एक-एक कर यह इसके पूरे अंतर्जाल को और इसमें शामिल सभी लुटेरों की तहक़ीक़ात करता है। यह उपन्यास ऐसे ही साइबर अपराधियों के चंगुल में फँसे एक सीधे-साधे इंसान 'पुरुषोत्तम' द्वारा नासमझी में की गयी गलतियों का एक चिट्ठा है। 'पुरुषोत्तम' को उपन्यासकार 'पुरुषो' से संबोधित करता है। 'पुरुषो' को उसके ई.मेल पर एक मेल आता है कि आपकी ई.मेल आईडी ने एक मिलियन पौंड (दस लाख पौंड) का ईनाम जीता है। वह उसमें न चाहते हुए भी फँस जाता है। इस बात का जिक्र वह अपने सी. ए. से भी करता है। उसका सी. ए. इसके चक्कर में न पड़ने की सलाह देता है। उसका सी. ए. कहता है कि- "मैं आपको साफ़ बताऊँ कि यह वैश्वीकरण का जमाना है। यूरोप और अमेरिका की मंदी ने व्यक्तिगत रूप से भी धन कमाने की नई पद्धतियाँ निकाल ली हैं। पहले हुकूमत की ताकत के बल पर हम लोगों से पैसा छीनकर ले जाते थे। अब लालच और लफड़ेबाजी से ले जाना चाहते हैं"।[294] इन सब के होते हुए भी वह इसमें फँसता है और अपना सब कुछ लुटा देता है। 'पुरुषो' के लुटने की ही कथा है यह स्वर्णमृग उपन्यास, साथ ही भूमंडलीकरण के खतरों से भी आगाह करता है। आज आम आदमी भी बिना कुछ किए करोड़पति बनने का सपना पाल रहा है। इस 'इजी मनी' के चक्कर में ये लोग आसानी से साइबर क्राइम की दुनिया के दलालों (अपराधियों) के चंगुल में फँस भी जा रहे हैं। हाँ एक बात और है कि यह वह वर्ग है जो अपने पढ़े-लिखे और शिक्षित होने का दावा करता है। यानी कि पढ़ा-लिखा आधुनिक तकनीकी का जानकार इंटरनेट कामी वर्ग है। साइबर क्राइम करने वाले लोगों ने एक मायावी जाल फैला रखा है। इसमें तमाम मल्टीनेशनल कंपनियों के साथ-साथ कई ऐसे देशी-

[293]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,पृष्ठ सं. 15

[294]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,पृष्ठ सं. 34

विदेशी अँग्रेजीदां लोग डिप्लोमैट के नाम पर यह खेल खेल रहे हैं। इसी प्रकार के डेविड मूर जैसे डिप्लोमैट के चंगुल में या मूर के मायावी जाल में उपन्यास का नायक 'पुरुषो' भी होता है। दस लाख पौंड यानी इस स्वर्णमृग रूपी अकूत धनराशि के पीछे-पीछे वह भागता रहता है। जबकि उपन्यास के अंत में यह पता चलता है कि यह रुपया एँठने की सिर्फ़ साजिश थी। अंत में सब कुछ लुट जाने के बाद कथानायक 'पुरुषो' भूमंडलीकरण की कलई भी खोलता है। वह अपने पत्र में यह लिखता है कि- "मैं वैश्वीकरण के विकीरण के कुप्रभाव के इस कोढ़ से अपने लोगों को अपने अनुभवों के जरिये बचाना चाहता हूँ। वैश्वीकरण तीसरी दुनिया के लोगों के लिए आणविक विस्फोट के फाल आउट की तरह लगता है। आणविक विभाजन और वैश्वीकरण जुड़वा भाई की तरह हैं"।[295] यही नहीं 'पुरुषो' अपने लुटने की इस कथा को इतिहास से जोड़ कर देखता है। उपन्यास के अंत में वह कहता है कि- "ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत को लूटा तो किसके लिए बेईमानी थी, किसके लिए ईमानदारी? वैश्वीकरण का यह खेल जिसका प्रकारांतर से मैं हिस्सा बना, गलत, शिकार नहीं हिस्सा था, उसके लिए क्या मूर, क्या मिसेज़ शर्मा आदि ही जिम्मेदार थे या मैं, जिसने अपने को उस खेल का हिस्सा बनने दिया? क्या एक मिलियन पौंड कहीं थे या मैं रस्सी को सांप समझकर उसे पकड़ने दौड़ रहा था? क्योंकि दूसरों के दिखाने पर मैं रस्सी को उसी तरह देख रहा था जैसे वह दिखा रहे थे। भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा चश्मा विज्ञापन ही है, उसमें कई बार रस्सी सांप की शक्ल में लक़दक़ और रंगबिरंगी दिखाई जाती है। अमेरिकी हीरों को वे कोहिनूर की शक्ल में पेश करते हैं। उन्होंने यही किया और मैंने उसे असली समझा! क्या मुझसे रुपया छीना गया या मैंने उन्हें दिया? मेरे देने के पीछे मेरा लालच था जो मेरी आँखों पर केंचुली की तरह छा गया था।"[296]

[295]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 23

[296]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 110

इस प्रकार इस उपन्यास में सूचना एवं संचार क्रांति के नकारात्मक पहलू को दिखाया गया है। तकनीकी ने ही पुरुषों को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। डॉ. पुष्पपाल सिंह के शब्दों में- "उपन्यास साइबर क्राइम के लाटरी कांडों की असलियत की अच्छी पोल खोलता है। यह उस सत्य की ओर इंगित करता है कि वैश्वीकरण के इस युग में इंसानी रिश्तों को पीछे छोड़कर पैसे की ऐसी सुनामी आई है जिसमें बह जाने के लिए प्रोत्साहित करने की स्थितियाँ कदम-कदम पर प्रस्तुत हैं। उपन्यास आज के मनुष्य की इस त्रासदी को गहरी संवेदना से प्रस्तुत करता है।"[297]

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण की विभीषिका को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों में 'दौड़', 'कल्चर वल्चर' (ममता कालिया) 'सेज पर संस्कृत' (मधु कांकरिया), 'एक ब्रेक के बाद', 'कलि-कथा : वाया बाइपास' (अलका सरावगी) 'पासवर्ड' (कमल कुमार), 'शुद्धिपत्र' (नीलाक्षी सिंह), 'जिंदगी ई-मेल' (सुषमा जगमोहन), 'गुलाम मंडी' (निर्मला भुराड़िया), 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह), 'पाँच आँगनो वाला घर' (गोविंद मिश्र), 'धार', 'सावधान! नीचे आग है', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'फाँस' (संजीव), 'दस बरस का भँवर', 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा', 'आखिरी मंजिल' (रवींद्र वर्मा), 'विसर्जन', 'हलफनामे' (राजू शर्मा), 'एबीसीडी' (रवींद्र कालिया), 'हिडिंब' (एस. आर. हरनोट), 'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर), 'निर्वासन' (अखिलेश), 'मुन्नी मोबाइल', 'तीसरी ताली', 'देश भीतर देश' (प्रदीप सौरभ), 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश' (रणेन्द्र), 'जो इतिहास में नहीं है', 'पठार पर कोहरा', 'जहाँ खिले हैं रक्तपलाश', 'हुल पहाड़िया' (राकेश कुमार सिंह), 'रेड जोन' (विनोद कुमार), 'आदिग्राम उपाख्यान' (कुणाल सिंह),

[297]लेख- पीछा मृग मरीचिका का, डॉ. पुष्पपाल सिंह, http://aajtak.intoday.in/story/Novel-race-for-illusion-1-698182.html

‘ईधन’ (स्वयं प्रकाश), ‘डेंजर ज़ोन’, ‘रिले-रेस’ (बद्रीसिंह भाटिया), ‘उधर के लोग’ (अजय नावरिया), ‘दलित’ (विजय सौदाई), ‘गाँव भीतर गाँव’ (सत्यनारायण पटेल), ‘अकाल में उत्सव’ (पंकज सुबीर), ‘विघटन’ (जयनंदन), ‘नक्सल’ (उद्भ्रांत) आदि प्रमुख हैं। हालाँकि इन सभी उपन्यासों को शोध में शामिल कर पाना संभव नहीं था इसलिए इस शोध में सिर्फ़ उन्हीं उपन्यासों को सम्मिलित किया गया है जिनमें भूमंडलीकरण से उपजी तमाम प्रकार की समस्याओं और विसंगतियों की सशक्त ढंग से विवेचना हुई है। भूमंडलीकरण के प्रभाव की सशक्त ढंग से विवेचना करने वाले उपन्यासों में ‘गायब होता देश’, ‘ग्लोबल गाँव के देवता’, ‘जिंदगी ई-मेल’, ‘तीसरी ताली’, ‘दस बरस का भँवर’, ‘दौड़’, ‘फाँस’, ‘मुन्नी मोबाइल’, ‘रेहन पर रग्घू’, तथा ‘स्वर्णमृग’ आदि प्रमुख उपन्यास शामिल हैं।

अध्याय-4

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ

4.1 सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में

4.2 दिखावे के उपभोग की संस्कृति

4.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र विघटन

4.4 एकल परिवार व्यवस्था

4.5 सहजीवन प्रणाली

4.6 वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव

4.7 लोक संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता प्रसार

4.8 देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट

4.9 खान-पान व वेश-भूषा

4.10 धार्मिक स्थिति

अध्याय-4

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के विवेचन से पहले यह जानना आवश्यक है कि समाज क्या है? संस्कृति क्या है? तथा दोनों का एक दूसरे से संबंध क्या है? हिंदी शब्दकोश में 'समाज' शब्द का अर्थ है- समुदाय, दल, समूह, सभा, झुंड, गिरोह, समान कार्यकर्ताओं का समूह, संगठित संस्था, आयोजन आदि।[298] सामान्यत: बोलचाल की भाषा में समाज से आशय है 'मनुष्यों या व्यक्तियों का समूह'। इस प्रकार समाज बहुतायत लोगों का वह समूह है जिसमें सभी एक-दूसरे के साथ रहते हैं तथा इसकी प्रक्रिया में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। अरस्तू ने कहा भी है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' समाज से अलग रहकर वह न जीवित रह सकता है और न ही अपना स्वाभाविक विकास कर सकता है। लगभग यही मत सच्चिदानंद सिन्हा का भी है- "'जल में कुंभ कुंभ में जल है' इस रूपक का प्रयोग कबीर ने आत्मा और परमात्मा के रिश्ते जाहिर करने के लिए किया था। कुछ ऐसी ही बात मनुष्य और उसके समुदाय के पारस्परिक रिश्ते के बारे में भी कही जा सकती है। मनुष्य का जीवन उसके समुदाय के बाहर असंभव है। उसका भोजन, उसका आवास, उसके वस्त्र और उसकी शिक्षा सब कुछ समुदाय द्वारा निर्धारित और सुनिश्चित होते हैं। लेकिन मनुष्य का समुदाय भी मनुष्य द्वारा ही निर्मित होता है।"[299] इस प्रकार समाज या समुदाय वह संस्था है जिसमें रहकर मनुष्य सम्यक रूप से अपनी प्रगति अर्थात् उन्नति करते हैं। मनुष्यों का यह

---

[298] राजपाल हिंदी शब्दकोश, डॉ. हरदेव बाहरी, पृष्ठ सं. 805

[299] संस्कृति और समाजवाद, सच्चिदानंद सिन्हा, पृष्ठ सं. 63

विकास समाज की गतिशीलता को सूचित करता है कि समाज हमेशा स्थिर नहीं बना रहता है बल्कि यह गतिशील होता है। एक प्रकार से समाज अपने व्यापक अर्थ में आपसी संबंधों तथा अंत:क्रियाओं का एक जटिल जाल है। चूँकि समाज मनुष्यों से बना है। मनुष्य नाम के प्राणी ने ही उसका आविष्कार किया, और उसी मनुष्य नाम के प्राणी ने उस समाज को विकृत किया।....समाज के निर्माण में जो शक्तियां सहायक होती हैं, अनुशासन, विवेक, मर्यादा 'मैं' के ऊपर 'तुम' की वरीयता इनकी उपेक्षा करने से समाज बिखर जाता है, और एक दिन फिर भीड़ का रूप ले लेता है।[300] वास्तव में समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल ही है। समाज में ही रहकर मनुष्य को अच्छे-बुरे, नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ, आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। समाज में रहकर तथा समाज के ही साथ चलकर मनुष्य अपना तथा साथ ही साथ समाज का भी विकास करता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के अपने-अपने दायित्व होते हैं। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय जी के शब्दों में- "समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है। समाज जितना कम विकसित हो, उतना ही वह दायित्व अधिक स्पष्ट और अनिवार्य होता है।"[301] समाज और संस्कृति एक दूसरे से अलग नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। जहाँ तक संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है तो यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' 'कल्चरा' से उत्पन्न हुआ है जिसका प्रथम अर्थ होता है 'खेती करना'। इसका दूसरा अर्थ होता है 'सम्मान करना' या 'रक्षा करना'।

उन्नीसवीं सदी के यूरोप में संस्कृति का अर्थ आदतों, रीति-रिवाजों, संस्कारों आदि से लगाया जाता था, विशेषकर अभिजनों के संदर्भ में भारत में भी प्राय: पढ़े-लिखे और पारस्परिक संस्कारों वाले व्यक्तियों को 'सुसंस्कृत' कहा जाता है और यह अकारण नहीं है कि सांस्कृतिक कार्यों में निपुण

---

[300]संस्कृति क्या है?, विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ सं. 56

[301]साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ सं. 43

व्यक्तियों को 'संस्कृति पुरुष' कहा जाता है जैसे कुछ व्यक्तियों को 'विकास-पुरुष' कहा जाता है।[302] यह संस्कृति व्यक्ति या समाज को परिष्कार करना व व्यवहार करना सिखाती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है कि- "संस्कृति सिर्फ भाषा के माध्यम से ही नहीं बल्कि अनेक दूसरे सामाजिक अनुष्ठानों, कलाओं आदि की सूचनाओं के संप्रेषण के आधार पर लोगों की भावनाओं और व्यवहारों को दिशा देती है।"[303] 'संस्कृति' शब्द का कोशगत अर्थ होता है- "संस्कृत रूप देने की क्रिया, परिष्कृति, संस्कार, अलंकृत करना या सजाना, आचरणगत परंपरा।"[304] डॉ. सुभाष शर्मा अपनी पुस्तक 'संस्कृति और समाज' की प्रस्तावना में लिखते हैं कि- "भारत में संस्कृति जीवन की छाया प्रति नहीं होती, बल्कि जीने की शैली होती है। हम जिस ढंग से शब्दों का उच्चारण करते हैं जो कुछ खाते-पीते हैं जो कुछ पहनते हैं, जिस प्रकार का घर बनाकर सजा-सँवारकर रहते हैं, जिस तरह की आदतें और शौक पालते हैं, जो रीति-रिवाज और उत्सव-त्योहार मनाते हैं, उन सबका आधार संस्कृति होती है। संस्कृति हमारे तन-मन का परिष्कार करती है।"[305] संस्कृति मनुष्य को सुव्यस्थित सामाजिक व्यवहार का ज्ञान प्रदान करती है। मनुष्य या व्यक्ति समाज में रहकर ही अपनी संस्कृति के अनुसार जीवन जीता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक गुणों से युक्त मनुष्य को उसका आचरण तथा व्यवहार, उसका स्पष्ट एवं स्वच्छ चरित्र, उसकी अहं त्याग की भावना, तथा उसकी सहयोगी प्रवृत्ति ही उसे संस्कारवान तथा सुसंस्कृति का पोषक बनाती है। सच्चिदानंद सिन्हा के अनुसार- "संस्कृतियों की संरचना का तानाबाना भी मनुष्यों के पारस्परिक संप्रेषण पर पूरी तरह निर्भर है और अगर संप्रेषण बाधित हो जाये तो इनका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायेगा।...मानव संस्कृतियाँ भी मनुष्यों को अनुप्राणित करने वाली सूचनाओं के ऐसे ही पुंज होती हैं जो मानव व्यवहारों को आनुवांशिकी से प्राप्त

---

[302]संस्कृति और समाज, सुभाष शर्मा, पृष्ठ सं. 9

[303]संस्कृति और समाजवाद, सच्चिदानंद सिन्हा, पृष्ठ सं. 26

[304]राजपाल हिंदी शब्दकोश, डॉ. हरदेव बाहरी, पृष्ठ सं. 794

[305]संस्कृति और समाज, सुभाष शर्मा (पुस्तक की प्रस्तावना से साभार)

सूचनाओं के अतिरिक्त और कभी-कभी इसके विपरीत भी, ऐसे दबाव बनाये रखती हैं जिससे मनुष्य सामाजिक जीव की हैसियत से विविध भाँति के कार्य और व्यवहार करते हैं।"[306] सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय जी के शब्दों में- "चरित्र, संस्कार, 'मैं' को जीतना- यही संस्कृति है।"[307] डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय 'भूमंडलीकरण और संस्कृति' लेख में संस्कृति को एक अमूर्त संरचना मानते हैं। तथा संस्कृति को समझाते हुए लिखते हैं कि- "क्या कोई साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, वस्तु, नृत्य, अभिनय अर्थात् सर्जनात्मक प्रवृत्ति; सौंदर्यबोध; धर्म-संप्रदाय, आचार-विचार, दर्शन, जीवन-मूल्य, जीवन-व्यापार और सामाजिक, मनोवैज्ञानिक संबंधों से अर्थात् समग्र जीवन-बोध से विरत हो सकता है? संस्कृति इन्हीं सबकी समन्वित अभिव्यक्ति ही तो है। संस्कृति कोई जड़ पदार्थ नहीं, अनवरत गतिशील चेतना है।"[308] 'समाज' और 'संस्कृति' के विषय में बहुत सटीक टिप्पणी सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय जी की है- "यों तो समाज एक स्थूल संरचना भी है और एक अमूर्त भाव संरचना भी, लेकिन जब हम समाज बदलने की बात सोच रहे होते हैं, तो उसकी स्थूल संरचना ही हमारे सामने होती है और संबंधों को बदलने की बात करते हुये हम उसी संरचना के अंत:संबंधों को बदलने की बात कर रहे होते हैं। यही बात बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है।"[309] इस प्रकार 'समाज' एवं 'संस्कृति' में घनिष्ठ संबंध है तथा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है तथा किसी समाज के आचार-व्यवहार ही एक लंबे समय के बाद संस्कृति का रूप ले लेते हैं। डॉ. सुभाष शर्मा 'संस्कृति और समाज' पुस्तक में लिखते भी हैं कि- "संस्कृति किसी मानव-समाज में एक लम्बे कालखंड में निर्मित होती है क्योंकि मनुष्य अपनी जीवन-शैली में

---

[306]संस्कृति और समाजवाद, सच्चिदानंद सिन्हा, पृष्ठ सं. 20

[307]साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, (पुस्तक की भूमिका से)

[308]साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, (में संकलित लेख- भूमंडलीकरण और संस्कृति, प्रभाकर श्रोत्रिय) संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ सं. 440

[309]साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ सं. 35

विभिन्न आयामों को परिष्कृत करता रहता है। यह संस्कृति ही है जो मनुष्य को समाज के नियमों और मूल्यों को स्वत: अपनाने की प्रेरणा देती है, क्योंकि इसका मौलिक गुण समरसता स्थापित करना होता है।... यह एक ओर परम्पराओं को चालू रखना चाहती है तो दूसरी ओर आधुनिकता की लहरों को भी शनै: शनै: स्वीकार करती है। अस्तु, यह कई परम्पराओं को काटती, छांटती और बदलती रहती है।"[310] मनुष्य समाज और संस्कृति तीनों के संबंधों के विषय में डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय लिखते हैं कि- "मनुष्य संस्कृति का सहारा लेता है क्योंकि संस्कृति मनुष्य को जोड़ती है, किसी भी तरह तोड़ती नहीं क्योंकि वह दूसरे के जीने की प्रेरणा में से रूप लेती है। संस्कृति में किसी परलोक और उसके अधिष्ठाता के लिए स्थान नहीं है। उसकी आँखें निखूट इसी धरती पर लगी हैं और वह विशुद्ध सामाजिक है।"[311] वास्तव में संस्कृति सामाजिक ही होती है। संस्कृति का निर्माता स्वयं मनुष्य ही है। संस्कृति परिवर्तनशील होती है। लेकिन संस्कृति में परिवर्तन या विकास तुरंत नहीं होता है। बल्कि संस्कृति में परिवर्तन एवं विकास एक लंबे समय के पश्चात् ही दिखाई देता है। परिवर्तन और विकास के इस क्रम में संस्कृति की प्रवृत्ति हमेशा परिष्कार की रही है। यह नए-नए अधुनातन मूल्यों को हमेशा आत्मसात करती रहती है जो सदैव मानव-हितकारी होते हैं। इस प्रकार समाज और संस्कृति एक दूसरे से अलग नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध है।

समाज तथा संस्कृति को जानने के बाद अब यह जानना अति महत्वपूर्ण है की सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ क्या होता है? सर्वप्रथम यथार्थ शब्द को समझते हैं। 'यथार्थ' शब्द का अर्थ होता है- ठीक, वाज़िब, उचित, तथा जैसा होना चाहिए, वैसा। अर्थात् 'यथार्थ' का शाब्दिक अर्थ हुआ यथा (अव्यय) + अर्थ यानी जैसा है वैसा अर्थ। 'यथार्थ' शब्द के लिए अंग्रेजी में 'Reality' (रियलिटी) शब्द प्रचलित है। 'यथार्थ' का सामान्य अर्थ होता है उचित, वाज़िब, असली, जैसा होना

---

[310]संस्कृति और समाज, सुभाष शर्मा, (पुस्तक के फ्लैप से साभार)

[311]संस्कृति क्या है?, विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ सं. 18

चाहिए, वैसा आदि। 'यथार्थ' और 'यथार्थवाद' में कुछ मूलभूत अंतर है। 'यथार्थवाद' दो शब्दों से मिलकर बना है 'यथार्थ' और 'वाद'। जहाँ पर 'यथार्थ' शब्द का अर्थ होता है- जैसा होना चाहिए, वैसा और 'वाद' शब्द का अर्थ होता है- अनुकरण करना या उस मार्ग पर चलना या सिद्धांत। इस प्रकार 'यथार्थवाद' से आशय है- जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही यथातथ्य वर्णन करना। साहित्यिक शब्दों में कहें तो जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है; पर इसका कलात्मक अभिव्यक्तिकरण यथार्थवाद है।

'यथार्थवाद' मूलत: दर्शन के क्षेत्र का शब्द है, जहाँ से इसे साहित्य व कला के क्षेत्र में ले लिया गया है। हिंदी में 'यथार्थवाद' अंग्रेजी के 'रियलिज़्म' (Realism) के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होता है। 'यथार्थ' और 'यथार्थवाद' एक दूसरे के पूरक हैं। 'यथार्थवाद' का प्रयोग साहित्य में आदर्शवाद एवं स्वच्छंदतावाद के विपरीत अर्थों में किया जाता है। जो साहित्यकार मानव-जीवन एवं समाज का संपूर्ण तथा वास्तविक चित्र उपस्थित करता है और अपने साहित्य का विषय वायवी-जगत से न चुनकर वास्तविक जगत से चुनता है, वह यथार्थवादी कहलाता है। वस्तुत: 'यथार्थवाद' यथार्थ की आधारभूमि पर खड़ा किया हुआ जीवन का जीवंत चित्र है। जयशंकर प्रसाद 'यथार्थवाद' को 'जीवन के दुख और अभावों' का उल्लेख मानते हैं; आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'यथार्थवाद' का संबंध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत से जोड़ते है; शिवदान सिंह चौहान इसे 'निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता का प्रतिबिंब' स्वीकार करते हैं तथा प्रेमचंद 'यथार्थवाद' को चरित्रगत दुर्बलताओं, क्रूरताओं और विषमताओं का नग्न चित्र मानते हैं।[312] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- ''यथार्थवाद शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। साहित्य में यथार्थवाद का प्रयोग नए सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियेलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। 'यथार्थवाद'

[312]हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृष्ठ सं. 285

का मूल सिद्धांत है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना।"[313] इस प्रकार से 'यथार्थ' मानव जीवन की वह सच्ची अनुभूति है जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन में घटित होने वाली घटनाओं एवं भावनाओं का अनुभव करता है। यथार्थ सदैव समाज से जुड़ा रहता है। यथार्थ अपने समय तथा समाज की वह सच्चाई है जिससे कोई भी साहित्य या साहित्यकार बच नहीं पाया है। थोड़ा या बहुत लगभग सभी ने इसे अपने-अपने साहित्य में चित्रित किया है। हिंदी साहित्य के मध्यकाल में कबीरदास में यथार्थ का चित्रण देखा जा सकता है। कबीर से थोड़ी कम मात्रा में ही सही लेकिन तुलसीदास के यहाँ भी यथार्थ का चित्रण मिलता है। रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड तथा विनयपत्रिका के कुछ पद इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो साहित्य का यथार्थ से बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है।

'सामाजिक यथार्थवाद' का अर्थ होता है- "समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ या वास्तविक चित्रण। 'सामाजिक यथार्थ' के अंतर्गत पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपताएँ तथा उनसे युद्ध करती नवीन शक्तियों के दुख-दर्द सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था-ये सारी बातें मिले-जुले में आती हैं।"[314] डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार- "सामाजिक यथार्थवाद का अर्थ होता है समाज की वास्तविक अवस्थाओं का यथार्थ चित्रण। परंतु साहित्य के अंदर किसी भी वस्तु का चित्र उतार कर रख देना कठिन होता है क्योंकि साहित्यिक चित्र कैमरा द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता है, बल्कि वह साहित्यकार की सूची के द्वारा चित्रित किया गया ऐसा चित्र है जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुंदर रंग ढले होते हैं। सामाजिक विषमताओं, भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रांत, पीड़ित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है। सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार समाज और व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों उसके प्रत्येक आचार-विचारों तथा उसकी

---

[313]हिंदी साहित्य, डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ सं. 27

[314]हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृष्ठ सं. 128

राष्ट्रीय, आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर करता है। वह केवल समाज जैसा है, वैसा ही उसका वर्णन मात्र नहीं कर देता, बल्कि उसको इस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे पाठक युग के सत्य एवं समाज में होने वाले कार्यव्यापारों के औचित्य तथा अनौचित्य को सरलता से परख सकें और उन मर्यादाओं का अनुकरण कर सकें, जिस पर चलकर एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।"[315] प्रत्येक युग का जीवंत साहित्य अपने युग के सामाजिक संबन्धों और जन-विश्वासों को व्यक्त करता है। वह युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओं को चित्रित करता है।[316] साहित्य एक प्रकार से समाज, संस्कृति और मनुष्यों की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन का ही रेखांकन करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि- "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ कि जनता कि चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।.... जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है।"[317]

आज भूमंडलीकरण के इस दौर में पूँजीवादी व्यवस्था या बाजारवाद मानव तथा उसके द्वारा निर्मित समाज तथा संस्कृति को बहुत ही तीव्र गति से प्रभावित कर रहा है। दुनिया के सभी देश इस मायावी बाज़ार और पूँजीवादी व्यवस्था से प्रभावित हो रहे हैं। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा है। भारत पर इस वक्त भूमंडलीकरण का ऐसा नशा सवार है जिसने उसके सारे मूल्य, मानक, मिथक, यहाँ तक की स्वदेश की अखंडता और आत्माभिमान भी खरीद लिया है।.... बाज़ारवाद या उपभोक्तावाद के चलते प्रकृति से हमारे संबंध लड़खड़ा गए हैं। प्रकृति हमारे लिए आदर, प्रेम, और रक्षा की वस्तु

---

[315]हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, प्रो. त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ सं. 17

[316]हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृष्ठ सं. 128

[317]हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, (पुस्तक के काल विभाग से साभार)

थी। आज वह प्रदूषित की जा रही है, बड़े-बड़े खेतों पर माल, बहुमंजिला इमारतें और उद्योग खड़े किए जा रहे हैं। कारखानों की विषाक्त तरलता नदियों को प्रदूषित कर रही है। भाँति-भाँति की गैसों से वायुमंडल दूषित हो चुका है। नतीजे में तरह-तरह के रोग जन्म ले रहे हैं, प्रकृति का संतुलन बिगड़ गया है, ऋतुएँ अपना स्वभाव तेजी से भूलने लगी हैं।...भूमंडलीकरण में सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय का मानवीय सिद्धांत जीवित रहने की कोई गुंजाइश नहीं है। हम जानते हैं कि सारी औद्योगिक प्रक्रिया केवल बीस प्रतिशत जनसंख्या के वैभव, विलास और उत्कर्ष में लगी है।[318] पाश्चात्य संस्कृति या यों कहें अपसंस्कृति का असर भारतीय संस्कृति पर बहुत तेजी से हो रहा है। इस अपसंस्कृति के विषय में श्री सुभाष शर्मा अपनी पुस्तक 'संस्कृति और समाज' में लिखते हैं कि- "इन दिनों विभिन्न संस्कृतियों के मेल-जोल और उपभोक्तावाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति में अनेक दूषित तत्व प्रवेश कर गये हैं। ऐसे में विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण सुखद व हितकारी तभी हो सकता है जब उनके लिए समान भावभूमि निर्मित हो।"[319] हालाँकि भूमंडलीकरण के साम्य पक्ष भी हैं और वैषम्य पक्ष भी। लेकिन इसके वैषम्य पक्ष का प्रभाव कुछ ज्यादा दिखलाई पड़ता है। भूमंडलीकरण के कारण भारतीय सामाजिक जीवन का विघटन बहुत तेजी से हो रहा है। हमारे धार्मिक जीवन, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन एवं राजनीतिक जीवन में यह परिवर्तन या विघटन प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने लगा है।

भूमंडलीकरण एक प्रकार से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कहें तो राजनीतिक बदलाव का प्रमुख कारण है, यह हमें किसी न किसी प्रकार से प्रभावित जरूर कर रहा है। यह हमारे जीवन के आंतरिक तथा वाह्य दोनों पक्षों को प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का इतना प्रभाव

---

[318]भाषा साहित्य और संस्कृति, (पुस्तक में संकलित लेख- भूमंडलीकरण और संस्कृति, प्रभाकर श्रोत्रिय) संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ सं. 443-445

[319]संस्कृति और समाज, सुभाष शर्मा, (पुस्तक के फ्लैप से साभार)

हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देश का साहित्यकार चिंतित है। भारतीय साहित्य और खास तौर से हिंदी साहित्य को देखें तो 1990 के बाद का लगभग समस्त हिंदी साहित्य इससे प्रभावित दिखता है। कविता, कहानी, तथा उपन्यास में वैश्वीकरण के प्रभाव विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। नए-पुराने लेखक व कवि सभी विद्वान आज भूमंडलीकरण द्वारा उपजी परिस्थिति से विचलित और प्रभावित होकर इसे अपनी कविता तथा अन्य विधाओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, आदि के द्वारा विश्लेषित तथा चित्रित कर रहे हैं। फिर उपन्यास तो सम्पूर्ण जीवन का अंकन करता है। अतः यह तय है कि इसमें भूमंडलीकरण का प्रभाव अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक हुआ होगा। वास्तव में यदि देखा जाए तो समस्याओं के चित्रण में उपन्यास एक शक्तिशाली विधा है। इसमें किसी घटना या वस्तु का विस्तार और गहराई के साथ विवेचन किया जा सकता है। प्रसिद्ध आलोचक परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार- "साहित्य की विधाओं में उपन्यास ही वह महत्वपूर्ण विधा है जिसमें मनुष्य की समाज, परिवेश तथा इतिहास में स्थिति अपनी तमाम जटिलताओं के साथ प्रकट होती है। साहित्य के समाजशास्त्रियों की दिलचस्पी यदि साहित्यिक विधाओं में सबसे अधिक 'उपन्यास' के प्रति है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। हिंदी उपन्यास अपनी सार्थकता जहाँ पहुँचकर प्रेमचंद के गोदान-जैसे उपन्यास में उपलब्ध करता है, उसका महत्व अलग से बताने की जरूरत नहीं।"[320] उपन्यास की इसी महत्ता के विषय में आलोचक रामदरश मिश्र लिखते हैं कि- "उपन्यास का स्वरूप इतना शक्तिशाली इसलिए है कि उसमें साहित्य की सारी विधाओं की छवियों को सन्निहित कर लेने की शक्ति है। उपन्यास में कथा तो है ही, साथ-ही-साथ अवसर-अवसर पर वह काव्य की-सी भावुकता और संवेदना जगाकर पाठकों को अपने में तल्लीन करता है, प्रकृति और प्रकृत्येतर दृश्यों और रूपों की योजना का सौन्दर्य जगाता है। इसमें निबंध की-सी चिंतन-मूलकता भी है। लेखक स्वयं निबंधकार की

[320]उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास, परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ सं. 54

तरह प्रश्नों से ऊपर विचार करता चल सकता है। चरित्रों का विश्लेषण कर सकता है यानी वह स्वयं उपन्यास से संपृक्त और असंपृक्त दोनों रह सकता है। ... नाटक, काव्य, कहानी या निबंध की तरह उपन्यास के विस्तार की कोई सीमा नहीं बाँधीं गयी है। वह जितना चाहे फैल सकता है और संगठित रूप से जीवन की जितनी भी व्यापकता चाहे समेट सकता है। अत: उपन्यास निश्चय ही आधुनिक काल की एक बहुत शक्तिशाली और जनप्रिय विधा है।"[321] इसलिए हिंदी उपन्यास के सन्दर्भ में भूमंडलीकरण और भूमंडलीकरण के सन्दर्भ में हिंदी उपन्यास का विवेचन अनिवार्य हो जाता है।

वस्तुतः मुख्य रूप से भूमंडलीकरण के विविध-आयाम सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ही हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति जो कि भूमंडलीकरण के फलस्वरूप ही उपजी है, इसने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को सबसे ज़्यादा प्रभावित किया है। आज धीरे-धीरे भौतिक संस्कृति शहरी तथा ग्रामीण जीवन में इस प्रकार हावी होती जा रही है कि इसकी परिणति चारो ओर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी हैं, जैसे- नैतिकता का पतन, सामाजिक संबंधों का ह्रास, क्षेत्रीयता, दूषित राजनीति, नशाखोरी की प्रवृत्ति, जिगालो संस्कृति, समलैंगिकता, चारित्रिक पतन, भ्रष्टाचार, अपराध, जातिवाद, अस्पृश्यता, सांप्रदायिकता आदि। इस प्रकार के परिवर्तन या विघटन की ज़िम्मेवार भूमंडलीकरण के दौर में अत्यंत तीव्र गति से बदली हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ ही रही हैं। आज भूमंडलीकृत विश्व की सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ एकदम से बदल गयीं हैं। यह परिवर्तन या बदलाव समाज के साथ-साथ साहित्य में भी दिखाई देता है। इस परिवर्तन या बदलाव का ही परिणाम है कि पिछले तीन-चार दशकों के साहित्य तथा साहित्यिक विधाओं का स्वरूप ही बदल गया है। हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास विधा के स्वरूप व शिल्प पक्ष में व्यापक बदलाव आया है, इसका शैल्पिक

[321]हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृष्ठ सं. 14

ढाँचा लगभग पूरी तरह बदल गया है। इसलिए सर्वप्रथम यहाँ भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ को भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में विवेचित किया जा रहा है। जिनमें मुख्य रूप से सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में, दिखावे के उपभोग की संस्कृति, संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र विघटन, एकल परिवार व्यवस्था, सहजीवन प्रणाली, वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव, लोकसंस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता हुआ प्रसार, देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट, खान-पान तथा वेषभूषा आदि में आए बदलाव शामिल हैं।

4.1 सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में

आज मोबाइल और इंटरनेट की दुनिया ने हमारी जिंदगी को एक आभासीय दुनिया में तब्दील कर दिया है। आभासीय यथार्थ जिसे अंग्रेजी में ‘वर्चुवल रियलिटि’ के नाम से जाना जाता है। यह ‘वर्चुवल रियलिटि’ या आभासीय यथार्थ वह अनुभव होता है, जिसे जिसे हम किसी तकनीक के माध्यम से टेलीविज़न या किसी फ़िल्म को देखते हुए ग्रहण करते हैं। इस तकनीक में किसी भी चीज़ का हक़ीक़त जैसा अनुभव होता है लेकिन वह वास्तविक नहीं होता है। इसमें हमें ऐसा अहसास होता है कि हम उस जगह मौजूद हैं, जहाँ पर अमुक घटना घटित हो रही है। इस आभासीय यथार्थ या ‘वर्चुवल रियलिटि’ में तकनीकी (इंटरनेट, कंप्यूटर सॉफ्टवेयर तथा मोबाइल आदि) का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ ही फेसबुक, व्हाट्सप, ट्विटर, जी-मेल आदि सोशल साइटों की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह एक प्रकार से इस आभासीय दुनिया के प्रमुख विस्तारक सिद्ध हुए हैं। इन सोशल साइटों के माध्यम से जो संबंध बनते हैं वह एक तरह से आभासीय और छद्म मित्रता होती है। हालाँकि यह सब भूमंडलीकरण, सूचना व संचार तकनीकी और बाजारवाद का ही नतीजा है। भूमंडलीकरण के इस आधुनिक यांत्रिक युग में आज सामाजिक यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया है।

अभय कुमार दुबे के अनुसार- "भूमंडलीकरण को समझना बहुत मुश्किल साबित हुआ है।....वह यथार्थ होते हुए भी आभासी है, जिसे समझने के लिए अनगिनत शब्द खर्च किए जा चुके हैं, लेकिन नतीजे में सिर्फ ऐसी साइबर यात्रा हासिल हुई है जिसकी दुनिया इंटरनेट में कैद होने के बाद भी निराकार हो कर पकड़ से बाहर चली जाती है।"[322] इस प्रकार से देखा जाए तो आज का सामाजिक याथार्थ एक आभासीय यथार्थ में परिणत हो चुका है। पिछले 20-25 वर्षों में यह बदलाव बहुत ही तीव्र-गति से हुआ है। भूमंडलीकरण और सूचना तथा संचार क्रांति ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। मोबाइल, इंटरनेट, कंप्यूटर, फ़ेसबुक, ट्विटर आदि के माध्यम से जो संबंध बनते हैं वह वास्तविक यथार्थ नहीं होते हैं बल्कि वह हमें अपने वास्तविक परिवेश से काटते हैं। यह जो पर्दे का यथार्थ निर्मित हुआ है वह तकनीकी के कारण संभव हुआ है। इसमें मीडिया तथा विज्ञापन जगत की भी महती भूमिका है। मीडिया तथा विज्ञापन ने युवाओं की सोच में बदलाव ला दिया है। आज का युवा पर्दे के यथार्थ की नकल करता है। कभी विज्ञापन देखकर तो कभी फ़िल्म इंडस्ट्री के नायकों और खलनायकों को देखकर।

भूमंडलीकरण, सूचना व संचार-क्रांति के इस दौर में लोग इस आभासीय दुनिया के दीवाने बनते जा रहे हैं। आभासीय दुनिया के प्रति बढ़ती इस दीवानगी के भयंकर दुष्परिणाम भी हमारे सामने आ रहे हैं। आज सामाजिक यथार्थ का यह बदलाव जिस आभासीय यथार्थ के रूप में हो रहा है वह हमारे भविष्य के लिए कोई अच्छा संकेत नहीं है। मोबाइल, कंप्यूटर तथा संचार साधनों का एक सीमा तक उपयोग ठीक है लेकिन इसका आवश्यकता से अधिक इस्तेमाल हमारे लिए एक भयावह ख़तरे की वजह भी बन रहा है। इस प्रकार से देखा जाए तो हमारी जीती जागती दुनिया में इस आभासीय दुनिया ने प्रवेश कर लिया है और हमें अपने मायाजाल में इस कदर फँसा लिया है कि हम चाहकर भी

[322]भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, पृष्ठ सं. 26

उससे बाहर नहीं निकल सकते हैं। इंटरनेट जहाँ दुनिया के लोगों को समेट कर करीब ला रहा है। वहीं पर यह हमारे प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को खत्म भी कर दे रहा है। आज सभी इस आभासीय दुनिया में इतने मस्त रहने लगे हैं कि उन्हें वास्तविक दुनिया से कोई मतलब ही नहीं रह गया है। आज की युवा पीढ़ी इंटरनेट और मोबाइल की आभासीय (वर्चुवल) दुनिया में अपना बहुमूल्य समय नष्ट कर दे रही है। 'दौड़' (ममता कालिया) उपन्यास में 'सघन' भी कंप्यूटर और इंटरनेट की दुनिया का दीवाना रहता है। उसका ज़्यादातर उसका समय ऐसे दोस्तों के घर बीतता जहाँ कंप्यूटर होता। 'स्वर्णमृग' उपन्यास का कथानायक 'पुरुषोत्तम खुराना' इसी आभासीय दुनिया के विषय में अपने मित्र राघव से कहता है कि- "आई टी की यह दुनिया पाप में भी अपना सानी नहीं रखती और गुणवत्ता में भी सबको पीछे छोड़ देती है।....हाँ, इस देश के 80 प्रतिशत लोगों के लिए दुनिया मायावी ही है। इसकी कुंजी अंग्रेजी और उस दुनिया के पास है जिसे विदेशी, सभ्य मानकर, अपनी दुनिया का हिस्सा मानते हैं। और लूटते हैं। यह सैकड़ों साल से होता आ रहा है।.....सामंतवाद की लंबी परंपरा है। वैश्वीकरण ने उसे उधार लेकर हमें पूँजी वाद के नाम से मौरूसी कर दी है।"[323] वह आगे कहता है कि- "ये फ़ोन, इंटरनेट ही तो बरबादी के संदेशवाहक हैं। यह सब कानों में अपने मधुर बैन घोलकर सदा के लिए जीवन सोख लेते हैं। पेड़ सूखते-सूखते खंखर हो जाता है, पेड़ को आभास भी नहीं होता।"[324] इस आभासीय दुनिया ने लोगों के जीवन जीने की पद्धति ही बदल दी है। आज के इस तकनीकी आधारित बाजारवादी दौर में वास्तविक रिश्तों-नातों की जगह आभासीय रिश्तों ने ली है। 'स्वर्णमृग' उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार गिरिराज किशोर लिखते हैं कि- "अब दुनिया आगे बढ़ गई। खाने, पीने की बात पीछे छूट गई, अब तो कहने सुनने से ही काम चल जाता है। यह वैश्विक सभ्यता दो ही बातों

[323]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं.18

[324]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 19

में ज़रखेज रखती है, बातों के बाग-बगीचे उगाने में और जगते जगते सपने सजाने में। शक्ल भी सामने नहीं होती, बस स्क्रीन होती है और कल पुर्ज़े होते हैं।"[325]

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में इस आभासीय यथार्थ का चित्रण बहुत सटीक रूप में हुआ है। जिनमें 'जिंदगी ई-मेल', (सुषमा जगमोहन) 'दस बरस का भँवर', (रवीन्द्र वर्मा) 'दौड़', (ममता कालिया) 'मुन्नी मोबाइल', (प्रदीप सौरभ) तथा 'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) आदि उपन्यास प्रमुख हैं।

'जिंदगी ई-मेल' उपन्यास में उपन्यास की नायिका तनु विदेश (कनाडा) में रहकर एक आभासीय जीवन ही तो जी रही है। हर रोज वह अपने पति दीप व घर की खबर सिर्फ़ मोबाइल फ़ोन और कंप्यूटर, इंटरनेट, ई-मेल आदि के माध्यम से ही प्राप्त करती है। यह उपन्यास एक पति-पत्नी और बेटों के कम्प्यूटर और ई-मेल पर हुए पत्र-व्यवहार का संग्रह है। इसमें एक पत्नी के विदेश में होने और एक पति के स्वदेश में रहते हुए दोनों पति-पत्नी के बीच जो संबंध का जरिया है वह है कंप्यूटर और मोबाइल। इसी ई-मेल और मोबाइल के माध्यम से दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख को एक-दूसरे से साझा करते हैं। पति-पत्नी रोज की खबर ई-मेल के जरिये एक-दूसरे को प्रेषित करते रहते हैं। कंप्यूटर और मोबाइल की यह आभासीय दुनिया उन्हें एक-दूसरे के करीब होने का एहसास कराती है लेकिन हकीकत में दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर हो गए हैं। उपन्यास के नायक दीप की नायिका तनु से बात-चीत सिर्फ़ कंप्यूटर और मोबाइल के द्वारा ही होती है। "दीप के दिल्ली आने के बाद तनु से कई बार फोन पर बात हुई। और तकरीबन हर रोज ई-मेल के जरिये।"[326] इस कथन से उपन्यास के शीर्षक का अंदाज़ा सही तरीके से लगाया जा सकता है कि- इनकी जिंदगी जैसे ई-मेल हो गई है। संबंधों की बुनियाद इस सूचना संक्रांति पर टिकी हुई है। जिसमें एक-दूसरे के दुख दर्द को सिर्फ़ यहाँ ई-मेल,

---

[325]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 10

[326]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 12

मोबाइल आदि के जरिये जाना जा सकता है लेकिन किया कुछ नहीं जा सकता है। हम सिर्फ़ एक-दूसरे को सलाह मशविरा आदि ही दे सकते हैं हम प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे की कोई मदद नहीं कर सकते। यह सूचना और संचार तकनीकी के आभासीय यथार्थ का युग है। जहाँ पर वास्तविकता कुछ और है और हमें दिखाई कुछ और दे रहा है। आज लगभग सारे संबंध रिश्ते-नाते महज़ एक औपचारिकता मात्र रह गए हैं।

'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास भी एक स्त्री के तकनीकी के सहारे आगे बढ़ने की कथा है। लेकिन इस तकनीकी का आवश्यकता से अधिक और जरूरत से ज़्यादा इस्तेमाल व्यक्ति का समूल नाश भी कर सकता है। यह उपन्यास इसी तकनीकी के सहारे आगे बढ़ने और उसके आवश्यकता से अधिक इस्तेमाल के भयंकर परिणामों का एक यथार्थ चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसे उपन्यास की नायिका 'मुन्नी' के चरित्र के माध्यम से बख़ूबी चित्रित किया गया है। एक मोबाइल मिलने से 'बिन्दू यादव' अर्थात् 'मुन्नी' की पूरी तकदीर ही बदल जाती है। मुन्नी आनंद भारती से कहती है- "इस बार दिवाली पर मुझे कोई ऐसा-वैसा गिफ्ट नहीं चाहिए। पिछली बार की तरह इस बार मिठाई, बर्तन और कपड़े आदि नहीं चलने वाले'।.....'मोबाइल चाहिए मुझे! मोबाइल!।"[327] अंतत: आनंद भारती उसे निराश नहीं करते हैं और मुन्नी की यह जिद पूरी करते हुए वह उसे मोबाइल लाकर दे देते हैं। हाथ में मोबाइल आ जाने से मुन्नी की ज़िदगी ही बदल जाती है। यहीं से मुन्नी के नए जीवन की शुरुआत होती है। मोबाइल मुन्नी के जीवन में एक नई क्रान्ति ला देता है। बहुत जल्दी ही मुन्नी इस तकनीकी दुनिया के खेल में पारंगत हो जाती है। हालाँकि मुन्नी अनपढ़ थी लेकिन उसके लिए मोबाइल एक खिलौना बन जाता है। जो उसके जीवन की दिशा ही बदल देता है। मोबाइल मिलने के बाद मुन्नी भी अब इस आभासीय दुनिया में मस्त रहने लगती है। "एक दिन वह खाना खिला रही थी कि अचानक उसके मोबाइल की घंटी बजी। वह तवे पर रोटी छोड़कर बतियाने लगी। रोटी को जलना ही था और

[327]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 9-10

रोटी जल भी गई। आनंद भारती को गुस्सा आ गया। उन्होंने चीखते हुये आवाज़ लगाई 'ए मुन्नी मोबाइल'।"[328] मोबाइल मुन्नी के अंदर उत्साह और शक्ति का संचार कर देता है। इसी मोबाइल के जरिए वह बहुत से नए लोगों के संपर्क में आती है। मुन्नी अब वह हर उस कार्य को करने लगती है जहाँ पर उसे मुनाफ़ा दिखाई देता है। आज के समय में संचार साधनों एवं सूचना तकनीक ने जितना हमें और हमारे जीवन को सरल बनाया है उतना ही इसने हमें नुकसान भी पहुंचाया है। इसका साक्षात उदाहरण 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास की नायिका बिन्दू यादव अर्थात् मुन्नी मोबाइल है। मुन्नी अपने विकास के जिन रास्तों को चुनती है उनमें सभी रास्ते सही नहीं होते हैं, कुछ तो बहुत ही गलत होते हैं। जो आगे चलकर उसके विनाश का कारण भी बनते हैं। उसकी अत्यधिक धन की चाह ही उसे एकदम से अंधा कर देती है। मुन्नी की अत्यधिक पैसों की चाहत या हवस, उसकी कमीशनखोरी, शार्टकट वाले रास्ते ही उसके लिए जानलेवा सिद्ध होते हैं। उपन्यास के अंत में 'सोनू पंजाबन' एक बड़े कांट्रेक्ट किलर को सुपारी देकर इसकी हत्या करवा देती है। अब पत्रकार आनंद भारती के सामने मुन्नी का हर रूप एक कोलाज़ बनकर उभर रहा था। "मोबाइल की माँग से लेकर हस्ताक्षर करने तक का सफर, बच्चों की पढ़ाई से लेकर बेटी रेखा के लिए कंप्यूटर ले जाने की उसकी हसरत... फिर नौकरानियों की सप्लाई से लेकर कालगर्ल्स की सप्लाई का काम .... मुन्नी के संघर्ष से लेकर सफल होने तक की इंद्रधनुषी यात्रा बदरंग हो गई थी।"[329] इस प्रकार इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे एक स्त्री तकनीकी के सहारे अपना विकास तो कर लेती है लेकिन इस तकनीकी का आवश्यकता और जरूरत से अधिक इस्तेमाल उसका समूल नाश भी कर देता है।

मीडिया तथा विज्ञापन ने युवाओं की सोच में बदलाव ला दिया है। आज का युवा पर्दे के यथार्थ की नकल करता है। कभी विज्ञापन देखकर तो कभी फ़िल्म इंडस्ट्री के नायकों और खलनायकों

---

[328]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं.12

[329]मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, पृष्ठ सं. 156

को देखकर। 'दस बरस का भँवर' उपन्यास में पत्रकार बाँके बिहारी का सबसे छोटा बेटा 'रतन' इसी तरह की मानसिकता से ग्रसित है। 'रतन' बालीबुड के हीरो आमिर खान की नकल करता है। उसे अपना चेहरा अमीर खान जैसा नज़र आता है। "आमिर खान को फ़िल्म-दर-फ़िल्म देखते हुए आहिस्ता-आहिस्ता रतन के मन में जिस शक ने सिर उठाया था, वह पक्का हो गया था। उसमें और आमिर खान में जरूर साम्य था- जिसे सबसे पहले उसी ने आईने में देखा था। उसके पास आमिर की एक तस्वीर थी। ....फिर वह दोनों का मिलान करते हुए मुस्कराने लगता। आमिर की तरह। .... 'फ़िल्मफेयर' और 'स्टारडस्ट' के पन्नों में वह आमिर के बारे में ख़बरें ख़ोज-ख़ोज पढ़ता। ....रतन आमिर ख़ान के नृत्य की ही नकल नहीं करता था। वह आमिर ख़ान की तरह बोलता, आमिर ख़ान की तरह हँसता था और उसी की तरह रोता था।"[330] रतन इन पर्दे के लोगों के प्रति इतना दीवाना था कि वह एक दिन मुंबई में अपने भाई के दोस्त शंकर शेट्टी की मदद से फ़िल्म सिटी भी पहुँच जाता है। उस दिन आमिर ख़ान की किसी फ़िल्म की शूटिंग भी चल रही होती है। वह भी एक तरफ झुंड में खड़ा शूटिंग देखा रहा होता है। आमिर ख़ान किसी भैंसे पर बैठा होता है और उसकी शादी का दृश्य फ़िल्माया जा रहा था। वहीं पर रतन को पर्दे की हक़ीक़त का अहसास होता है। "यह आमिर ख़ान की सच्ची शादी नहीं थी। यह झूठी कहानी का झूठा शॉट था, जो पर्दे पर असली लगता था। स्टूडियों के चारों ओर रोशनियों और कैमरों को देखते हुए रतन को अचानक परदे के झूठे का तीखा अहसास हुआ, जिसे लोग सिनेमा हॉल के अँधेरे में यथार्थ समझते थे।"[331]

'दौड़' (ममता कालिया) उपन्यास में भी इस आभासीय यथार्थ का सशक्त चित्रण हुआ है। 'पवन' नौकरी के चक्कर में घर से दूर अहमदाबाद में रह रहा है। उसे वहाँ अपने परिवार की जब भी याद आती है तो वह फ़ोन के माध्यम से बात तो कर लेता है लेकिन फिर भी उसे तसल्ली नहीं होती है।

---

[330]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 52

[331]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 126

इसी बात पर वह कहता है कि - “फ़ोन जैसे यंत्र को बीच में डालकर, सिर्फ़ उस तक पहुँचा जा सकता है। उसे पुनर्सृजित नहीं किया जा सकता।”[332]

‘स्वर्णमृग’ उपन्यास इसी आभासीय दुनिया के वास्तविक यथार्थ अर्थात् साइबर क्राइम पर ही केन्द्रित है। यह उपन्यास साइबर जगत की वास्तविकता की गहन पड़ताल करता है। यह उपन्यास ऐसे ही साइबर अपराधियों के चंगुल में फँसे एक सीधे-साधे इंसान ‘पुरुषोत्तम’ द्वारा नासमझी में की गयी गलतियों का एक चिट्ठा है। ‘पुरुषोत्तम’ इसी इंटरनेट और ई-मेल के चक्कर में पड़कर अपना सबकुछ लुटा देता है। ‘पुरुषो’ को उसके ई.मेल पर एक मेल आता है- “आपके ई.मेल आईडी ने यू के नेशनल लॉटरी का एक मिलियन पौंड (दस लाख पौंड) स्टर्लिंग का ईनाम जीता है।.... कंप्यूटर द्वारा संसार के एक लाख आई डी में से लकी नंबर निकाले गए। उन लकी नंबरों में आपका नंबर भी है।”[333] हालाँकि पुरुषों इस मेल को डिलीट भी कर देता है लेकिन जब भी दोबारा वह मेल खोलता है तो वही मैसेज या मेल उसे बार बार उसकी स्क्रीन पर दिखाई देता। अंतत: साइबर दलालों द्वारा बुने गए इस जाल में वह न चाहते हुए भी फँस जाता है। तथा अपना सब कुछ लुटा देता है। आज के समय का आम आदमी भी बिना कुछ किए करोड़पति बनने का सपना पाल रहा है। इस इजी मनी के चक्कर में ये लोग आसानी से साइबर क्राइम की दुनिया के दलालों (अपराधियों) के चंगुल में फँसते भी जा रहे हैं। साइबर क्राइम करने वाले लोगों ने एक मायावी जाल फैला रखा है। इसमें तमाम मल्टीनेशनल कंपनियों के साथ-साथ कई ऐसे देशी-विदेशी अँग्रेजीदां लोग डिप्लोमैट के नाम पर यह खेल खेल रहे हैं। इसी प्रकार के दलाल डेविड मूर जैसे डिप्लोमैट के चंगुल में या मूर के बिछाये गए इस मायावी जाल में उपन्यास का नायक ‘पुरुषो’ भी फँस जाता है। दस लाख पौंड यानि इस स्वर्णमृग रूपी अकूत धनराशि के पीछे-पीछे वह भागता रहता है। जबकि उपन्यास के अंत में यह पता चलता है कि यह रुपया एंठने की सिर्फ़ साजिश

---

[332]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 25

[333]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 32

थी। आभासीय दुनिया के मायावी जाल में फँसकर अपना सब कुछ लुटा चुका उपन्यास का कथानायक 'पुरुषो' उपन्यास के अंत में हमें भूमंडलीकरण तथा इस आभासीय अर्थात् मायावी दुनिया के प्रति सभी को सचेत करता है। वह हम सभी को इस छल-छद्म से बचने की सलाह भी देता है। वह कहता है कि- "मैं वैश्वीकरण के विकीरण के कुप्रभाव के इस कोढ़ से अपने लोगों को अपने अनुभवों के जरिये बचाना चाहता हूँ। वैश्वीकरण तीसरी दुनिया के लोगों के लिए आणविक विस्फोट के फाल आउट की तरह लगता है। आणविक विभाजन और वैश्वीकरण जुड़वा भाई की तरह हैं। इस वैश्वीकरण ने मुझे बंजारा बनाकर छोड़ दिया। बंजारा और बहता पानी कहीं नहीं ठहरते।"[334]

4.2 दिखावे के उपभोग की संस्कृति

भूमंडलीकरण के इस दौर में दिखावे के उपभोग की संस्कृति का ईजाफ़ा हुआ है। यह अमेरिका से आयातित संस्कृति है। अमेरिका दिखावे के उपभोग की संस्कृति को आज बढ़ावा दे रहा है, और इसके इस कार्य को मीडिया, विज्ञापन और बाजारवाद सहयोग प्रदान कर रहा है। यह बाजारवाद तथा उपभोक्तावादी संस्कृति हमारी दैनिक दिनचर्या को बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित कर रहा है। आज हमारा दैनिक जीवन पूरी तरह से इसकी गिरफ़्त में आ चुका है। बाजारवाद और विज्ञापन ने हमें इस तरह से सम्मोहित कर लिया है कि हम इसके मायाजाल में लगातार फँसते चले जा रहे हैं। आज के समय में हम बहुत-सी गैरज़रूरी वस्तुओं का इस्तेमाल सिर्फ़ इसलिए करने लगे हैं कि हमें दूसरों की नज़रों में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी है। जबकि यह सिर्फ़ एक दिखावा है। बहुत-सी ऐसी चीजें होती हैं जिनकी हमें कोई जरूरत भी नहीं होती उन्हें सिर्फ़ इसलिए खरीद लेते हैं कि यह हमारे पड़ोसी के घर में है मेरे घर में नहीं। इसके चक्कर में हम कभी-कभी कीमत से कहीं ज़्यादा ख़र्च करके उस वस्तु को खरीद लेते हैं। ऐसा कर हम अपनी समाज में प्रतिष्ठा दिखाते हैं। जबकि हकीकत यह है कि हम उस

[334]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,पृष्ठ सं. 23-25

वस्तु या सामान का कभी इस्तेमाल भी नहीं करते हैं। लेकिन फिर भी बाहरी दिखावे और समाज में अपनी प्रतिष्ठा के लिए यह हम ऐसा करते हैं। इसमें बाजारवाद और विज्ञापन अपनी महती भूमिका निभा रहा है। हम आसानी से विज्ञापन के जरिये किसी भी वस्तु के प्रति आसानी से आकर्षित हो जाते हैं और बाज़ार की दुनिया की चकाचौंध में खो जाते हैं। विज्ञापन किसी भी चीज़ को हमारे सामने इस कदर पेश करता है कि हम उस पर मोहित हो जाते हैं। और हमें यह लगता है कि यदि यह चीज़ अपने पास नहीं रहेगी तो हमारी कोई प्रतिष्ठा ही नहीं रहेगी। इस प्रकार से देखा जाए तो दिखावे की यह संस्कृति हम पर लगातार हावी होती जा रही है। दिखावा करना कोई गलत नहीं लेकिन दिखावे का उपभोग करना गलत है। आज बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियाँ और महँगे ब्रांड मीडिया तथा विज्ञापन आदि माध्यम से दिखावे का उपभोग बराबर कर रहे हैं, और इससे भरपूर मुनाफा भी कमा रहे हैं। इसी दिखावे के उपभोग के चक्कर में फँसकर लोग अपने को और अधिक आधुनिक (मॉडर्न) दिखाने की खातिर महँगे मोबाइल फोन, महँगी घड़ियाँ, महँगे कपड़े तथा सौंदर्य प्रसाधन आदि सिर्फ़ इसीलिए ही खरीदते हैं। समाज में इन्हीं सब चीजों से इनकी हैंसियत आँकी जाने लगी है। इसी तरह से शादी-विवाह तथा जन्मदिन आदि के अवसरों पर बड़े और महँगे होटलों में कार्यक्रम हम सिर्फ़ इसलिए आयोजित करते हैं ताकि समाज में हमारी झूठी प्रतिष्ठा बनी रहे। चाहे इस झूठे दिखावे के लिए भले ही हमें आवश्यकता से अधिक फिजूलखर्ची भी क्यों न करनी पड़े। यह दिखावे के उपभोग की जो नई संस्कृति पनपी है उसमें भूमंडलीकरण द्वारा उपजी बाजारवादी संस्कृति और विज्ञापन की महती भूमिका रही है। आज इस दिखावे की संस्कृति के भयंकर दुष्परिणाम भी देखने को मिल रहे हैं। इसकी वजह से आज व्यक्ति का चरित्र काफी कुछ बदल सा गया है। आज का व्यक्ति स्वार्थी और अतिशय व्यक्तिवादी हो गया है। इस बाजारवादी संस्कृति ने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक संबन्धों को भी प्रभावित किया है। आज हमारे सामाजिक संबंध संकुचित होने लगे हैं। जिसकी वजह से हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा मानवीय-मूल्यों में भारी गिरावट आई है।

इस दिखावे के उपभोग की संस्कृति का चित्रण भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों प्रमुख रूप से हुआ है। जिंदगी ई-मेल (सुषमा जगमोहन), रेहन पर रग्घू (काशीनाथ सिंह), दौड़ (ममता कालिया), स्वर्णमृग (गिरिराज किशोर), तीसरी ताली (प्रदीप सौरभ) आदि उपन्यासों में इस संस्कृति का यथार्थ चित्रण हुआ है।

जिंदगी ई-मेल उपन्यास में उपन्यास की नायिका 'तनु' को दिखावे का बहुत शौक रहता है। इसीलिए वह अपनी बचपन की दोस्त 'मीनाक्षी' की देखा-देखी और उससे आगे बढ़ने की ख़ातिर कनाडा (विदेश) बसने का फैसला लेती है। "मीनाक्षी की नकल में तनु कनाडा चली तो गई है लेकिन लौटने वाली नहीं। ....कहा जाए तो उन्होंने वहाँ अपनी दुनिया बसा ली थी। पाँच-छह महीने में उनका सब कुछ बदल चुका था। उनके दोस्त। संगी साथी। उनकी आदतें, उनकी भाषा।"[335] यही नहीं उसकी दोस्त मीनाक्षी भी खूब दिखावा करती है- "तनु हमेशा मीनाक्षी के लाइफ स्टाइल को देखकर रश्क करती रही है। और मीनाक्षी को हमेशा मज़ा आता था तनु को अपनी रईसी दिखाने में। वह जब भी दिल्ली आती थी तो वह बच्चों के लिए महँगे तोहफ़े लाती थी। लेकिन देने का अंदाज़ ऐसा होता कि उसके बाद तनु कई महीने तक किलसती रहती थी।....हर मुलाक़ात में मीनाक्षी उसे कम से कम यह जताना नहीं भूलती थी कि वह कितने पैसेवाले परिवार की है।"[336]

'दस बरस का भँवर' उपन्यास में भी 'रतन' का दोस्त 'मोहन' भी ख़ूब दिखावा करता है। 'रतन' का सहपाठी 'मोहन' अपनी पिता की अकेली संतान है। 'मोहन' ख़ूब घूमता है, दोस्तों के साथ दारू-शराब पीता है तथा अपनी रईसी दिखाता है। "मोहन चोंच-दाढ़ी और मूँछें रखता था जो

[335]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 9

[336]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 1

आजकल अंतर्राष्ट्रीय फ़ैशन था। उसके कपड़ों से रईसी टपकती थी। वह हमेशा मारुति में चलता था।"[337]

'दौड़' उपन्यास में भी इस दिखावे की संस्कृति का चित्रण हुआ है। जब 'पवन' नौकरी के सिलसिले में गुजरात के अहमदाबाद शहर जाता है तो उसे पता चलता है कि यहाँ के लोग अपनी हैंसियत की ख़ातिर कितना दिखावा करते हैं। वहाँ पर "हर घर के आगे एक अदद टाटा सूमों खड़ी है। मारुति 800 क्यों नहीं? तर्क शक्ति से तय किया जा सकता है कि यह परिवार की जरूरत और आर्थिक हैंसियत का परिचय पत्र है।"[338]

'दौड़' उपन्यास में कंपनियों के द्वारा दिखाये जा रहे विज्ञापन के आंतरिक सच को बहुत बारीकी के साथ प्रस्तुत किया गया है। अभिषेक की कंपनी का 'स्पार्कल' टूथपेस्ट का विज्ञापन हो, राजविंदर की कंपनी इंडिया लीवर का टूथपेस्ट सनी हो, शरद की सनशाईन शू पॉलिश, तथा उसकी प्रतिद्वंदी 'बिल्ली बूट पॉलिश', तथा पवन की गुर्जर गैस कंपनी की हो सभी अनेक लुभावने विज्ञापनों द्वारा जनता को लूटने में लगे हुए हैं। पवन की गैस कंपनी का नारा है- "विश्वास नी जोत घरे-घरे-गुर्जर लावे छे,' इसे प्रचारित-प्रसारित करने का अनुबंध शीबा कंपनी को साठ लाख में मिला है। उसने भी सड़के और चौराहे रंग डाले हैं।"[339] रोजविंदर अपनी कंपनी के प्रोडक्ट के बारे में कहती है- "हमारी प्रोडक्ट के एक-एक आइटम को इतना प्रचारित कर दिया गया है कि अब इसमें बस साबुन मिलाने की कसर बाकी है। रेडियों और टी. वी. पर दिन में सौ बार दर्शक और श्रोता की चेतना को झकझोरता विज्ञापन मार्केटिंग के प्रयासों में चुनौती और चेतावनी का काम करता। उपभोक्ता बहुत ज़्यादा उम्मीद के साठ टूथपेस्ट ख़रीदता जो एकबारगी पूरी न होती दिखती।...पवन म्यूजिक सिस्टम पर गाना लगा

[337]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 66

[338]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 17

[339]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 19

देता है, "ये तेरी आँखें झुकी-झुकी ये तेरा चेहरा खिला-खिला। बड़ी क़िस्मत वाला है वह"-'सनी टूथपेस्ट जिसे मिला' रोजविंदर गाने की लाइन पूरी करती है।"[340]

इस उपन्यास में विज्ञापन जगत के वास्तविक सच को भी बहुत यथार्थ ढंग से दिखाया गया है। अभिषेक की कंपनी 'स्पार्कल' टूथपेस्ट का विज्ञापन इसका सशक्त उदाहरण है। इस विज्ञापन को ख़ुद अभिषेक ने बनाया था- "समाचार से पहले 'स्पार्कल' टूथपेस्ट का विज्ञापन फ़्लैश हुआ। अंकुर चिल्लाया, "पापा का एड, पापा का एड।"

यह विज्ञापन आज पाँचवी बार आया था पर वे सब ध्यान से देख रहे थे। विज्ञापन में पार्टी का दृश्य था जिसमें हीरो के कुछ कहने पर हीरोइन हँसती है। उसकी हँसी में हर दाँत से मोती गिरते हैं। हीरो उन्हें अपनी हथेली पर लोक लेता है। सारे मोती इकट्ठे होकर 'स्पार्कल' टूथपेस्ट बन जाते हैं। अगले शॉट में हीरो-हीरोइन लगभग चुंबंबद्ध हो जाते हैं।

अभिषेक ने कहा, "राजुल कैसा लगा एड?"

"ठीक है" राजुल ने कहा। उसके उत्साहविहीन स्वर से अभिषेक का मूड उखड़ गया। अभिषेक कहता है- "ऐसी श्मशान आवाज में क्यों बोल रही हो?"

"नहीं मैं सोच रही थी, विज्ञापन कितनी अतिशयोक्ति करते हैं। सच्चाई यह है कि न किसी के हँसने से फूल झरते हैं न मोती, फिर भी मुहावरा है कि लीक पीट रहा है।"

"सच्चाई तो यह है कि मॉडल लीना भी स्पार्कल इस्तेमाल नहीं करती। वह प्रतिद्वंदी कंपनी का टिक्को इस्तेमाल करती है। पर हमें सच्चाई नहीं, प्रोडक्ट बेचनी है।"

पर लोग तुम्हारे विज्ञापनों को ही सच मानते हैं। क्या यह उनके प्रति धोखा नहीं?"[341]

---

[340]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 22-23

[341]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 36-37

'स्वर्णमृग' उपन्यास में भी इसी प्रकार के लालच और दिखावे के चक्कर में पड़कर उपन्यास का नायक 'पुरुषो' अपना सब कुछ लुटा देता है। डेविड मूर उसके सामने ऐसा दिखावा करता है करता है कि जैसे उसका बहुत क़रीबी और शुभचिंतक हो। लेकिन वह तो एक दलाल है जिसे सिर्फ़ पैसों से मतलब है। वह सिर्फ़ पुरुषो को ठगने का ड्रामा कर रहा होता है। इसलिए वह पुरुषो को भावनात्मक रूप से भी अपने मोह-पाश में कर लेता है। "मूर के पास बात करने का मलका था। वह अपनेपन से बात करता था। चूंकि वह अपने को डिप्लोमैट लिखता था, उसमें कूटनीतिज्ञों वाली चालाकी भी थी। वह बोला, 'आपसे मैंने पिछली बार भी कहा था कि यह मेरी ज़िम्मेदारी है कि पैसा ठीक जगह पहुँच जाए। मैंने आपको अपना दोस्त माना है। हम ब्रिटन्स बड़ी मुश्किल से किसी को अपना दोस्त कहते हैं। जब मान लेते हैं तो फिर दोस्ती निभाते हैं।"[342]

इस प्रकार से दिखावे के उपभोग की संस्कृति का जो अमेरिका से आयातित संस्कृति है, इसका भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में सशक्त चित्रण हुआ है।

4.3 संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र-विघटन

भूमंडलीकरण द्वारा उपजी उपभोक्तावादी तथा बाजारवादी संस्कृति ने भारत की सामाजिक संरचना को बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। इस बाजारवादी तथा उपभोक्तावादी संस्कृति का ही असर है कि हमारी प्राचीन समय से चली आ रही 'संयुक्त परिवार व्यवस्था' जैसी संस्था का आज बहुत ही तीव्र गति से विघटन हो रहा है। इसने हमारी प्राचीन समय की 'परिवार' जैसी संस्था की लगभग नींव ही उखाड़ दी है। भारत में अति प्राचीन काल से ही परिवार नाम की संस्था को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। संयुक्त परिवार की अवधारणा मूलतः भारतीय अवधारणा ही है। लेकिन आज जिस तरीके की संस्कृति विकसित हो रही है उसमें सभी लोग अतिशय आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भर

[342]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं. 55

बनना चाह रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज के लोग सिर्फ़ अपनी निजी जिंदगी से ही मतलब रखना चाहते हैं। वह किसी की बात या निर्णय को न सुनना चाहते हैं और न ही मानना पसंद कर रहे हैं। इसलिए आज का व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वार्थी हो गया है। संयुक्त परिवार में व्यक्ति से ज़्यादा अहमियत परिवार की होती है। परिवार में कुछ बंदिशें व नियम होते हैं जिनका पालन तथा निर्वहन परिवार के प्रत्येक सदस्य को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। परिवार का सबसे बड़ा बुज़ुर्ग व्यक्ति ही संयुक्त परिवार का मुखिया होता है।

सूचना तथा संचार क्रांति व औद्योगिक क्रांति ने पाश्चात्य देशों की तरह भारत में भी परिवार जैसी संस्था को पूरी तरह से विघटित कर दिया है। अर्थ व पूँजी के बढ़ते इस कुचक्र का ही नतीजा है कि आज परिवार जैसी संस्था पर बहुत ज़्यादा दबाव बढ़ा है। जिसकी वजह से परिवार नामक संस्था बिखरने लगी है। आज कुछ गिने-चुने ही संयुक्त परिवार बचे हैं। जिनमें परिवार के सभी लोग एक साथ सुखपूर्वक रहते हों। पूँजी आधारित इस उत्तर आधुनिक भारत में एक नये तरीके के समाज का उदय हो रहा है। इस नव-विकासित समाज का प्रत्येक व्यक्ति या युवा आज अपनी भौतिक उन्नति तथा अपनी यौन महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए लगातार परंपरागत बंधनों, नियमों आदि को तोड़ता चला जा रहा है। आज के युवाओं में स्वतंत्रता, निजता और आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना का विकास हुआ है। इस निजी स्वतंत्रता तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता का ही नतीजा है कि वह अपने परिवार तथा समाज से लगभग विमुख होता जा रहा है। इस प्रकार से देखा जाए तो आज के समय में परिवार मात्र एक औपचारिक संगठन बन कर रह गये हैं। इस तरह से आज आधुनिकता एवं पश्चिमी जीवन-शैली ने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा नैतिक जीवन-मूल्यों व आदर्शों को बहुत ही गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। आज के समय में देश में परंपरागत रीति-रिवाजों के अनुसार संयुक्त परिवार चलन में नहीं रहे। ऐसे परिवार अब हकीकत में नहीं सिर्फ़ भारतीय धारावाहिकों और बालीबुड फिल्मों में ही दिखाई देते हैं। इस प्रकार से भूमंडलीकरण के दौर में परंपरा से चली आ रही हमारी संयुक्त परिवार व्यवस्था का

तीव्र विघटन हुआ है। इसका चित्रण भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में प्रमुखता से हुआ है। ‘जिंदगी ई-मेल’ सुषमा जगमोहन, ‘दस बरस का भँवर’ रवीन्द्र वर्मा, ‘दौड़’ ममता कालिया, ‘रेहन पर रग्घू’ काशीनाथ सिंह आदि उपन्यासों में इस समस्या का व्यापक चित्रण हुआ है।

‘जिंदगी ई-मेल’ उपन्यास में एक मध्यमवर्गीय परिवार की बिखरती हुई जिंदगी का सजीव चित्रण किया गया है। यह उपन्यास खत्म होती परिवार व्यवस्था, खत्म होती पारिवारिक तथा मानवीय संबन्धों की ऊष्मा, नष्ट होती संस्कृति और संक्रमित होते मानवीय-मूल्यों को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में एक भरा-पूरा परिवार है, जिसमें शामिल हैं उपन्यास का नायक फ़िल्म रिपोर्टर ‘दिल्ली पोस्ट’ का ‘दीप’ अर्थात् दीप कुमार मिश्रा उसकी पत्नी ‘तनु’ उसके दो बेटे ‘रोहित’ और ‘शरद’ एक भाई ‘करण’ और उसकी पत्नी ‘अनीता’ दीप की एक बहन ‘रेणु’ तथा परिवार के सबसे बड़े बुजुर्ग तथा दीप के पिता अर्थात् ‘बाबा’ (रिटायर्ड इंजीनियर) शामिल हैं। दीप अपनी पत्नी और बच्चों को कनाडा भेजने के लिए परिवार के मुखिया बाबा से पैसे माँगता है और कहता है कि बाद में आपको सूद सहित लौटा दूँगा। लेकिन बाबा का इसका उत्तर जिस तरीके से देते हैं वह एकदम चुप ही बैठ जाता है। दीप जब अपने पिता अर्थात् बाबा से कहता है कि- ‘‘बाबा एक बार इन लोगों को वहाँ की जिंदगी देख आने दो। आप कुछ पैसा दे दो। भरोसा रखो, सारा पैसा आते ही चुका दूँगा। समझ लो, आपका पैसा बैंक में रखा है।’’ लेकिन बाबा ने तपाक से कह दिया- ‘‘जो बेटा मुझे बुढ़ापे में छोड़कर जा रहा हो, उसका क्या भरोसा करूँ? मेरे पास वही थोड़ा-सा पैसा है। तू तो बीवी को लेकर कनाडा जाकर बैठ जाएगा। मैं इस बुढ़ापे में किस घर जाकर भीख माँगूँगा? ....इस बूढ़े बाप के बारे में सोचा है कभी।’’[343] लेकिन इन सबके बावजूद दीप और तनु कनाडा जाने का फैसला कर ही लेते हैं। दीप की पत्नी तनु उसके दो बेटे रोहित और शरद कनाडा चले जाते हैं। लेकिन बाबा यहाँ रात दिन इन लोगों को देखने तथा साथ रहने के लिए तड़पते रहते हैं। बाबा ने जिस मेहनत से यह

[343]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 27

घर बनाया था अब वही घर इन्हें जैसे काटने दौड़ रहा हो। उनको अपना परिवार बिखरता नज़र आ रहा था। इस प्रकार इसमें संयुक्त परिवार के टूटन, विघटन और बिखराव की कथा को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है।

'दस बरस का भँवर' उपन्यास में परिवारिक समस्या भी चित्रित हुई है। इसमें पत्रकार बाँके बिहारी को बुढ़ापे में अपने छोटे बेटे रतन के इलाज़ के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। हालाँकि इनके तीन बेटे नमन, पवन और मदन भी हैं लेकिन किसी को अपने भाई की उतनी चिंता नहीं है जितनी एक वृद्ध पिता बाँके बिहारी को है। रतन को एक मानसिक विकार है- शिज़ोफ्रेनिया। यह मरज़ दस बरस पुराना है। बाँके बिहारी और उनकी पत्नी गायत्री को छोड़कर शेष सभी पारिवारिक सदस्य परिवार से लगभग कटे हुए हैं। रतन का भाई पवन और उसकी पत्नी किशोरी तो बहुत ही स्वार्थी हैं। वह अपने पास रतन को सिर्फ़ इसलिए बुलाते हैं कि वह उसकी कंपनी मल्लिका पाइप्स की देखभाल करे। क्योंकि पवन ने कंपनी के कंप्यूटर असिस्टेंट जोशी की छुट्टी कर दी। इसी कंप्यूटर असिस्टेंट जोशी की जगह रतन काम कर रहा है। जहाँ पर जोशी की तनख्वाह सात हज़ार थी वहीं पर रतन यह काम लगभग फ्री में ही कर रहा है। क्योंकि डॉक्टर ने कहा था कि रतन को काम जरूर करना चाहिए- न कम, न ज़्यादा। शराब और पैसे से दूर रहना चाहिए। रतन का मझला भाई उसे एक बँधुआ मज़दूर बना रखा था। रतन जब मुंबई के फ़्लैट में एक दिन अपने भाई से पैसों के लिए कहता है तो उसका भाई कहता है- "रुपए! रुपयों की तुम्हें क्या जरूरत? खाना कपड़ा तुम्हें मिलता है। अपना काम करो।".....वह सोचने लगता है-बँधुआ मज़दूर... बँधुआ मज़दूर ...चारों ओर रेट पर कोई आवाज़ गूँजी...कब तक मेरे मौला...।"[344] इस प्रकार इसमें एक परिवार की कथा कही गई है। जिसमें परिवार के लगभग सभी सदस्यों के बीच के संबंध महज़ एक औपचारिकता लगते हैं। रतन का भाई मदन जब रतन के इलाज़ के लिए पैसे देने की बात करता है तो उसकी मंशा कुछ और ही होती है। इसलिए बाँके

[344]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 46

बिहारी कहते हैं कि- " 'मैं डॉलर नहीं लूँगा।' 'ख़र्च तो रुपयों में ही होगा', गायत्री ने कहा। 'तो क्या हुआ?' 'क्यों?' 'परिवार में निवेश तो डॉलर का ही होगा। मैं ऐसे विदेशी निवेश के खिलाफ़ हूँ जो मेरे परिवार को ही तहस-नहस कर दे।"[345]

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में पारिवारिक विघटन की समस्या को बहुत ही बारीकी से चित्रित किया गया है। भूमंडलीकरण ने आज ऐसी संस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है। "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे - थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते-नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[346] यही नहीं मास्टर रघुनाथ एक जगह अपनी पत्नी शीला से कहते हैं कि- "शीला, हमारे तीन बच्चे हैं लेकिन पता नहीं क्यों, कभी कभी मेरे भीतर ऐसी हूक उठती है जैसे लगता है- मेरी औरत बाँझ है और मैं नि:संतान पिता हूँ! माँ और पिता होने का सुख नहीं जाना हमने! हमने न बेटे की शादी देखी, न बेटी की! न बहू देखी, न होने वाला दामाद देखा। हम ऐसे अभागे माँ-बाप हैं जिसे उनका बेटा अपने विवाह की सूचना देता है और बेटी धौंस देती है कि इजाज़त नहीं दोगे तो न्योता नहीं दूँगी।"[347]

---

[345]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 17

[346]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 98

[347]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 89

4.4 एकल परिवार व्यवस्था

भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण आज समाज में एकल परिवार व्यवस्था का चलन बढ़ा है। भारतीय समाज व परिवार व्यवस्था को औद्योगीकरण तथा भूमंडलीय अपसंस्कृति ने विघटित कर दिया है। आज संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार ने ले ली है। एकल परिवार जिसमें केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे ही इसमें शामिल होते हैं। आज की युवा पीढ़ी एकल परिवार व्यवस्था को बहुत बेहतर मानती है। आज के दौर में विकसित नयी अर्थव्यवस्था ने ही सभी में आर्थिक रूप से स्वतंत्र जीवन-यापन करने की इच्छाशक्ति का विकास किया है। यही वजह है कि आज 'संयुक्त परिवार व्यवस्था' का तीव्र गति से विघटन हो रहा है और उसकी जगह 'एकल परिवार व्यवस्था' का प्रचलन बढ़ा है। आज के अधिकतर युवा दंपति अपने जीवन में किसी और का हस्तक्षेप नहीं चाहते हैं। वह एक निजी और स्वतंत्रता आधारित जिंदगी जीना चाह रहे हैं। जहाँ इन्हें किसी कार्य के लिए कोई रोकने-टोकने वाला न हो। जहाँ इन्हें अपनी जिंदगी अपने ढंग से जीने की पूरी छूट हो। इसका परिणाम यह हो रहा है कि वह अपने आर्थिक रूप से स्वतंत्र जीवन जीने के चक्कर में अतिशय भौतिकवादी भी होता जा रहा है। आज के व्यक्ति या मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य ज़्यादा से ज़्यादा अपना व्यक्तिगत हित रह गया है। लेकिन अपने इस व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए वह अपने घर-परिवार, समाज आदि सभी की तिलांजलि भी देता जा रहा है। आज के युवाओं की इस तरीके की बढ़ती व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही परिवारों के टूटने का कारण भी बन रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि वह अपने सभी प्रकार के संबन्धों, रिश्ते-नातों, मानवीय-मूल्यों तथा नैतिक जिम्मेदारियों आदि से पीछा भी छुड़ाता जा रहा है। आज संबन्धों की डोर ढीली पड़ती जा रही है।

वास्तव में आज एकल परिवार व्यवस्था वर्तमान समय की एक जरूरत भी है और एक मजबूरी भी है। पाश्चात्य संस्कृति का असर भारतीय समाज पर बहुत तेज़ी से हो रहा है जिसने परिवार

जैसी सामाजिक संरचना को एकदम से तोड़ दिया है। परिवार को सामाजिक संरचना की आधारभूत इकाई और समाज का आधार-स्तंभ माना जाता रहा है। परिवार एक बहुआयामी संस्था रही है। संयुक्त परिवार जहाँ दादा-दादी, चाचा-चाची, माता-पिता, भाई-बहन आदि से भरा हुआ होता था वहीं पर एकल परिवार में सिर्फ़ और सिर्फ़ दंपति और उनके बच्चे शामिल होते हैं। एकल परिवार में सबसे ज़्यादा सुरक्षा का खतरा भी बना रहता है। इसमें संस्कारों का हनन ज़्यादा होता है। इन पर पाश्चात्य संस्कृति या कहें कि अपसंस्कृति का प्रभाव कुछ अधिक होता है। बड़े-बुज़ुर्गों के प्रति इनमें धीरे-धीरे आदर और सम्मान की भावना खत्म होती जाती है। इस प्रकार संयुक्त परिवार जहाँ एक समय परिवार व समाज की नींव हुआ करते थे, आज वह नींव लगभग उखड़ सी गयी है। एकल परिवार बिना नींव के सहारे सपनों के महल बनाने जैसा प्रयत्न है। पिछले तीन-चार दशकों में इस नए तरीके की संस्कृति का बहुत तेज़ी से विकास हुआ है। यह एकल परिवार व्यवस्था वाली संस्कृति किसी भी दृष्टि से भारतीय समाज के लिए अच्छी स्थिति नहीं है।

4.5 सहजीवन प्रणाली

भूमंडलीकरण के दौर में परिवार की एक नई संकल्पना उभरी है- 'सहजीवन प्रणाली'। जिसने विवाह जैसी संस्था पर प्रश्नचिह्न ही खड़ा कर दिया है। पहले जहाँ पर शादी या विवाह के बिना संयुक्त परिवार और एकल परिवार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी वहीं पर इसके विकल्प के रूप में एक नए तरीके की संस्कृति विकसित हुई है 'सहजीवन प्रणाली'। सहजीवन-प्रणाली भारतीय संस्कृति पर हावी होती पाश्चात्य संस्कृति का एक भयंकर दुष्परिणाम है। इस सहजीवन-प्रणाली ने सदियों से चली आ रही हमारी परिवार तथा समाज संबंधी अवधारणा को ही बदल दिया है। सहजीवन प्रणाली को न हम संयुक्त परिवार की श्रेणी में रख सकते हैं और न ही एकल परिवार की श्रेणी में। यह सहजीवन प्रणाली अतिशय भौतिकतावादी जीवन-दृष्टि का ही नतीजा है। आज लोग अपनी सभ्यता और

संस्कृति से कोसों दूर होते जा रहे हैं और पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करते जा रहे हैं। लेकिन उन्हें भविष्य होने वाले इसके भयंकर दुष्परिणाम दिखाई नहीं दे रहे हैं। भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में सहजीवन प्रणाली के अनेक प्रसंग चित्रित हुए हैं।

'दौड़' उपन्यास में सहजीवन प्रणाली का यथार्थ चित्रण किया गया है। इसमें उपन्यास का पात्र पवन अपनी बिजनेस पार्टनर स्टैला के साथ बिना शादी किए ही साथ-साथ रहता है। स्टैला का परिचय कराते हुए पवन अपनी माँ से कहता है कि- "माँ स्टैला मेरी बिजनेस पार्टनर, लाइफ पार्टनर, रूम पार्टनर तीनों है।" लेकिन पवन की माँ रेखा को इस तरीके का रिश्ता अच्छा नहीं लगा। इसलिए वह एकांत में पवन से कहती है कि- "पुन्नू यह सिलबिल-सी लड़की तुझे कहाँ मिल गई?" इस पर पवन ने कहा, "तुम्हें तो हर लड़की सिलबिल नज़र आती है। इसका लाखों का कारोबार है।"

"पर लगती तो दो कौड़ी की है। यह तो बिलकुल तुम्हारे लायक नहीं।"

"यही बात तुम्हारे बारे में दादी माँ ने पापा से काही थी। क्या उन्होंने दादी माँ की बात मानी थी, बताइये।"

रेखा का सर्वांग संताप से जल उठा। उसका अपना बेटा, अभी कल की इस छोकरी की तुलना अपनी माँ से कर रहा है और उन सब जानकारियों का दुरुप्रयोग कर रहा है जो घर का लड़का होने के नाते उसके पास हैं।

"मैंने तो ऐसी कोई लड़की नहीं देखी जो शादी के पहले ही पति के घर में रहने लगे।"[348]

इस पर पवन कहता है कि- "तुमने देखा क्या है माँ? इलाहाबाद से निकलोगी तो देखोगी न। यहाँ गुजरात, सौराष्ट्र में शादी तय होने के बाद लड़की महीने भर ससुराल में रहती है। लड़का-लड़की एक-दूसरे के तौर-तरीके समझने के बाद ही शादी करते हैं।"

"पर यहाँ ससुराल कहाँ है।?"

---

[348]दौड़, ममता कालिया पृष्ठ सं. 52

“माँ, स्टैला अपना कारोबार छोड़कर तुम्हारे क़स्बे में तो जाने से रही। उसका एक-एक दिन कीमती है।”

रेखा भड़क गई, “अभी तो यह भी तय नहीं है कि हम इस रिश्ते के पक्ष में हैं या नहीं। हमारी राय का तुम्हारे लिए कोई अर्थ है कि नहीं।”

“बिल्कुल है तभी तो तुम्हें ख़बर की, नहीं तो अब तक हमने स्वामी जी के आश्रम में जाकर शादी कर ली होती।”[349]

इस प्रकार ‘दौड़’ उपन्यास में सहजीवन प्रणाली को आज के समय की जरूरत माना गया है। शुरुआत में पवन और स्टैला का यह रिश्ता पवन की माँ रेखा को अच्छा नहीं लगता है लेकिन उपन्यास के अंत में जब यही स्टैला रेखा की कहानियों को कंप्यूटर पर उतार देती है और उसे संपादन के बारे में बतलाती है, तब रेखा उसे अपनी बहू का दर्ज़ा दे देती है। “रेखा की कई कहानियाँ उसने कंप्यूटर पर उतार दीं। बताया, “मैम इस एक फ्लॉपी में आपकी सौ कहानियाँ आ सकती हैं। बस यह डिस्कैट सँभाल लीजिए, आपका सारा साहित्य इसमें है।”

चमत्कृत रह गए दोनों। रेखा ने कहा, “अब तुम हमारी हो गयी हो। मैम न बोला करो।”

“ओ. के. मॉम सही।” स्टैला हँस दी।”[350]

‘रेहन पर रग्घू’ उपन्यास में भी इस सहजीवन प्रणाली का प्रसंग चित्रित हुआ है। जिसमें रघुनाथ मास्टर का छोटा बेटा धनंजय अर्थात् राजू दिल्ली में एक विधवा के साथ बिना शादी किए ही साथ-साथ रहता है, और उसके पैसों पर ऐश करता है। इस बात का जिक्र मास्टर रघुनाथ अपनी पत्नी शीला से करते हुए कहते हैं। “उसने एक ऐसी लड़की ढूँढ निकाली है कि जिसके दो साल का बच्चा है। यही

---

[349]दौड़, ममता कालिया पृष्ठ सं. 52

[350]दौड़, ममता कालिया पृष्ठ सं. 64

नहीं, वह कोई अच्छी ख़ासी सर्विस भी कर रही है। उसी के पैसे से दिल्ली में ऐश कर रहा है। मोटरबाइक ले ही गया है मस्ती के लिए। बच्चा पालना और ऐश करना- दो ही काम है उसके।"[351]

4.6 वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप जी प्रकार की संस्कृति आज विकसित हो रही है उसमें जीवन जीने वाले अधिकांश युवाओं की सोच अपने बड़े-बुज़ुर्गों के बारे ठीक नहीं है। इन लोगों की दृष्टि में बड़े-बुजुर्ग सिर्फ़ प्रवचन देते रहते हैं। ऐसे लोग घर में वृद्धों को वह आदर और सम्मान नहीं देते हैं जिनके वह हक़दार हैं। लोग घर के वृद्धों से किसी बात या निर्णय लेने से कतराते भी हैं। अधिकांश लोग अपने बड़े-बुजुर्गों के प्रति कर्तव्यों तथा दायित्वबोध से मुकरते जा रहे हैं। यही कारण है कि आज इस देश में वृद्धावस्था एक अभिशाप बनती जा रही है। आज आए दिन बुज़ुर्गों के विरूद्ध किये जानेवाले अपराधों की संख्या दिखाई और सुनाई पड़ती है। लगभग रोज अखबारों व मीडिया में वृद्धों के संत्रास की खबरें देखने मिल जाती हैं। कहीं उन्हें घर से निकाल देने की तो कहीं उनके साथ अभद्र व्यवहार की खबरें लगातार आती रहती हैं। ऐसी स्थिति में आज वृद्ध अपने आपको दुर्बल, एकाकी महसूस कर रहा है। आज के समय के उनके बच्चे अपने इन वृद्ध माँ-बाप की देखभाल की दुविधा में फँसे हुए हैं। नौकरी कर रहे शहरी लोगों के पास पैसा तो ख़ूब है लेकिन अपने माँ-बाप के लिए समय नहीं है। आज घरों में दादा-दादी या माँ-बाप को एक बोझ के रूप में देखा जाने लगा है। लेकिन वृद्धों को सिर्फ़ एक बोझ समझना एक बहुत बड़ी भूल है जिसका भयंकर परिणाम हमारी आने वाली पीढ़ियों को भुगतना भी पड़ सकता है। यह पूँजी ही है जो संबन्धों की गरिमा को नष्ट कर दे रही है। यही वजह है कि आज देश में ओल्ड एज होम की संख्या में ईजाफ़ा हो रहा है। हेल्पएज इंडिया, 1998 की रिपोर्ट के अनुसार- भारत में करीब 728 ओल्ड एज होम हैं। जिनमें से 547 ओल्ड एज होम

[351] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं. 89

की विस्तृत जानकारी भी उपलब्ध है। इनमें से 325 ओल्ड एज होम नि:शुल्क उपलब्ध हैं, जबकि 95 ओल्ड एज होम शुल्क देकर रहने के आधार पर हैं। 116 ओल्ड एज होम ऐसे हैं जहाँ पर नि:शुल्क सुविधा के साथ-साथ शुल्क देकर रहने की भी सुविधा उपलब्ध है। 11 ओल्ड एज होम ऐसे भी हैं जिनके बारे में कोई सूचना ठीक से उपलब्ध नहीं है। पूरे देश में कुल 278 ओल्ड एज होम गरीब तथा बीमार लोगों के लिए उपलब्ध हैं। 101 ओल्ड एज होम विशेष रूप से महिलाओं के लिए हैं। भारत में केरल एक ऐसा प्रदेश है जहाँ पर ओल्ड एज होम की संख्या देश में सर्वाधिक है। यहाँ कुल 124 ओल्ड एज होम हैं।

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में वृद्धों की समस्या तथा वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आए बदलाव को बहुत ही यथार्थ ढंग से चित्रित किया गया है। 'जिंदगी ई-मेल', 'तीसरी ताली', 'दस बरस का भँवर', 'दौड़', रेहन पर रग्घू' आदि उपन्यासों में इस समस्या से संबंधित अनेक प्रसंग आए हैं। 'जिंदगी ई-मेल' उपन्यास में वृद्धों की इस समस्या को लेखिका सुषमा जगमोहन ने बहुत ही यथार्थपरक ढंग से उठाया है। इस उपन्यास के नायक 'दीप' और नायिका 'तनु' विदेश कनाडा जाने का फैसला स्वयं ही कर लेते हैं और घर के सबसे बड़े बुजुर्ग बाबा के बारे में वह तनिक भी नहीं सोचते हैं। वह घर के सबसे बड़े बुजुर्ग बाबा तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। बाबा अपने इन बच्चों की जिद के सामने एकदम से असहाय नज़र आते हैं। लेकिन इसकी चर्चा जब दीप बाबा से करता है तो बाबा अपने मन की बात उससे बिना झिझक के कह डालते हैं। दीप बाबा से कहता है- "बाबा एक बार इन लोगों को वहाँ (कनाडा) की जिंदगी देख आने दो। आप कुछ पैसा दे दो। भरोसा रखो, सारा पैसा आते ही चुका दूँगा। समझ लो, आपका पैसा बैंक में रखा है।" लेकिन बाबा ने तपाक से कह दिया- "जो बेटा मुझे बुढ़ापे में छोड़कर जा रहा हो, उसका क्या भरोसा करूँ? मेरे पास वही थोड़ा-सा पैसा है। तू तो बीबी को लेकर कनाडा जाकर बैठ

जाएगा। मैं इस बुढ़ापे में किस घर जाकर भीख माँगूँगा?...इस बूढ़े बाप के बारे में सोचा है कभी।"[352] लेकिन इन सबके बावजूद दीप और तनु कनाडा जाने का फैसला कर ही लेते हैं।

4.7 लोक संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता प्रसार

भूमंडलीकरण के विकास और विस्तार में सूचना तथा संचार तकनीकी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन इन संचार साधनों ने जहाँ भारत के विकास में अपना अतुलनीय योगदान दिया है वहीं पर इसके कुछ ख़तरनाक पहलू भी सामने आए हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे संचार साधनों के वैषम्य पक्ष को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "जन संचार के साधन आकाश में अपसंस्कृति की वर्षा कर रहे हैं, जो एक आत्मकेंद्रित और भोगवादी जीवन-दृष्टि विकसित कर रही है। इसके कारण सामाजिक लक्ष्य और विकास के राष्ट्रीय संकल्प डगमगाने लगे हैं।"[353] भूमंडलीकरण तथा सूचना और संचार क्रांति के इस आधुनिक यांत्रिक युग में हर कोई ज्यादा से ज्यादा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा धन की लालसा रखने लगा है। इसका प्रभाव समाज पर भी बहुत ही तीव्र गति से पड़ रहा है जिससे हमारा समाज भी परिवर्तित हो रहा है। आज जो समाज निर्मित हो रहा है उसमें जीवन-यापन करने वाला लगभग प्रत्येक मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन-मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार- "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हे अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध

[352]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं. 27

[353]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ सं.130

अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।"[354] यह अपसंस्कृति प्रसार हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक है तथा इसके बहुत ही खतरनाक पहलू हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे अपसंस्कृतियों के उदय को समाज के लिए सबसे भयावह पहलू मानते हुये इसके विषय में लिखते हैं कि- "बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियंत्रित होने लगते हैं। यह नव-सुखवाद सुख की व्याख्या करता है। यह 'प्ले ब्वॉय' और 'पेन्ट हाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौन्दर्य की खोज करती है। स्वच्छंदता के नाम पर यौन अनुशासन क्षीण होता है। पारिवारिक बंधन इस सीमा तक ढीले होते हैं कि विवाह की संस्था ही अनावश्यक हो जाती है। मनोरंजन के नाम पर ढेर सारी यौन विकृतियों का प्रदर्शन होता है, जिनमें अनेक अप्राकृतिक और असामान्य यौनाचर भी सम्मिलित हैं। साहित्य का भी अवमूल्यन होता है। वह सृजन न होकर नीचे धरातल की व्यावसायिकता बन जाता है।...संस्कृति का उद्योग अनेक मैडोनाओं और माइकल जैक्सनों को जन्म देता है, जिनसे विकृतियाँ विस्तार पाती हैं।...यह अपसंस्कृति अनियंत्रित विकास और छद्म आधुनिकता की देन है, जिनसे समृद्ध और विकासशील देश आज त्रस्त हैं और सार्थक विकल्पों की तलाश कर रहे हैं।"[355] आज संस्कृति की चर्चा के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण मुद्दा अपसंस्कृति का भी है। यह अपसंस्कृति वास्तव में पूँजी वादी संस्कृति ही है। अपसंस्कृति अर्थात् पूँजी वादी संस्कृति हमारी संस्कृति का वह पक्ष है, जो पूँजी वादी समाज और उसकी मानसिकता से प्रभावित है।...आज एक

---

[354]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ सं. 134

[355]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ सं. 171

तरफ परंपरा का उपयोग रूढ़ियों को मजबूत करने के लिए सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध करने के लिए किया जा रहा है तो दूसरी तरफ उसे नष्ट कर देने, हमारी चेतना और आदत से निकाल देने का भी अभियान चलाया जा रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय संस्कृति पर हावी होती पाश्चात्य अपसंस्कृति इसका उदाहरण है। यह पूँजी वादी संस्कृति अर्थात् अपसंस्कृति और जीवन के प्रति अतिशय भौतिकता भूमंडलीकरण की ही देन है।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक जीवन में बहुत ही व्यापक स्तर पर परिवर्तन या बदलाव आया है। भूमंडलीकरण तथा सूचना संक्रांति के इस आधुनिक यांत्रिक युग में हर कोई ज्यादा से ज्यादा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा धन की इच्छा रखने लगा है। आज का मनुष्य अपने भौतिक जीवन को सुख-सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए बहुत से ऐसे कार्यों को करता जा रहा है जिसे उसको नहीं करना चाहिए। नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि उसके लिए कोई मूल्य ही नहीं रहे। अर्थात् हमारे जीवन-मूल्य लगातार संक्रमित होते जा रहे हैं। जहाँ पर हमारी प्राचीन उक्ति ‘वसुधैव कुटुंबकम’ में समस्त मानव-जाति अर्थात् मनुष्यता के कल्याण की भावना निहित थी उसे आज भूमंडलीकरण द्वारा उपजी उपभोक्तावादी संस्कृति या अपसंस्कृति ने उखाड़कर रख दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे समाज तथा साहित्य पर भी पड़ रहा है। आज जो समाज निर्मित हो रहा है उसमें जीवन-यापन करने वाला लगभग प्रत्येक मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। डॉ. श्यामा चरण दूबे अपनी पुस्तक ‘समय और संस्कृति’ में लिखते हैं कि- “समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए

मूल्य ला रही है, जिन्हे अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।"[356] वह आगे लिखते हैं कि- "संक्रमण के इस दौर में सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास भी एक गंभीर संकट के रूप में उभर रहा है। वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक विकास और सामाजिक विकास की असमान गति और विसंगतियों से सामाजिक मान्यताएँ क्षीण हो रही हैं और सांस्कृतिक मूल्य विश्रृंखलित हो रहे हैं।"[357]

भूमंडलीकरण का इतना व्यापक प्रभाव हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि आज साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। आज साहित्य की जितनी भी विधाओं में भूमंडलीकरण की विभीषिका से संबंधित साहित्य का सृजन हो रहा है उन सभी विधाओं में हिंदी उपन्यास सबसे अग्रणी है। हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण से उपजी विभिन्न समस्याओं तथा विसंगतियों का चित्रण बहुत ही व्यापक स्तर पर दिखाई देता है। हिंदी के समकालीन उपन्यासकारों ने सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण या मूल्य-संक्रमण की पीड़ा को अपनी रचनाओं में बहुत ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति दी है। हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव तथा इससे पैदा हुई अपसंस्कृति के यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासकारों में **काशीनाथ सिंह**, **गोविंद मिश्र**, **संजीव**, **एस. आर. हरनोट**, **रवीद्र कालिया**, **रवीद्र वर्मा**, **राजू शर्मा**, **गिरिराज किशोर**, **अखिलेश**, **प्रदीप सौरभ**, **रणेन्द्र**, **राकेश कुमार सिंह**, **विनोद कुमार**, **कुणाल सिंह**, **स्वयं प्रकाश**, **बद्रीसिंह भाटिया**, **पंकज सुबीर**, **अजय नावरिया**, **विजय सौदाई**, **सत्यनारायण**

[356]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-134, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005

[357]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-130, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005

पटेल, तथा महिला उपन्यासकारों में **अलका सरावगी**, **ममता कालिया**, **मधु कांकरिया**, **कमल कुमार**, **नीलाक्षी सिंह**, **सुषमा जगमोहन**, **निर्मला भुराड़िया** आदि प्रमुख हैं।

ममता कालिया के उपन्यास 'दौड़' में तिरोहित होते जा रहे मानवीय जीवन-मूल्यों को दिखाया गया है। यह एक प्रकार से मानवीय-संबन्धों के ह्रास की कथा है। आज आधुनिकता के नाम पर जो परिवर्तन या बदलाव हो रहा है उसका असर हमारे मानवीय-संबन्धों पर भी पड़ रहा है। अतिशय भौतिक वादी आज की यह युवा पीढ़ी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सबको एक सीढ़ी की तरह इस्तेमाल कर रही है। इनके लिए बंधन, अपनापन, परिवार, मानवीयता सब दोयम दर्जे की चीजे हैं। इस उपन्यास में 'रेखा' और 'राकेश' अपने दोनों बेटों 'पवन' और 'सघन' को जीवन की दौड़ में पिछड़ने देना नहीं चाहते थे, उन्हे वह समय के साथ-साथ आगे बढ़ने के लिए सदैव प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते रहे। लेकिन उनका किया धरा एक दिन उन्ही पर भारी पड़ने लगा। पहले तो इन लोगों ने उन्हे दौड़ना सिखाया और जब वे दौड़ने लगे तब उन्हे लगा की बच्चे तो उनसे बहुत दूर होते जा रहे हैं। उन्हे दौड़ना आखिर किसने सिखाया ? 'पवन' और 'सघन' आज के दौर के ऐसे युवा हैं जिनके लिए मानवीय-मूल्य, रिश्ते-नाते, संस्कृति, परिवार, तथा परम्पराओं आदि के लिए उनके मन में कोई प्रेम या श्रद्धा नहीं है। इसका उदाहरण हमें तब देखने को मिलता है जब 'राकेश' अपने बेटे 'पवन' से एथिक्स की बात करते हैं तो 'पवन' गुस्से में कहता है कि "मेरे हर काम में आप यह क्या एथिक्स, मोरैलिटी जैसे भारी-भरकम पत्थर मारते रहते हैं। मैं जिस दुनिया में हूँ वहाँ एथिक्स नहीं, प्रोफेशनल एथिक्स की जरूरत है।"[358] एथिक्स एवं मोरैलिटी की बात सिर्फ 'पवन' के लिए पत्थर के समान नहीं है बल्कि यह उसके जैसे प्रत्येक उस युवा का है जो इस तरीके की सोच रखते हैं।

[358]दौड़ (उपन्यास), ममता कालिया, पृष्ठ सं.-66

सुषमा जगमोहन का उपन्यास ‘जिंदगी ई-मेल’ भी मानवीय-सम्बन्धों, संवेदनाओं, एवं विघटित होते मूल्यों की ही व्यथा-कथा है। इसमें एक परिवार के विघटन की कथा को बहुत मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस तरह आज का तकनीकी और सूचना तंत्र सम्पन्न व्यक्ति आधुनिक सूचना संक्रांति के सहारे सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच तो गया है लेकिन इस लक्ष्य प्राप्ति में वह अपने प्राचीन जीवन-मूल्य, संस्कार तथा कर्तव्यों को एकदम से भुला दिया है। इसके लिए उसे अपने पारिवारिक तथा सामाजिक-सम्बन्धों एवं सभी नैतिक-मूल्यों की तिलांजलि भी देनी पड़ी है। वह अपनों से बहुत दूर जा चुका है। उपन्यास में कनाडा में नौकरी कर रही एक पत्नी की विवशता एवं सोच को दर्शाया गया है। अधिक धन कमाने की चाह और रुतबे के लिए उपन्यास की नायिका कनाडा चली जाती है। यहाँ संबंध सिर्फ टेलीफोन और ईमेल के जरिये ही जीवित बचे हैं। उपन्यास का पात्र ‘दीप’ शायद भोगा हुआ यथार्थ ही तो कहता है “सॉरी, बेटा। हमने कनाडा जाने का बहुत गलत कदम उठाया। इसी कनाडा ने मेरा घर और हमें अलग कर दिया। अब लगता है, मुझे राम की तरह वनवास मिल गया हो।”[359] अधिक धन की इच्छा और भौतिक उन्नति ने व्यक्ति को स्वार्थी बना दिया है। एक वृद्ध तथा बीमार पिता के प्रति एक बेटे तथा बहू की क्या ज़िम्मेदारी होनी चाहिए इनसे आज की पीढ़ी अनभिज्ञ हो चुकी है। आज की पीढ़ी अपने कर्तव्यों तथा मूल्यों के प्रति जागरूक नहीं रही। बल्कि इससे वह किनारा करते जा रहे हैं। इन्ही सब विसंगतियों तथा विघटित होते जीवन-मूल्यों को उपन्यास में बख़ूबी चित्रित किया गया है।

काशी नाथ सिंह का उपन्यास ‘रेहन पर रग्घू’ भी मनुष्यता के इसी क्षरण की ही कहानी है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे मानवीय तथा पारिवारिक-संबंध डगमगाने लगे हैं। प्रस्तुत उपन्यास में विघटित होते सामाजिक-सांस्कृतिक तथा मानवीय-मूल्यों की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

[359]जिंदगी ई-मेल (उपन्यास), सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं.-105

भूमंडलीकरण ने आज ऐसी अपसंस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है। "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे - थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[360] इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में मूल्य संक्रमण की सफल अभिव्यक्ति हुयी है। इस दौर के उपन्यासों में मानवीय सम्बन्धों का ह्रास, पारिवारिक विघटन की समस्या, नयी पीढ़ी की पुरानी पीढ़ी के प्रति सोच, अनादर की भावना, वृद्धावस्था की समस्या, अकेलेपन का संत्रास, संस्कृति का क्षरण, मानवीय तथा नैतिक मूल्यों का पतन आदि समस्याओं तथा विसंगतियों पर काफी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। लगभग सभी उपन्यासकारों ने भूमंडलीकरण की त्रासदी को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है तथा उसके भयंकर दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया है। आज जरूरत है हमें अपसंस्कृति (भूमंडलीकरण) से बचने की, उससे सचेत होने की। इसके साम्य पक्ष तथा वैषम्य पक्ष को पहचानने की। इसके सही पक्ष का स्वागत करना है और इसके वैषम्य पक्ष का तिरष्कार। नहीं तो हमारे तिरोहित होते मूल्यों के साथ-साथ हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा। हमें मूल्यहीन नहीं बनना है बल्कि अपने सभी प्रकार के मूल्यों की रक्षा करनी है। आज जरूरत है हमें अपने मूल्यों के संरक्षण की, उनके प्रति प्रेम की तथा उन्हे पोषित और पल्लवित करने की।

4.8 देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट

---

[360] रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं.-98

संसार में लगभग 6900 भाषाएं बोली जाती हैं, जिनमें से 2500 भाषाएँ विलुप्त होने की कगार पर हैं। यूनेस्को के अनुसार भारत में 1950 से नौ भाषाएं विलुप्त हो गई हैं जबकि 187 भाषाएं लुप्त होने के कगार पर हैं। अंग्रेजी के वर्चस्व के चलते दुनिया की अनेक मातृभाषाओं पर संकट के बादल मँडराने लगे हैं। भाषाओं को संरक्षण देने की दृष्टि से ही 1990 के दशक में हर साल अंतरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस मनाने की घोषणा की गई, लेकिन इसके अभी तक कोई सार्थक परिणाम देखने को नहीं मिले हैं। देशी अर्थात् क्षेत्रीय भाषाएं और बोलियां हमारी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विरासत हैं। इस विरासत को बचाना हमारी ज़िम्मेदारी है। कोई भी भाषा चाहे कितने ही छोटे क्षेत्र में क्यों न बोली जाती हो लेकिन उसमें ज्ञान के असीमित भंडार की कमी नहीं होती है। ऐसी भाषाओं का उपयोग जब मातृभाषा के रूप में नहीं होता है तो वह विलुप्त होने लगती हैं। यूनेस्को द्वारा जारी एक जानकारी के मुताबिक असम की देवरी, मिसिंग, कछारी, बेइटे, तिवा और कोच राजवंशी सबसे संकटग्रस्त भाषाएं हैं। इन भाषा-बोलियों का प्रचलन लगातार कम हो रहा है। नई पीढ़ी के सरोकार असमिया, हिंदी और अंग्रेजी तक सिमट गए हैं। इसके बावजूद 28 हजार लोग देवरी भाषी, मिसिंगभाषी साढ़े पांच लाख और बेइटे भाषी करीब 19 हजार लोग अभी भी हैं। इनके अलावा असम की बोडो, कार्बो, डिमासा, विष्णुप्रिया, मणिपुरी और काकबरक भाषाओं के जानकार भी लगातार सिमटते जा रहे हैं। घरों में, बाजार में व रोजगार में इन भाषाओं का प्रचलन कम हो गया है। इसकी वजह से नई पीढ़ी इन भाषाओं को सीख-पढ़ भी नहीं रही है। भारत एक बहुभाषा-भाषी देश रहा है और विभिन्नता में एकता इसकी मूलभूत विशेषता रही है लेकिन आज इस बहुभाषा-भाषी देश भारत में देशी भाषाओं के अस्तित्व पर संकट और भी गहराने लगा है जिससे उसकी भाषाई विविधता लगभग समाप्त होती जा रही है। नेशनल ज्योग्राफिक सोसायटी एण्ड लिविंग टंग्स इंस्टीटयूट फॉर एंडेंजर्ड लैंग्वेजेज के अनुसार पूरी दुनिया में कुल सत्ताइस सौ भाषाएं संकटग्रस्त हैं। भारत की तमाम स्थानीय भाषाएं व बोलियां अंग्रेजी के बढ़ते प्रभाव के कारण संकटग्रस्त हैं। व्यावसायिक,

प्रशासनिक, चिकित्सा, अभियांत्रिकी व प्रौद्योगिकी की आधिकारिक भाषा बन जाने के कारण अंग्रेजी रोजगारमूलक शिक्षा का प्रमुख आधार बना दी गई है। इन कारणों से उत्तरोत्तर नई पीढ़ी मातृभाषा के मोह से मुक्त होकर अंग्रेजी भाषा अपनाने को विवश है। इस प्रकार से भाषा की मौत हो जा रही है। किसी भाषा के मृत या खत्म होने का मतलब है कि एक संस्कृति का खत्म हो जाना। भूमंडलीकरण या नव-पूँजीवादी इस युग में भाषाओं के लुप्त होने की संख्या में इजाफ़ा हुआ है। भूमंडलीकरण ने दुनिया के देशों की आपसी सीमाओं, सरहदों एवं दीवारों को ध्वस्त कर दिया है। प्रत्येक देश तथा प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे पर पूरी तरह से निर्भर हो गया है। इसी के साथ एक-दूसरे से संवाद की जरूरत बढ़ गई है। इस कारण अंग्रेजी का महत्व और बढ़ा है, क्योंकि इसमें संपर्क भाषा बनने की ताकत सबसे ज्यादा है। अंग्रेजी आज रोजी-रोजगार, व्यापार और तकनीक की भाषा है। यही वजह है कि आज लोकभाषाओं से लोगों का ध्यान हटता जा रहा है। असम, अरुणाचल, जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, झारखंड, मेघालय, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और त्रिपुरा जैसे दूसरे राज्यों में प्रचलित लगभग सौ भाषाओं पर संकट है। मूल वजह इन भाषाओं का संविधान की आठवीं अनुसूची से बाहर होना है। खास बात है कि देश के लगभग साढ़े तीन करोड़ लोग इन भाषाओं को पढने-लिखने व बोलने वाले हैं। फिर भी केंद्र व राज्य सरकारें उनके अस्तित्व को लेकर बहुत फिक्रमंद नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) ने आठवीं अनुसूची के बाहर की इन सौ भाषाओं में से 62 के अस्तित्व को खतरे में माना है। लेकिन वाकई में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जिस देश में शिक्षा का माध्यम ही एक विजातीय व विदेशी भाषा (अंग्रेज़ी) हो तो उस देश की भाषाओं का क्या भविष्य हो सकता है? और उसमें भी जब वह भाषा भी साम्राज्यवादी देश की हो जिसने सिर्फ़ आज तक लूटने का काम किया हो।[361] यह कैसी विडंबना है कि आज भूमंडलीकरण इस युग में कुछ गिनी-चुनी भाषाओं को छोड़कर ज़्यादातर भाषाएं

[361]लेख- लुप्त होती भाषाएँ, राजकुमार सोनी, http://khabarlok.blogspot.in/2011/09/blog-post_5457.html

संकटग्रस्त स्थिति में हैं। हमारा समाज-संसार विकसित जरूर हो रहा है लेकिन इस विकास के साथ-साथ विकृति अर्थात् अपसंस्कृति भी हमें उपहारस्वरूप में मिल रही है। आज विकास तथा सभी को एक सूत्र में बाधने के नाम पर भी देशी और क्षेत्रीय भाषाओं की बलि दी जा रही है। जिससे यह भाषाएँ हमेशा-हमेशा के लिए खत्म व लुप्त होती जा रही हैं। भाषाविद् भाषाओं के लुप्त होने को मनुष्य की मृत्यु के समान मानते हैं। भाषाशास्त्री डेविड क्रिस्टल अपनी पुस्तक, लैंग्वेज डेथ में कहते हैं, भाषा की मृत्यु और मनुष्य की मृत्यु एक-सी घटना है, क्योंकि दोनों का ही अस्तित्व एक-दूसरे के बिना असंभव है।[362] दुनिया भर में इस वक्त चीनी, अंगरेजी, स्पेनिश, बांग्ला, हिंदी, पुर्तगाली, रूसी और जापानी कुल आठ भाषाओं का राज है। दो अरब 40 करोड़ लोग ये भाषाएं बोलते हैं। इसमें से अंग्रेजी का प्रभुत्व सर्वाधिक है और वह वैश्विक भाषा के रूप में स्वीकार कर ली गई है। भाषाविज्ञानी इसे खतरनाक ट्रेंड मानते हैं। वैश्विक भाषा अंग्रेजी तथा उसके विश्व वर्चस्व को भाषाविज्ञानी स्थानीय भाषाओं के लिए बड़ा खतरा मानते हैं। हिंदी का ही उदाहरण लीजिए। आज विश्व की आठ प्रमुख भाषाओं में इसकी गिनती है। लेकिन क्या हिंदी या बांग्ला पढ़-लिखकर कोई तरक्की कर सकता है? सिक्का उसी भाषा का चलेगा, जिसमें उच्च शिक्षा दी जाएगी, जिसमें तकनीकी ज्ञान उपलब्ध होगा और जिसमें राजकाज चलेगा। वर्तमान समय भाषाओं के लिए एक संक्रमण का दौर है। जिसमें हिंदी के साथ-साथ लगभग सभी देशी-विदेशी भाषाएँ इस संक्रमण के दौर से गुजर रही हैं। उदाहरण के रूप में देंखे तो जैसे हिंदी भाषा में भी अब हिंग्लिश का चलन बढ़ा है। भूमंडलीकरण वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव के रूप में तब्दील करने की अवधारणा है। लेकिन सभी देशी या क्षेत्रीय भाषाओं को मारकर उसके स्थान पर सिर्फ़ अंग्रेजी को स्थापित करना उचित नहीं है। भूमंडलीकरण ने बाजारवाद को बढ़ावा दिया है। इस बाजारवाद का ही प्रभाव है जिससे आज के समय के लोगों की दृष्टि भी अतिशय व्यावसायिक हो गयी है। इस व्यावसायिकता का असर साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान तथा

[362]लेख- जरूरी है भाषाओं को मरने से बचाना, सुनील शाह, https://hi.wikibooks.org

दर्शन आदि पर भी पड़ रहा है। इसी का परिणाम है कि देशज तत्वों या देशी भाषाओं के अस्तित्व पर संकट दिनोदिन गहराता जा रहा है। आज लगभग सभी देशी, स्थानीय या क्षेत्रीय भाषाएँ इसी संकट की स्थिति में हैं। दरअसल कोई भी भाषा अपने-आप में एक पूरी विरासत होती है। इसलिए आज के समय में अपनी भाषा-बोलियों को लुप्त होने से बचाना है व उन्हें संरक्षण प्रदान करना बहुत जरूरी हो गया है।

डॉ॰पुष्पपाल सिंह के शब्दों में –"वैश्वीकरण ने सभी देशों के भाषा और साहित्य को प्रभावित कर प्रचलित साहित्यिक अवधारणाओं और विभिन्न विधाओं के पारस्परिक स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिये हैं। वस्तुत: कथ्य ही किसी विधा की स्वरूप-निर्मिति में कारक बनता है। भूमंडलीकृत विश्व की समाजार्थिक,राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ जिस रूप में बदली हैं, उसी प्रकार विभिन्न विधाओं के चरित्र में भी परिवर्तन आया है। यही कारण है कि पिछले 25-30 वर्षों में उपन्यासों का शैल्पिक ढाँचा काफी-कुछ बदला हुआ दिखाई देता है।"[363] आज नए-पुराने सभी लेखक व कवि भूमंडलीकरण द्वारा उपजी परिस्थिति से विचलित और प्रभावित होकर इसे अपनी कविता तथा अन्य विधाओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, आदि के द्वारा विवेचित-विश्लेषित तथा चित्रित कर रहे हैं। खासतौर पर यदि हिन्दी उपन्यास की बात की जाय तो इसमें भूमंडलीकरण की विभीषिका को उपन्यासकारों ने बहुत ही सटीक तथा विस्तारपूर्वक विवेचित करने का प्रयास किया है। इसलिए हिन्दी उपन्यास सृजन में भूमंडलीकरण की चेतना ने एक नवीन पृष्ठभूमि पैदा की है। समकालीन हिंदी उपन्यासों के अध्ययन और विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भूमंडलीकरण की चेतना हिन्दी उपन्यासों में ज्यादा विस्तृत और विस्तार रूप में चित्रित हुयी है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप आज भ्रष्टाचार, गरीबी, दलितों की स्थिति, आदिवासियों की स्थिति, नयी नारी चेतना, किसान समस्या, आतंकवाद, विषैली राजनीति, जनतंत्र पर हाबी होता अर्थतंत्र, सामाजिक संबंधों का

[363]भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, डॉ॰ पुष्पपाल सिंह, पृष्ठ सं॰-120

ह्रास, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों का पतन आदि बुराईयों तथा विसंगतियों का और अधिक विकास तथा विस्तार हुआ है।

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास सन् 2009 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास झारखण्ड की ‘असुर जनजाति’ के संघर्षों को बयान करता है। यह आदिवासी जन-जीवन का संतप्त सारांश है। शताब्दियों से संस्कृति और सभ्यता की पता नहीं किस छन्नी से छन कर अवशिष्ट के रूप में जीवित रहने वाले असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता व संवेदनशीलता के साथ रणेन्द्र ने लिखी है। आग और धातु की खोज करने वाली, धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है।....‘बदहाल जिंदगी गुजारती संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है। एक प्रकार से ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास असुर समुदाय के अनवरत जीवन- संघर्ष का जीवंत-दस्तावेज़ है। प्रस्तुत उपन्यास में झारखण्ड के असुरों की संघर्ष गाथा का बहुत ही स्पष्ट और निर्मम चित्र खींचा गया है जो अपनी नियति (मृत्यु) के खिलाफ लड़ रहे हैं। जहाँ एक ओर इनके विरुद्ध ग्लोबल गाँव के देवता हैं जैसे-शिण्डालको, टाटा और वेदांग जैसी बहुराष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय कंपनियाँ हैं तो दूसरी ओर एम. पी. और विधायक हैं। साथ ही तीसरी ओर इनका साथ दे रहे शिवदास बाबा जैसे धार्मिक ठेकेदार भी हैं। इनका आपस में गठजोड़ सुरसा की तरह असुरों को लील जाने के लिए ही हुआ है। इन्ही शोषण की शक्तियों के खिलाफ लड़ रहे तथा संघर्ष कर रहे असुरों को अपनी नियति का एहसास है, लेकिन फिर भी वे अपनी इस नियति को चुपचाप प्राप्त होना नहीं चाहते। बल्कि आखिरी सांस तक संघर्ष करते हुए अपनी नियति को प्राप्त होना चाहते हैं। इनकी लड़ाई लोकतांत्रिक व्यवस्था के खिलाफ न होकर लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर शोषण करने वाले उन ज़ालिमों से है जो इन्हें जड़ से उखाड़ने पर आमादा हैं। प्रधानमंत्री के नाम लिखा गया पत्र इस बात का ठोस सबूत है। रुमझुम द्वारा प्रधानमंत्री के नाम लिखी गयी चिट्ठी एक प्रकार से आदिवासियों तथा असुर समुदाय का वास्तविक

यथार्थ प्रस्तुत करती है। इसे उपन्यासकार ने बहुत ही गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। इसे पढ़ने के बाद हर किसी का मन भावुक हो उठेगा। उस चिट्ठी का अंश कुछ इस प्रकार से है-"आपने बहुत ईमानदारी से इस बात को कई मौके पर स्वीकार किया है कि बाज़ार के बाहर रह गए लोगों को इस व्यवस्था का लाभ नहीं मिल सका है। साथ ही आप इस व्यवस्था को मानवीय चेहरा देने की बात करते रहे हैं जिसने हमारे मन में बड़ी आस जगाई है। .... हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने-जलाने का विरोध किया तो दुष्ट दैत्य कहलाये। उन पर आक्रमण हुआ और लगातार खदेड़ा गया। .... लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदल, खुरपी, गैंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुँच गए। हमारे गलाये लोहे के औजारों की पूछ खत्म हो गयी। लोहा गलाने का हजारों साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया। मजबूरन पात देवता की छाती पर हल चलाकर हमने खेती शुरू की। बॉक्साइट के वैध-अवैध खदान, विशालकाय अजगर की तरह हमारी जमीन को निगलता बढ़ता आ रहा है। हमारी बेटियाँ और हमारी भूमि हमारी हाथों से निकलती जा रही हैं। ....हम असुर अब सिर्फ़ आठ-नौ हजार ही बचे हैं। हम बहुत डरे हुए हैं। हम खत्म नहीं होना चाहते। भेड़िया अभयारण्य से कीमती भेड़िये जरूर बच जाएँगे श्रीमान। किन्तु हमारी जाति नष्ट हो जाएगी। सच कहें हम बिना चेहरे वाले इंसान होकर जीना नहीं चाहते श्रीमान। हमें बचा लीजिये श्रीमान। हमारी आखिरी आस आप ही हैं।"[364]

'गायब होता देश' उपन्यास 'मुंडा' जनजाति पर केन्द्रित है। 'मुंडा' जनजाति प्राचीनतम जनजातियों में से एक है, तथा विश्वास किया जाता है कि ये लोग कोल वंश के हैं। बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, त्रिपुरा तथा पश्चिम बंगाल राज्यों में इन्हे अनुसूचित जनजाति में विनिर्दिष्ट किया गया है। बिहार

---

[364]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृष्ठ सं. 83-84

में ये मुख्य रूप से छोटा-नागपुर क्षेत्र में तथा रांची, सिंघभूम, गुमला व लोहारडागा जिलो मे पाये जाते हैं। उड़ीसा में ये सुंदरगढ़ और संबलपुर तथा पश्चिम बंगाल में जलपाईगुड़ी, मिदनापुर, पश्चिम दिनाजपुर और 24-परगना जिलो में पाये जाते हैं। इनकी मुख्य भाषा मुंडारी है। मुंडारी भाषा में मुंडा शब्द का अर्थ 'प्रतिष्ठा और धन से संपन्न व्यक्ति' होता है। ये अपने-अपने राज्यों में हिंदी, उड़िया, और बंगला भी बोलते हैं।....मुंडा लोग मुख्य रूप से कृषक वर्ग के हैं। 'सिंगबोंगा' इनके महान देवता हैं। 'गरम-धरम', 'माघे-परब', तथा 'सरहुल' इनके प्रमुख त्यौहार हैं।[365] युवा आलोचक अनुज लुगुन का भी है- "झारखंड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास (गायब होता देश) सम्पूर्ण आदिवासी समाज के संकट की ओर ध्यान खींचता है। पूँजी वादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस तरह घास की तरह एक मानव समुदाय को चरते जा रहे हैं, 'गायब होता देश' इसी की मार्मिक कहानी है।"[366]

4.9 खान-पान व वेश-भूषा

भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का बहुत ही तीव्र-गति से विस्तार हुआ है। इस उपभोक्तावादी अपसंस्कृति ने हमारे खान-पान, रहन-सहन तथा वेश-भूषा आदि को भी प्रभावित किया है। आज नई युवा पीढ़ी को पिज्जा, बर्गर, पेप्सी, आइसक्रीम आदि जैसे खाद्य-पदार्थ आकर्षित करने लगे हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो भूमंडलीकरण के कारण भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन तथा पहनावे में भारी बदलाव आया है। आज बड़े-बड़े होटलों में खाना एक फ़ैशन बन गया है। मैकडोनाल्ड, के. एफ़. सी. जैसे रेस्तराँ समस्त विश्व में खुल गए हैं। पहनावे में जीन्स

---

[365]भारतीय जनजातियां, रूपचन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 33-35

[366]गायब होता देश (उपन्यास) पर अनुज लुगुन की टिप्पणी, संकट संघर्ष और आधुनिकता (समालोचन से) https://samalochan.blogspot.in/2014/06/blog-post_14.html

तो आज एक विश्वव्यापी पहनावा हो गया है। भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में इस प्रकार के हुए सांस्कृतिक बदलाव को भी चित्रित किया गया है।

'दौड़' उपन्यास में खान-पान में आए बदलाव का उदाहरण देखा जा सकता है। एक दिन जब अहमदाबाद में पवन को उसका दोस्त शरद जैन जो इलाहाबाद के स्कूल में उसके साथ पढ़ा था, मिलता है तो वह उसे रोकते हुए कहता है। "यार पिजा हट चलते हैं, भूख लग रही है।" वे दोनों पिजा हट में जा बैठे। पिजा हट हमेशा की तरह लड़के-लड़कियों से गुलजार था। पवन ने कूपन लिए और काउंटर पर दे दिये। शरद ने सकुचाते हुए कहा, "मैं तो जैन पिजा लूँगा। तुम जो चाहो खाओ।" तब पवन कहता है- "रहे तुम वही के वही साले। पिजा खाते हुए भी जैनिज़्म नहीं छोड़ोगे।"

अहमदाबाद में हर जगह मैनू कार्ड में बाकायदा जैन व्यंजन शामिल रहते जैसे जैन पिजा, जैन आमलेट, जैन बर्गर।"[367]

इस होटल व रेस्तराँ की संस्कृति का जिक्र 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में भी आया है। रघुनाथ सोचते हैं- "सच बताओ रघुनाथ, तुम्हें जो मिला है उसके बारे में कभी सोचा था? कभी सोचा था कि एक छोटे से गाँव से लेकर अमेरिका तक फैल जाओगे? चौके में पीढ़ा पर बैठ रोटी प्याज़ नमक खाने वाले तुम अशोक विहार में बैठ कर लंच और डिनर करोगे।"[368]

4.10 धार्मिक स्थिति

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में धर्म और धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हुआ है। धर्म के ठेकेदारों द्वारा धर्म के नाम पर हो रहे शोषण, अत्याचार, पाखंड, भेदभाव तथा धर्मांतरण जैसी समस्या का यथार्थ अंकन इस दौर के उपन्यासों में प्रमुख रूप से हुआ है। धार्मिक

[367]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ सं. 12

[368]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं.13

भावना व धार्मिक स्थिति का चित्रण 'गायब होता देश', 'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेन्द्र), 'जिंदगी ई-मेल' (सुषमा जगमोहन), 'तीसरी ताली' (प्रदीप सौरभ), 'फाँस' (संजीव) आदि उपन्यासों में बहुत ही यथार्थ रूप में हुआ है।

'दस बरस का भँवर' उपन्यास में पूँजीपति और धर्म के ठेकेदारों की मिलीभगत और उनके झूठ का पर्दाफाँस किया गया है। उपन्यास में गणेश जी के दूध पीने की खबर कैसे भूमंडलीकृत हुई उसका एक प्रसंग प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार रवीन्द्र वर्मा लिखते हैं-"आज सुबह ग्यारह बज़े दिल्ली से खबर आई थी कि गणेश जी दूध पी रहे हैं। इस खबर की ताईद बंबई, कलकत्ता और बंगलौर से भी हुई थी। जैसे-जैसे दिन चढ़ा, पहले खबर अखिल भारतीय हुई, फिर भूमंडलीकृत हो गयी। यह भूमंडलीकरण का जमाना था। हर चीज़ समूची धरती पर फैलने को तड़प रही थी।"[369] यहाँ धर्म का भी बाजारीकरण किया जा रहा है।

धर्म के नाम पर धर्म के ठेकेदारों द्वारा निरंतर किया जा रहा धार्मिक पाखंड और शोषण भी इस दौर के उपन्यासों में बखूबी चित्रित हुआ है। 'फाँस' उपन्यास में संजीव ने धर्म और नैतिकता के नाम पर हो रहे अत्याचार और शोषण का यथार्थ प्रस्तुत किया है। धर्म और नैतिकता आदि के चक्कर में पड़कर अपना सब कुछ खो देने वाले मोहन दास बाघमारे इसका सशक्त उदाहरण हैं। सूखे की मार झेल रहा मोहन कर्ज लेने के लिए सरकारी विभागों और बैंकों का दरवाज़ा खटखटाता है। लेकिन वहाँ इनको इतने बहाने बताए जाते हैं कि वह निराश हो जाते हैं। आखिर में उन्हें जब कुछ चारा दिखाई नहीं देता तो वह अपना बैल जिसे वह भाई की तरह मानता थे, का सौदा कसाई शम्सुल से कर देते हैं। एक को सांप ने काट खाया था तो दूसरे को मजबूरी में कसाई (शम्सुल) को बेचना पड़ा। कसाई के हाथों बैल को बेचने पर मोहन की पत्नी सिंधुताई नाराज़ होकर कहती है- "पहले को साँप ने डसा था और दूसरे को...? तुमने!" इस पर मोहनदास ईगतदास बाघमारे रोते हुए कहते हैं-"मुझ पर थूको सिंधु, थूको।

[369]दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृष्ठ सं. 49

कल तक मैं बाघमारे था, आज से भाई मारे...!"[370] अब तो खुद ही मोहन बैल की जगह खेत जोत रहे हैं। सिन्धु ताई ने हल की मूठ पकड़ रखी है। धर्म का फंदा इतने आसानी से मोहन को कहाँ छोड़ सकता था। बैल को कसाई के हाथ बेचना जैसे महापाप हो गया अब इससे बचने के लिए इसका प्रायश्चित भी जरूरी था। है। इसके लिए वह धर्म के ठेकेदार निरंजन देवगिरि से मिलते हैं। गिरि मोहन को प्रायश्चित करने और शुद्धि का विधान बतलाता है। कसाई को बैल बेचना महापाप है। "बहुत भयंकर पाप है गो-वध। प्रायश्चित का एक ही उपाय है बैल के गले का फंदा गले में डालकर भिक्षा पात्र लेकर भीख मांगनी पड़ेगी। शुद्धि तक न घर में घुस सकते है न मनुष्ये की बोली बोल सकते हैं। बैल की बोली बाँ... बाँ ! या फिर संकेत ! क्या समझे ?.. इस पोला (बैलों का त्यौहार) से अगले पोला तक। फिर मैं आकर प्रायश्चित और शुद्धि के लिए विधान करूंगा।"[371] काशी के स्वामी निरंजन देव गिरी जैसे पंडित यह प्रायश्चित सुझाते हैं। पूरी दुनिया में काशी के पंडितों का कोई सानी नहीं। शिवाजी महाराज को भी उन्होंने क्षत्रिय बनाया। और इस सीधे-सादे किसान मोहन को भी धर्म का वास्ता देकर पाप-पुण्य में ऐसा उलझाया कि- ""मोहन दादा किम्वदंती बन गए, कहानी बन गए, किस्सा बन गये, कोई कहता वर्धा बस स्टैंड पर उन्हें देखा, कोई कहता सेवाग्राम रेलवे स्टेशन पर, कोई कहता फलाने गाँव में 'बाँ....बाँ' कहकर भीख मांग रहे थे, कोई कहता फलाने मंदिर में...।"[372] यह प्रकरण सरकारी अफसरों, धर्म तथा आस्था के नाम पर लोगों को लूटते आ रहे गिरि जैसे बाबाओं के प्रति हमारे अंदर इतनी घृणा, नफरत और आक्रोश पैदा कर देता है कि इन पर थूकने का मन करता है। लेकिन सीधे-साधे गरीब का कोई एक हत्यारा नहीं है। "हत्यारे कई हैं-एक से बढ़कर एक! स्वर्ण मंदिर में दुख भंजरी पाठ के लिए दस-दस साल से लाइन है... बड़े-बड़े हैं अंधविश्वास कि लाइन में। अमिताभ बच्चन समेत एक

---

[370]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 52

[371]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 56

[372]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 56

लाख तीस हज़ार। वहाँ कोई बेर का पेड़ है तो शिरडी में नीम का पेड़ और बोधगया में पीपल का, बनारस में...। ये सभी हत्यारे हैं...सभी।"[373]

'फाँस' उपन्यास में धर्मांतरण तथा धर्मांतरण के कारणों व उसकी परिस्थितियों का भी यथार्थ चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में समाज की इस जटिल जातीय जकड़न, सूखे और भूखेपन की मार तथा समानता और बराबरी की आकांक्षा के चलते मोहन दास बाघमारे की पत्नी सिंधुताई बौद्ध धर्म अपना लेती है। यही नहीं उपन्यास के नायक 'शिबू' (शिवनारायण) की पत्नी 'शकुन' भी हिन्दू धर्म की समस्याओं से आजिज़ आकर अंतत: बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेती है।

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक नई प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ। लेकिन यह संस्कृति भारत के लिए एक अपसंस्कृति साबित हुई है। वाकई में भूमंडलीकरण द्वारा उपजी संस्कृति आज एक अपसंस्कृति बन गई है। जिसके लिए करुणा, दया, भावना, भाईचारे, आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा है। यह एक प्रकार से लाभ की संस्कृति बनकर रह गयी है। इसमें स्वार्थपरता की भावना और अधिक बलवती हुई है। इस भूमंडलीकरण से उपजी संस्कृति ने परिवार व्यवस्था का लगभग खात्मा ही कर दिया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने परिवार जैसी इकाई को तहस-नहस कर डाला है। भूमंडलीकरण के कारण ही दिखावे के उपभोग की संस्कृति का अत्यंत तीव्र गति से विकास हुआ है। संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र-विघटन और एकल परिवार व्यवस्था का चलन बढ़ा है। तथा शहरों में एक नए तरह की सहजीवन-प्रणाली का चलन भी बढ़ा है। साथ ही वृद्धों के प्रति आज की युवा पीढ़ी का नजरिया भी बदल गया है। आज की नई पीढ़ी के लिए वृद्ध एक बोझ बन गए हैं। इस प्रकार वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव तथा लोक-संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का उदय भूमंडलीकरण के कारण ही हुआ है।

---

[373]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं. 179

अध्याय-5

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक एवं आर्थिक यथार्थ

5.1 उपभोक्तावाद का उदय और प्रसार तथा उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि

5.2 संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह

5.3 दलाल, बिचौलियों का बढ़ता प्रभाव

5.4 किसान एवं मजदूरों की समस्या

5.5 यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, सेक्स वर्कर तथा नशाखोरी की प्रवृत्ति

5.6 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और कार्पोरेट जगत का वास्तविक यथार्थ

5.7 पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़

5.8 राजनैतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न

5.9 वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति

5.10 साम्प्रदायिक राजनीति एवं राजनीति का अपराधीकरण

अध्याय-5

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक एवं आर्थिक यथार्थ

5.1 उपभोक्तावाद का उदय और प्रसार तथा उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि

भारत में दसवें दशक के आरंभ मे उदारीकरण की नीति (1991) के साथ ही भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण, नवनिवेशीकरण आदि का उदय होता है। ऐसे में भारत दुनिया के सभी देशों के लिए 'मुक्त बाज़ार' का द्वार खोल देता है। जिस कारण निजीकरण को प्रोत्साहन दिया जाने लगा और इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में कई विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनिया स्थापित होने लगी। आज तो भारत दुनिया के सभी देशों के लिए उभरता हुआ सबसे बड़ा बाज़ार साबित हो रहा है। यह 'उदारीकरण' और 'निजीकरण' 'वैश्वीकरण' के ही कारण आये हैं। इन्होने राष्ट्र-राज्यों की भूमिका को कमजोर बना दिया है।[374] 'मुक्त बाज़ार' की इस अर्थव्यवस्था में 'निजीकरण' और 'रियल स्टेट' को बढ़ावा मिला। नतीज़ा यह हुआ कि पहले के मुकाबले अब प्राकृतिक संसाधनों (जल, जंगल और जमीन) का दोहन तीव्र गति से बढ़ने लगा है। इनके दोहन में बड़ी-बड़ी निजी क्षेत्र की कंपनियाँ ज़ोर-शोर से लगी हुई हैं और सरकार भी यही चाह रही है। इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ही बाजारवाद तथा उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया। भूमंडलीकरण के इस विकास और विस्तार में सूचना तथा संचार तकनीकी का भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। डॉ. श्यामा चरण दुबे संचार साधनों के वैषम्य पक्ष को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "जन संचार के साधन आकाश में अपसंस्कृति की वर्षा कर रहे हैं, जो एक आत्मकेंद्रित और भोगवादी जीवन-दृष्टि विकसित कर रही है। इसके कारण सामाजिक लक्ष्य और

[374]आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस.एल.दोषी, पृष्ठ-315

विकास के राष्ट्रीय संकल्प डगमगाने लगे हैं।"[375] भूमंडलीकरण तथा सूचना और संचार क्रांति के इस आधुनिक यांत्रिक युग में हर कोई ज्यादा से ज्यादा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा धन की लालसा रखने लगा है। इसका प्रभाव समाज पर भी बहुत ही तीव्र गति से पड़ रहा है जिससे हमारा समाज भी परिवर्तित हो रहा है। आज जो समाज निर्मित हो रहा है उसमें जीवन-यापन करने वाला लगभग प्रत्येक मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन-मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार- "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हे अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।"[376] यह अपसंस्कृति प्रसार हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक है तथा इसके बहुत ही खतरनाक पहलू हैं। डॉ. श्यामा चरण दुबे अपसंस्कृतियों के उदय को समाज के लिए सबसे भयावह पहलू मानते हुए इसके विषय में लिखते हैं कि- "बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियंत्रित होने लगते हैं। यह नव-सुखवाद सुख की व्याख्या करता है। यह 'प्ले ब्वॉय' और 'पेन्ट हाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौन्दर्य की खोज करती है।

[375]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-130, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005
[376]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-134, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005

स्वछंदता के नाम पर यौन अनुशासन क्षीण होता है। पारिवारिक बंधन इस सीमा तक ढीले होते हैं कि विवाह की संस्था ही अनावश्यक हो जाती है। मनोरंजन के नाम पर ढेर सारी यौन विकृतियों का प्रदर्शन होता है, जिनमें अनेक अप्राकृतिक और असामान्य यौनाचर भी सम्मिलित हैं। साहित्य का भी अवमूल्यन होता है। वह सृजन न होकर नीचे धरातल की व्यावसायिकता बन जाता है।... संस्कृति का उद्योग अनेक मैडोनाओं और माइकल जैक्सनों को जन्म देता है, जिनसे विकृतियाँ विस्तार पाती हैं।... यह अपसंस्कृति अनियंत्रित विकास और छद्म आधुनिकता की देन है, जिनसे समृद्ध और विकासशील देश आज त्रस्त हैं और सार्थक विकल्पों की तलाश कर रहे हैं।"[377] आज संस्कृति की चर्चा के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण मुद्दा अपसंस्कृति का भी है। यह अपसंस्कृति वास्तव में पूंजीवादी संस्कृति ही है। यह पूंजीवादी संस्कृति हमारी संस्कृति का वह पक्ष है, जो पूंजीवादी समाज और उसकी मानसिकता से प्रभावित है।... आज एक तरफ परंपरा का उपयोग रूढ़ियों को मजबूत करने के लिए सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध करने के लिए किया जा रहा है तो दूसरी तरफ उसे नष्ट कर देने, हमारी चेतना और आदत से निकाल देने का भी अभियान चलाया जा रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय संस्कृति पर हावी होती पाश्चात्य अपसंस्कृति इसका उदाहरण है। यह पूंजीवादी संस्कृति अर्थात् अपसंस्कृति और जीवन के प्रति अतिशय भौतिकता भूमंडलीकरण की ही देन है। वस्तुतः भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण आज के युग की बहुआयामी, विशिष्ट तथा नई परिघटना है, जिसने पिछले कुछ वर्षों से पूरी दुनिया तथा दुनिया के समस्त लोगों के जन-जीवन को प्रभावित किया है। यह एक ऐसा बहुआयामी विषय है जिसके अंतर्गत आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी पक्ष आ जाते हैं। मानवाधिकार हो, पर्यावरण, लिंग न्याय या जनतंत्र, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती हो या टेक्नोलाजी का अभूतपूर्व प्रसार सभी बुनियादी तौर पर भूमंडलीकरण से जुड़ जाते हैं।[378] अर्थात्

[377]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-171, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005

[378]पुष्पेश पंत, भूमंडलीकरण पुस्तक की भूमिका से

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी पक्ष प्रभावित हुए हैं और हो रहे हैं। लेकिन इस बहुआयामी तथा विशिष्ट परिघटना का प्रभाव सभी के लिए एक समान नहीं है। अतः इसके कुछ साम्य पक्ष हैं तो कुछ वैषम्य पक्ष भी हैं। जहाँ पर कुछ लोगो के लिए यह विकास की एक जादुई छड़ी साबित हुआ है तो वहीं पर ज़्यादातर लोगों के लिए यह एक प्रकार की आकस्मिक आँधी या तूफ़ान ही साबित हुआ है, जिसने उन्हे उखाड़ कर फेंक दिया है। कुल मिलाकर यदि देखा जाए तो समाज के कई तबके ऐसे हैं जिनको सिर्फ इसका वैषम्य पक्ष ही ज्यादा प्रभावित किया है, जैसे- दलित तथा आदिवासी समाज आदि।

इस प्रकार देखा जाए तो भूमंडलीकरण को लोगों ने जहाँ विकास की दृष्टि से अपनाया था किंतु इसने विकास की अपेक्षा ज्यादातर विनाश ही किया है। इसके कुप्रभाव से कुछ भी अछूता नहीं है। समाज, साहित्य, संस्कृति एवं भाषा सभी स्तर पर इसने व्यापक रूप से प्रभावित किया है। वास्तव में देखा जाए तो यह एक संक्रामक बीमारी की तरह है जो समाज के हर वर्ग को संक्रमित कर देना चाहता है। यही कारण है कि आज के समय का समाज, साहित्य, संस्कृति एवं भाषा आदि का स्वरूप बिगड़ सा गया है। भूमंडलीकरण तो एक प्रकार से नव उपनिवेशवाद ही है जिसने मुक्त व्यापार के माध्यम से समाज, साहित्य, संस्कृति, भाषा एवं हमारे आचरण और व्यवहार सभी को संक्रमित कर दिया है। यह एक प्रकार से हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को बाजारू सभ्यता और संस्कृति में बदलने की गहरी साजिश है। यही नहीं भूमंडलीकरण का एक छद्म रूप बाजारवाद भी है। जो बाजार के माध्यम से हमें लुभाते हुए हमारे अन्दर प्रवेश कर चुका है। तथा हमारे माध्यम से हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति को संक्रमित करते हुए हमारी राष्ट्रभक्ति व देशभक्ति की भावना को भी निगलता जा रहा है। यह मनुष्य को सभ्यता संस्कृति एवं उसे उसके देश से विलग कर उसे सिर्फ़ व्यक्तिवादी बनाता जा रहा है। भूमंडलीकरण के इस बाज़ारवादी युग में मनुष्य सिर्फ़ एक उपभोक्ता बनकर रह गया है। इस प्रकार से

इसकी एक बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने मनुष्य को सिर्फ़ और सिर्फ़ उपभोक्ता में तब्दील कर दिया है। इस प्रकार से बाजारवाद के लिए हम सभी सिर्फ़ उपभोक्ता मात्र हैं। इसके इस कार्य में इसका साथ देते हैं मीडिया और विज्ञापन जिसके माध्यम से वह मानव मस्तिष्क को अपने कब्ज़े में कर लेता है। और इस प्रकार से व्यक्ति वैचारिक स्तर से पंगु बन जाता है। उसके सोचने और विचारने की शक्ति नष्ट हो जाती है। वह हमेशा इस युक्ति में लगा रहता है कि मेरा लाभ कहाँ है। आज के समय में सब कुछ बिकाऊ है जैसे ही उसका उचित दाम उसे मिलेगा वह अपने आप को भी बेंच देगा।

यही नहीं इसी बाज़ारवाद के कारण दिखावे और शार्टकट की संस्कृति पनपी है। इस शार्टकट और दिखावे की संस्कृति ने मनुष्य को पशु से भी बदतर श्रेणी में ला खड़ा किया है। आज का मनुष्य विकसित और विवेकशील बनने के चक्कर में विवेकहीन होता जा रहा है। आज उसे ग्लैमर वाली दुनिया कुछ ज्यादा ही पसंद आने लगी है। आज मिडनाइट पार्टियाँ धड़ल्ले से आयोजित की जा रही हैं। सभी एक दूसरे से पीछे नहीं रहना चाहते हैं। यहाँ तक कि लोग अब अपनी शादीशुदा जिंदगी से भी ऊब गए हैं और उनकी इस उबन ने 'पार्टनर एक्सचेंज' जैसी विसंगति को जन्म दिया है। ऐसे अब लोगों को कॉल सेंटर, ओरल सेक्स और पेज थ्री की दुनिया ही रास आने लगी है। जिस कारण से मनुष्य समाज से कट सा गया है। अब वह समाज के हित की चिंता करने की बजाय सिर्फ़ अपने में मस्त रहने लगा है। इस प्रकार से मनुष्य व्यक्ति से वस्तु में बदल गया है। यहीं नहीं अब तो विभिन्न प्रकार की विसंगतिपूर्ण संस्कृतियाँ जन्म ले रही हैं। अपसंस्कृति, माल संस्कृति, ब्रांड संस्कृति, फास्टफूड, जंकफूड, बर्गर, पिज्जा, बढ़ती महगाई, गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, एकाकीपन, आतंकवाद, उपभोक्तावाद, निजीकरण, सेज, विज्ञापन तथा संचार व मीडिया क्रांति आदि। यह सभी विसंगतियां भूमंडलीकरण की ही ऊपज हैं। हिन्दी उपन्यासों में भी भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति तथा इसके वास्तविक यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है।

'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) उपन्यास में उपन्यास का नायक 'पुरुषोत्तम' भूमंडलीकरण तथा भ्रष्टाचार के बारे में कहता है कि- "भ्रष्टाचार तो परंपरागत प्रवृत्ति है। पुंगी फलम के बिना देवताओं की पूजा नहीं होती। ऋषि लोग दहेज और दक्षिणा में सोने से मढ़े सींगों वाली गाय लेते थे। हारे हुए राजा को विजयी राजा को क्षतयोनि कन्याएँ देनी पड़ती थी। हाथी घोड़े तो रुंगे में दिये जाते थे। महाभारत तक इस पाप से नहीं बचा बल्कि और ज्यादा डूबा। यह तुम्हारा वैश्वीकरण तो इस सबका दादा है। चारवाक को भी मात कर दिया, ऋणम कृत्वा घृतम पिबेत...अमेरिका की आर्थिक व्यवस्था ही ऋण पर आधारित है।...कर्ज़ के दम पर भी कोई संसार का सबसे शक्तिशाली देश हो सकता है? अन्ना हज़ारे क्या कर लेंगे। हमारी सरकार तो उस महागुरु के दिये मंत्र पर चल रही है जो सात समंदर पार बैठा है। बेचारे भ्रष्टाचार हटाओ कहते चले जाएं, तो किसी पर क्या असर पड़ेगा। बड़े लोग और बाबा-देश कहते हैं कि भ्रष्टाचार बढ़ाओ... उन्नति की सीढ़ी है। किसकी चलेगी अन्ना की या भ्रष्टाचार को पवित्र यज्ञ वेदी मानने वाले धनदेवों की?"[379] इस प्रकार उपन्यास का नायक 'पुरुषो' भूमंडलीकरण और भ्रष्टाचार को प्राचीन कल से जोड़ता है। साथ ही इनके वास्तविक रूप से भी लोगों को परिचित कराता है। यही नहीं 'पुरुषोत्तम' का एक अन्यत्र जगह वैश्वीकरण के दुष्प्रभाव से बचने की भी बात करता है। वह कहता है कि- "मैं वैश्वीकरण के विकीरण के कुप्रभाव के इस कोढ़ से अपने लोगों को अपने अनुभवों के जरिये बचाना चाहता हूँ। वैश्वीकरण तीसरी दुनिया के लोगों के लिए आणविक विस्फोट के फाल आउट की तरह लगता है। आणविक विभाजन और वैश्वीकरण जुड़वा भाई की तरह हैं।"[380] हालांकि उपन्यास का नायक 'पुरुषोत्तम' इस वैश्वीकरण के झाँसे में आ ही जाता है तथा अपना सब कुछ लुटा देता है। वह इस वैश्वीकरण के चक्कर में एकदम से बर्बाद हो जाता है। उसके इस कथन में उसका भोगा हुआ यथार्थ ही झलक रहा है- "इस वैश्वीकरण ने मुझे बंजारा बनाकर छोड़ दिया।

[379]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर, पृष्ठ सं०-18
[380]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर,पृष्ठ-23

बंजारा और बहता पानी कहीं नहीं ठहरते।"[381]...'स्वर्णमृग', यानी सोने का हिरन, बड़ा शातिर करिश्मा है प्रकृति का ! बाबा तुलसीदास ने कहा-"निगम नेति जेहि ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा"। यानी उसके मायाजाल से मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक नहीं बच पाये ! वही स्वर्णमृग आज वैश्वीकरण के चोले में सारी दुनिया में घूम रहा है और बड़े-बड़े राजनेता-कूटनीतिज्ञ बेतहाशा भागे जा रहे हैं उसके पीछे।"[382] इस प्रकार से यह उपन्यास ऐसे ही साइबर अपराधियों के चंगुल में फँसे एक सीधे-साधे इंसान 'पुरुषोत्तम' द्वारा नासमझी में की गयी गलतियों का एक चिट्ठा है। 'पुरुषों' की सिर्फ़ एक छोटी सी गलती कैसे उसका सब कुछ छीन लेती है। इस प्रकार गिरिराज किशोर ने भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति का साइबर क्राइम के माध्यम से यथार्थ चित्रण किया है। निश्चित तौर पर यह उपन्यास भूमंडलीकरण की त्रासदी या अपसंस्कृति का एक मौलिक आख्यान है।

'दस बरस का भंवर' (रवीद्र वर्मा) उपन्यास में भी इस उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) और गुजरात नरसंहार (2002) के बीच फैले दस वर्ष हमारे समकालीन इतिहास का ऐसा समय रचते हैं, जिसकी प्रतिध्वनियाँ दूर तक जाएंगी। इस दशक में केवल सांप्रदायिकता ही परवान नहीं चढ़ी, बल्कि नव-उदारवाद ने भी हमारे समाज में जड़ें पकड़ी-जैसे दोनों सगी बहनें हों। उपभोक्तावाद मूल्य बना। सामाजिक सरोकार तिरोहित होने लगे। यह उपन्यास इसी आरोह-अवरोह को एक परिवार की कहानी द्वारा पकड़ने की कोशिश है, जिसके केंद्र में रतन का तथाकथित 'शिजोफ्रेनीया, है और उसका सामना करते बाँके बिहारी हैं। रतन के भाइयों की संवेदनहीनता जाने-अनजाने एक चक्रव्यूह की रचना करती है, जिससे बाँके बिहारी अपने छोटे बेटे को निकालते हैं। रतन अपने उन्माद में अपनी प्रेमिका का बलात्कार करता है। पत्रकार बाँके बिहारी के लिए यह 'गुजरात' का रूपक बन जाता है। इन्ही कथा-सूत्रों के इर्द-गिर्द लेखकीय चिंताएँ बिखरी हैं,

---

[381]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर,पृष्ठ-25

[382]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर, (उपन्यास के फ्लैप से)

जो समकालीनता का अतिक्रमण करती हुई मनुष्य की नियति की पड़ताल करती हैं। (उपन्यास के फ्लैप से साभार)। इसमें भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पर व्यंग्य करते हुए उपन्यासकार ने लिखा है कि- "आज सुबह ग्यारह बजे दिल्ली से खबर आई थी कि गणेश जी दूध पी रहे हैं। इस खबर कि ताईद बंम्बई, कलकत्ता और बंगलौर से भी हुई थी। जैसे-जैसे दिन चढ़ा, पहले खबर अखिल भारतीय हुई, फिर भूमंडलीकृत हो गई। यह भूमंडलीकरण का जमाना था। हर चीज़ समूची धरती पर फैलने को तड़प रही थी।"[383] इस प्रकार इस उपन्यास में भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों की विवेचना हुई है। भूमंडलीकरण रूपी आँधी में सांप्रदायिकता और भी अपने विकराल रूप में उभरी है। जिसका जीता जागता उदाहरण उपन्यास में चित्रित अनेक मार्मिक घटनाएँ हैं।

'दौड़' (ममता कालिया) उपन्यास में भी इस उपभोक्तावादी अपसंस्कृति तथा धन की प्राप्ति के लिए निरंतर परिवार से दूर होते जा रहे मनुष्य व उसके बिगड़ते पारिवारिक संबंधों आदि का बेजोड़ आख्यान प्रस्तुत किया गया है- "इस लघु उपन्यास में भूमंडलीकरण, औद्योगिकरण और उदारीकरण तथा बाज़ारवाद से उपजी विसंगतियों का चित्रण बहुत ही सूक्ष्म ढंग से किया गया है। वैसे बाज़ारतंत्र और उपभोक्तावाद पर हिंदी में पिछले दिनों बहुत कुछ लिखा गया है। भूमंडलीकरण पर भी लिखा गया है। लेकिन 'दौड़' भूमंडलीकरण, व्यावसायिकता, आजीविकावाद, विज्ञापनबाजी, उपभोक्तावाद आदि के मिश्रण से बने मनुष्यों की कहानी बहुत प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करता है।"[384] प्रसिद्ध समीक्षक कृष्ण मोहन के अनुसार- "बीसवीं सदी के अंत में भारतीय समाज के गहरे सांस्कृतिक संकट का आख्यान है 'दौड़'।"[385] मुख्य रूप से उपन्यास की कथा एक मध्यम वर्गीय परिवार पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में 5 मुख्य पात्र हैं, राकेश, रेखा, पवन, सघन, और स्टेला। बाकी सभी गौण। इस उपन्यास में

---

[383]दस बरस का भँवर (उपन्यास), रवीद्र वर्मा, पृष्ठ-49

[384]दौड़, ममता कालिया (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ-7

[385]दौड़, ममता कालिया (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ-7

उपभोक्तावादी संस्कृति बहुत ही यथार्थ रूप में चित्रित हुई है। उपन्यास का पात्र 'पवन' अपने माता पिता से कहता है कि- "पापा मेरे लिए शहर महत्वपूर्ण नहीं है, कैरियर है।...मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ जहाँ कल्चर हो न हो, कंज़्यूमर कल्चर जरूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।"[386] हालाँकि भूमंडलीकरण के इस बाज़ारवादी युग में प्रत्येक मनुष्य सिर्फ़ एक उपभोक्ता है। और यही उपभोक्तावादी समाज आज के मौजूदा समय की जरूरत ही नहीं बल्कि मजबूरी भी बनता जा रहा है। उपन्यास का पात्र 'पवन' भी इसी उपभोक्तावादी समाज में रहना चाहता है और उसे यही उपभोक्तावादी संस्कृति पसंद है। इसीलिए वह अपने पिता से कहता है कि मुझे बिना संस्कृति के रहना मंजूर है लेकिन बिना उपभोक्तावादी संस्कृति के मैं एक पल भिओ नहीं रहना चाहता। यहाँ उपन्यास के पात्र 'पवन' के माध्यम से उपन्यासकार ने आज के युवा की सोच का वर्णन बहुत ही सटीक ढंग से किया है। उपन्यास में इस उपभोक्तावादी माल संस्कृति का वर्णन करते हुए उपन्यासकार ने लिखा है कि- "नए शहर में सबकुछ नया है। यहाँ पर दूध मिलता है पर भैंसे नहीं दिखतीं। कहीं साईकिल की घंटी टनटनाते दूध वाले नजर नहीं आते। बड़ी-बड़ी सुसज्जित डेरी शॉप हैं, एयरकंडीशंड, जहाँ चमचमाती स्टील की टंकियों में टोंटी से दूध निकलता है। ठंठा पास्चराइज्ड। वहीं मिलता है दही, दुग्ध, पेड़ा और श्रीखंड।"[387] इस प्रकार उपन्यास में उपभोक्तावादी संस्कृति का यथार्थ चित्रण हुआ है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास भी भूमंडलीकरण से उपजी उपभोक्तावादी संस्कृति को रेखांकित करता हिन्दी साहित्य का एक सशक्त उपन्यास है। इसमें भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है- तब्दीलियों का तूफान जो निर्मित हुआ है-उसका प्रामाणिक और गहन अंकन हुआ है। यह उपन्यास वस्तुत: गाँव, शहर,

[386]दौड़ (उपन्यास) ममता कालिया, पृष्ठ-41
[387]दौड़ (उपन्यास) ममता कालिया, पृष्ठ-17

अमेरिका तक के भूगोल में फैला हुआ अकेले और निहत्थे पड़ते जा रहे समकालीन मनुष्य का बेजोड़ आख्यान है।...'रेहन पर रग्घू' नए युग की वास्तविकता की बहुस्तरीय गाथा है। इसमें उपभोक्तावाद की क्रूरताओं का विखंडन है। तथा संयुक्त परिवार की व्यथा को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। भूमंडलीकरण ने आज ऐसी संस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है- "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे - थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[388] उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के कथन के माध्यम से हमें मौजूदा समय के विघटित होते मानवीय रिश्तों के बारे में पता चलता है। पहले जहाँ संबंध भावनात्मक रूप से बनते थे लेकिन अब के संबंध बिना लाभ के नहीं बनते हैं। इस प्रकार यह उपन्यास इस उपभोक्तावादी संस्कृति वास्तविक रूप भी उद्घाटित करता है। अत: स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में उपभोक्तावादी संस्कृति की विभीषिका का बहुत ही व्यापक रूप में चित्रण हुआ है।

5.2 संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह

भूमंडलीकरण के इस बाज़ारवादी युग में संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह के चक्कर में प्रत्येक व्यक्ति इस कदर भागदौड़ में लगा हुआ है कि उसे अच्छे-बुरे का कुछ ध्यान ही नहीं रह गया है। उसे सिर्फ़ पैसे से मतलब रह गया है। इस धन की इच्छा ने प्रत्येक व्यक्ति को अत्यधिक स्वार्थी एवं व्यक्तिवादी बना दिया है। इस भौतिकवादी दौर में अत्यधिक सुख के चक्कर में वह अपने बहुत से

[388]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-98

मूल्यों, संबंधों आदि की तिलांजलि भी देता जा रहा है। पैसे की इस अत्यधिक चमक ने ऐसा लगता है कि इनको एकदम से अंधा बना दिया है। इनको सिर्फ़ पैसा दिखाई दे रहा है लेकिन इनकी धन की यह अत्यधिक चाह इनसे इनका बहुत कुछ छीनती जा रही है। जिसका इन्हें तनिक भी एहसास भी नहीं हो रहा है। अब इनके लिए आदर्श एवं भावनात्मक संबंध जैसे मानवीय मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रहा गया है। तथा इनके मन में आदर्श एवं भावनात्मक संबंध के लिए जगह न के बराबर बची है। लेकिन ऐसी परिस्थितियां आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक दर्द बन सकती हैं। मनुष्य की इसी अत्यधिक स्वार्थी व व्यक्तिवादी प्रवृत्ति से समाज में बहुत सारी विसंगतियां पैदा हो रही हैं। यह सभी विसंगतियां भविष्य के लिए बहुत ही घातक साबित हो सकती हैं। धन की इसी अत्यधिक चाह से उपजी विभिन्न बिडंबनाओं एवं विसंगतियों का चित्रण भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में बहुत ही सशक्त ढंग से हुआ है।

'दौड़' उपन्यास में उपन्यास का नायक पवन भाईलाल कंपनी में सहायक मैनेजर बनने के बावजूद भी अत्यधिक धन और ऊँचे पद के लिए कंपनी छोड़ने की बात कहता है क्योंकि उसे पता ही नहीं चला कि उसके संस्थान में विप्रो, एपल, और बी.पी.सी.एल. जैसी कम्पनियाँ आई थीं। अब वह भी अपने अन्य साथियों की देखा-देखी उन्हीं की तरह बनना चाहता है। अब उसे भी अधिक पैसा नहीं मिलेगा तो वह अपनी नौकरी छोड़ देगा। 'पवन' का कथन है कि- "अगर साल बीतते न बीतते उसे पद और वेतन में उच्चतर ग्रेड नहीं दिया गया तो वह कंपनी छोड़ देगा।"[389] यही नहीं जब पवन के पिता पवन से कहते हैं कि- "शहर और घर रहने से बसते हैं बेटा। अब इतनी दूर एक अनजान जगह को तुमने अपना ठिकाना बनाया है। परायी भाषा, पहनावा, और भोजन के बावजूद वह तुम्हे अपना लगने लगा होगा। इस पर पवन कहता है- "सच तो यह है पापा जहाँ हर महीने वेतन मिले, वही जगह अपनी

---

[389]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ-12

होती है और कोई नहीं।"[390] उपन्यास के पात्र 'पवन' के माध्यम से उपन्यासकार ने आज के युवा और उनके पारिवारिक संबंधों का चित्रण बहुत ही बारीकी से किया है। इस धन की अत्यधिक चाह में हमारे पारिवारिक और मानवीय मूल्य किस तरह समाप्त होते जा रहे हैं।

'दस बरस का भंवर' (रवीन्द्र वर्मा) उपन्यास में भी संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह और विदेश के प्रति मोह का चित्रण बखूबी हुआ है। उपन्यास का पात्र नमन अपने भाई मदन से जब पूछता है कि- "क्या तुम्हारा अमरीका जाने का फैसला पक्का है ?' इस पर मदन कहता है कि- "हाँ, दादा, 'बात सिर्फ़ अमरीका की नहीं है। असली बात काम और कमाई की है। कोई मुकाबला नहीं है। यहाँ और वहाँ ? हाँ, 'अब दुनिया एक है, दादा, मदन ने ऊपर छत की ओर देखा, 'यह भूमंडलीकरण का जमाना है।[391] मदन के इस कथन से हमें भूमंडलीकरण के बाज़ारवादी रूप का पता चलता है। यह सच है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से कोई बच नहीं सका है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसका प्रभाव सभी पर दृष्टिगोचर होता है। तथा धन की इस अत्यधिक चाह से अमेरिकीकरण की संकल्पना को बल मिला है। आज पैसों की अत्यधिक चाहत और अपने भौतिक जीवन को अधिक सुखमय बनाने के चक्कर में आज का व्यक्ति अपनी जड़ से उखड़ता चला जा रहा है और अन्य देश की सभ्यता और संस्कृति को अपनाता जा रहा है। इस प्रकार अपनी सभ्यता और संस्कृति से अलगाव भविष्य के अच्छा संकेत नहीं है।

'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) उपन्यास में उपन्यास का नायक पुरुषो भी अत्यधिक संपत्ति की चाह में अपना सब कुछ लुटा देता है। पुरुषो के ईमेल पर आए एक मैसेज ने पुरुषो की जिंदगी में भूचाल ला दिया। यदि पुरुषो अत्यधिक धन की लालच नहीं करता तो आज कम से कम उसकी यह

---

[390]दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ-45

[391]दस बरस का भंवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ-63

दशा नहीं होती जो आज हुई है। वह कम से कम अपना सामान्य जीवन तो जी ही सकता था किंतु उसकी धन की अत्यधिक लालसा ने उससे उसका सब कुछ छीन लिया और उसे दिवालिया बना दिया। इस धन की अत्यधिक लालसा में स्वयं पुरुषो ही शामिल नहीं रहता है बल्कि उसकी पत्नी रमा भी उसको प्रेरित करती है यानि कि उसकी पत्नी भी अत्यधिक धन प्राप्त करना चाहती थी। लेकिन इसका परिणाम इन दोनों के लिए बहुत भयानक सिद्ध हुआ। इस प्रकार से देखा जाए तो धन अत्यधिक लालसा बहुत खतरनाक पहलू है क्योंकि इसमें एक बार यदि आप प्रवेश कर जाते हैं तो आपको फिर पीछे आने का कोई विकल्प नहीं मिलता है। पुरुषो की पत्नी रमा अपने भोगे हुए यथार्थ को याद कर कहती है- "मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। उन्होंने पैसे की परवाह नहीं की। पर वैश्वीकरण के इस युग में इंसानी रिश्तों को पीछे छोड़कर पैसे की आपाधापी की ऐसी सुनामी आई उसमें मैंने ही उन्हें बह जाने के लिए प्रोत्साहित किया। लालच का फंदा एक ही गले में नहीं पड़ता।"[392] अर्थात् जो परिस्थिति आज पैदा हुई है उसका जिम्मेवार सिर्फ़ पुरुषो ही नहीं है बल्कि उसकी पत्नी रमा भी उसमें बराबर की हिस्सेदार है। इस प्रकार यह उपन्यास धन की अत्यधिक चाहत में पड़े हुए मनुष्यों को सतर्क और सचेत रहने का संदेश भी देता है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास में भी धन की अत्यधिक लालसा का चित्रण बहुत ही सशक्त ढंग से हुआ है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि किस तरह धन की चाहत ने पारिवारिक संबंधों में दरार पैदा कर दी है। जिससे पारिवारिक संबंध लगातार बिगड़ते जा रहे हैं। इसे उपन्यास के नायक रघुनाथ के कथन से बहुत बारीकी से समझा जा सकता है। रघुनाथ अपनी पत्नी शीला से अपने बेटे राजू के बारे में कहते हैं कि- "वह 'शार्टकट से बड़ा आदमी बनना चाहता है ! उसके लिए बड़ा आदमी का मतलब है 'धनवान' आदमी। और वह भी बिना खून पसीना बहाए, बिना

---

[392]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-105

मेहनत के। वह महत्वाकांक्षी लड़का है लेकिन लालच को ही महत्वाकांक्षा समझता है।"[393] यहाँ एक पिता अपने बेटे की धन की अत्यधिक चाहत तथा उसकी वास्तविक सोच आदि से पर्दा उठा रहा है। आज के समय में ऐसे बहुत से लोग हैं जो बिना मेहनत किए बड़ा बनना चाहते हैं उनकी नजर में बड़ा आदमी का मतलब धनवान आदमी से ही है। लेकिन रघुनाथ जिस बड़ा आदमी की बात कह रहे हैं उसे आज की युवा पीढ़ी का युवक राजू नहीं समझ पा रहा है उसके लिए सिर्फ़ पैसा ही महत्वपूर्ण है। वह सिर्फ़ बड़ा आदमी का मतलब धनवान आदमी ही समझता है। यही नहीं इस उपन्यास में सोनल और संजय की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। सोनल और संजय का जीवन भी इसी अत्यधिक धन की चाहत में होम हो रहा है। सोनल का पति संजय भी अत्यधिक धन की चाह में निरंतर लगा रहता है और इसके लिए वह अपनाए गए गलत रास्ते से भी नहीं डरता है। उसे समाज और लोक-लाज का कोई डर नहीं है। सोनल संजय में आए हुए इस बदलाव को खुद देख रही है- "अमेरिका आने के बाद उसमें तेजी से बदलाव आया है- एक दो सालों के अंदर! यह उसकी तीसरी नौकरी है! वह एक शुरू करता है कि दूसरी की खोज में लग जाता है-पहले से उम्दा, पैसों के मामले में। उसमें सब्र नाम की चीज नहीं है। वह जल्दी से जल्दी ऊँची से ऊँची ऊँचाईयाँ छूना चाहता है! जैसे ही एक ऊँचाई पर पंहुँचता है, थोड़े ही दिनों में वह नीची लगने लगती है! इसे वह महत्वाकांक्षा बोलता है! अगर यही महत्वाकांक्षा है तो फिर लालच क्या है?"[394] वास्तव में संजय की यह लालसा महत्वाकांक्षा नहीं है यह तो विशुद्ध रूप से उसकी लालची प्रवृत्ति को ही दर्शाता है। इस प्रकार से यह उपन्यास दर्शाता है कि अत्यधिक धन की चाह में किस प्रकार व्यक्ति अपने सुमधुर पारिवारिक संबंध को भी ख़त्म करता जा रहा है।

---

[393] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-89

[394] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-110

'जिंदगी ई-मेल' (सुषमा जगमोहन) उपन्यास में भी संपत्ति या अत्यधिक धन की चाह का चित्रण बहुत ही बारीकी से किया गया है। उपन्यास के पात्र दीप और उसकी पत्नी तनु के माध्यम से इसे बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित किया गया है। तनु अपनी सहेली मीनाक्षी की देखा-देखी कनाडा सेटल होने की अपने पति दीप से जिद करती है। उसको लगता है कि यदि वह भी कनाडा बस जाएगी तो मीनाक्षी की तरह उसकी भी लाइफ स्टाइल बदल जाएगी। यह बात जब वह अपने पति दीप से कहती है तब दीप उसको समझाते हुए तथा अत्यधिक चाह की एक सीमा की भी बात करता है - "क्या हो गया है, तनु! अच्छी-खासी जिंदगी चल रही है।... यार साउथ दिल्ली के इतने पॉश इलाके में इतना अच्छा घर! लोग तरसते हैं, फिर भी कल्पना नहीं कर सकते, ऐसे पॉश इलाके में रहने की। आज की तारीख में ऐसे घर में रहने के लिए कम से कम एक जेनरेशन की मेहनत चाहिए या फिर ऐसी किस्मत कि जो छुओ, सोना हो जाए। गाड़ी है, और सब कुछ तो है! और ज्यादा की तो कोई सीमा नहीं होती।"[395] इस प्रकार उपन्यास के पात्र दीप के इस कथन में एक प्रकार से उसकी बेबसी भी नज़र आ रही है। वह अपनी पत्नी तनु के आगे बेबस नजर आ रहा है। वह यहाँ तक कहता है कि और अधिक चाहत की कोई सीमा नहीं होती है। फिर भी उसकी पत्नी तनु अपनी जिद पर कायम रहती है। और यही उनकी अत्यधिक चाहत ही उन्हें अपने देश से जाकर विदेश में बसने की वजह बनता है। और फिर शुरू होता है इनकी बेतरतीब जिंदगी का सिलसिला जो सिर्फ़ इनकी जिंदगी को ई-मेल बना दिया है। वह न तो कनाडा के रह पाए और न ही दिल्ली के। दीप के दिल में दिल्ली बसती है और तनु को कनाडा पसंद आता है। फलत: वह कनाडा जाकर सेटल भी होती लेकिन उनकी पारिवारिक जिंदगी एकदम से बदल जाती है। इतना सब कुछ होते हुए भी तनु अपना पारिवारिक जीवन खतरे में डाल देती है। इस प्रकार अत्यधिक धन की चाह एक संक्रामक बीमारी साबित हो रहा है। जो हमारे समाज, परिवार एवं आपसी रिश्तों को लीलता जा रहा है।

---

[395]जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, पृष्ठ-19

5.3 दलाल, बिचौलियों का बढ़ता प्रभाव

भूमंडलीकरण के इस दौर में दलाल और बिचौलिए इतना ज्यादा सक्रिय हुए हैं कि आम आदमी इनके चंगुल में लगातार फँसता चला जा रहा है। ऐसे लोग बिना श्रम किए बिना पसीना बहाए कमीशनखोरी के लिए समाज को लगातार खोखला करते जा रहे हैं। यह समाज के लिए एक कैंसर जैसे असाध्य रोग की तरह हैं। यह कमाने का आधुनिक ढंग है। यह एक ऐसा वर्ग है जो आम जनमानस को ठगता है उनकी मेहनत की कमाई को लोक लुभावन दिखाकर लूट लेता है और व्यापक लाभ कमाता है। दलाल और बिचौलियों के इस खेल का भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में बहुत ही सशक्त चित्रण हुआ है।

'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) उपन्यास में दलाल और बिचौलिए के काले कारनामों और इनके चंगुल में फँसे सामान्य मानव की बेबसी का बहुत ही मार्मिक प्रसंग चित्रित हुआ है। इसमें डेविड मूर जैसे दलाल ने एक भोले-भाले व्यक्ति पुरुषो की जिंदगी ही बर्बाद कर दी है। ऐसे न जाने कितने डेविड मूर जैसे दलाल हमारे समाज में मौजूद हैं जो लगातार भोली-भाली जनता को लूटते आ रहे हैं। ऐसे ही दलालों और बिचौलियों के काले कारनामों के बारे में उपन्यास में वर्णित यह प्रसंग बहुत ही महत्वपूर्ण है- ''हमारा गरीब देश एक विचित्र मानसिकता का शिकार हो रहा है। बिना कुछ किए करोड़पति या अरबपति बनने की लालसा। यह वर्ग इन्टरनेट कामी वर्ग है जो शिक्षित और आधुनिक सभ्यता का संवाहक होने का दावा करता है। यह खेल मल्टीनेशनल्स के नाम पर उनकी आनुषांगिक कंपनियां या उनसे जुड़े अंग्रेजी दां लोग, अपने को डिप्लोमेट का दर्जा देकर विदेशी बिचौलिए, खेल-खेल रहे हैं। हम लोगों की इस कमजोरी का फ़ायदा लाखों डॉलर्स और पाउंड्स में उठा रहे हैं। किले का सबसे कमजोर द्वार ही शत्रु को अंदर घुसने का रास्ता देता है। इस खेल के केंद्र लंदन और

नाईजीरिया आदि देश हैं।"[396] दलाल कैसे जाल बिछाते हैं उसका जीता जागता उदाहरण गिरिराज किशोर का उपन्यास स्वर्णमृग है। डेविड मूर जैसे दलाल के जाल में उपन्यास का नायक पुरुषो कैसे फँसता चला जाता है। इसको बहुत ही बारीकी से दिखलाया गया है। पुरुषो को लाटरी जीतने का मेल आता है। उसकी एक बानगी देखिए- "वैश्वीकरण की भाषा चूँकि अंग्रेजी है, वह प्रोफार्मा भी अंग्रेजी में था। उसका नाम था 'पेमेंट प्रोसेसिंग फॉर्म'। कालम भी अंग्रेजी में ही थे। उसमें लिखा था कि जीती हुई धन राशि 'एशिया एक्सप्रेस कुरियर' लंदन चेक द्वारा भेजी जायेगी। आप उस कुरियर के मिस्टर ओवन ब्राउन से संपर्क करें। आपका टिकट नंबर 205 और संदर्भ संख्या यू के एन एल-एल 200-26937 तथा बैच न. 2010 एमजेएल 01 है।"[397] और फिर मेल पर मेल पुरुषो को आता है कि आपको मिलने वाली राशि अभी पुष्टीकरण की प्रक्रिया में है। इस बीच स्थानान्तरण की व्यवस्था पूरी कर ली गयी है जो आपके दिए गए बैंक खाते में तत्काल स्थानांतरित कर दी जाएगी। 70000 रुपए जमा करा दें। इस प्रकार नायक 'पुरुषोत्तम' इस वैश्वीकरण के झाँसे में आकर अपना सब कुछ लुटा देता है। वह बर्बाद हो जाता है। वह अपना भोगा हुआ यथार्थ ही तो कहता है- "इस वैश्वीकरण ने मुझे बंजारा बनाकर छोड़ दिया। बंजारा और बहता पानी कहीं नहीं ठहरते।"[398] 'स्वर्णमृग', यानी सोने का हिरन, बड़ा शातिर करिश्मा है प्रकृति का ! बाबा तुलसीदास ने कहा-"निगम नेति जेहि ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा।" यानी उसके मायाजाल से मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक नहीं बच पाये ! वही स्वर्णमृग आज वैश्वीकरण के चोले में सारी दुनिया में घूम रहा है और बड़े-बड़े राजनेता-कूटनीतिज्ञ बेतहाशा भागे जा रहे हैं उसके पीछे।[399] यह उपन्यास ऐसे ही साइबर अपराधियों के चंगुल में फँसे एक सीधे-साधे इंसान

---

[396]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-17

[397]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-38-39

[398]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर, पृष्ठ-25

[399]स्वर्णमृग (उपन्यास), गिरिराज किशोर, (उपन्यास के फ्लैप से)

'पुरुषोत्तम' की नासमझी में की गयी गलतियों का एक चिट्ठा है। उपन्यासकार गिरिराज किशोर ने दलाल और बिचौलियों की इस अपसंस्कृति का साइबर क्राइम के माध्यम से यथार्थ चित्रण किया है।

'ग्लोबल गॉव के देवता' (रणेंद्र) उपन्यास में भी दलाल और बिचोलियों के कुकर्मों का पर्दाफांस किया गया है। इस उपन्यास में दलाल और बिचौलिए खुल्लम खुल्ला लड़कियों और औरतों की दलाली करते हैं। इसका इस उपन्यास में बहुत ही यथार्थ चित्रण हुआ है। इन दलालों की घटिया सोच और इनके चरित्र के बारे में उपन्यास के प्रमुख पात्र लालचन दा बतलाते हैं- "सियानीमन के सप्लाई में थोड़ा ज्यादा ही इंटरेस्ट लेता था सिंहवा लालचन दा ने कहानी सुनाई थी, "उसके हरामी दलाल घर-घर सूँघा करते थे। कोई बाहरी जन दलाल थोड़े थे। यही रामचन जैसे घरे-गाँव के आदमी दलाली करते थे। कच्ची उम्र की लड़कीमन को फुसलाना दिल्ली-कोलकाता का सब्जबाग दिखाना। जिस घर में मर्द औरत में नहीं पट रही हो उस घर की औरत को फुसलाना। खरीफ कटनी के बाद का हाट बाजार ऐसे दलालों से भरा रहता। यों तो नीचे लोधमा की पांच लड़कियों में से एक आठवीं पास थी। उसने जैसे-तैसे पोस्टकार्ड भेजा। हॉट के दिन डाकिए ने डॉक्टर साहब के हाथों में वह पोस्टकार्ड थमाया, तो पता चला क्या-क्या अत्याचार सहती हैं हमारी बेटियाँ। न जाने दिल्ली के कौन से मुहल्ले की मालिशवाली दुकानदारिन के हाथों बेची गयी थीं। थाना - पुलिस हुआ। हम सब एस.पी. ऑफिस के सामने अनशन पर बैठे तो दिल्ली में छापा-वापा पड़ा। बेटी सब वापस आयी हैं। तब इस सिंह जीवा का भेद खुला।""[400] इस प्रकार इस उपन्यास में दलालों एवं बिचौलियों का आहार बनती हैं गरीब, बेबस, असहाय तथा लाचार स्त्रियाँ। जिन्हें बहला फुसलाकर दलाल इनका नाजायज फ़ायदा उठाते हैं। इसी उपन्यास में अन्यत्र जगह दलाल और बिचौलियों के इस गोरख धंधे का यथार्थ चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है- "सोमा के बाबा ने एक एकड़ खेत मात्र पाँच हज़ार रुपये में एक खदान के दलाल को दे दिया था। बिना घर में बात-विचार किये, जवान-जहान बेटे के भविष्य का ख्याल किये, सादे

---

[400]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-30-31

कागज पर ठप्पा लगाया क्यों? सवाल सोमा बाबा का ही नहीं था। जिसे देखो वही फुसलावन-लस्सा लगावन के चक्कर में पड़ रहा था।[401] इस उपन्यास में दलाल लड़कियों की दलाली से लेकर जमीन की दलाली जैसे कार्यों में संलिप्त हैं।

'गायब होता देश' (रणेंद्र) उपन्यास में दलालों एवं बिचौलियों के खेल का थोडा अलग ढंग से चित्रण हुआ है। यहाँ पर जमीन की दलाली की जा रही है- "आदिवासी जमीन के प्लॉट दिन दहाड़े गायब होते जा रहे थे।... कमर से एड़ी तक दुनाली गांथे (पहने) बाबू लोगों ने किशुनपुर को लूटपुर में तब्दील कर दिया था... भूमिलूटपुर... । शुरू के दिनों में इन बाबुओं ने नमक के बदले, तौलिया के बदले, रिक्शा और घड़ी के बदले ज़मीनें लिखवा लीं।...सबसे पहले तो कचहरी के आसपास की जमीन लूट पटा गई। वकील साहब लोग और हकीम लोगों ने जमीनें लीं। बाबू लोग एतना ढीठ, एतना दबंग, कचिया का एतना बल कि ठीक आदिवासी छात्रावास के पीछे की जमीन भी देखते-देखते गायब हो गई।... जमीनें तेजी से गायब होने लगी। कहां तो कलक्टर साहबान को गार्जियन बनाया गया था। आदिवासी लैंड के गार्जियन। उन्हें ही तय करना था जमीन का ट्रांसफर जायज़ है या नहीं। अब शहर फैल रहा था। तो आशियाने तो बनने थे। ऐसे आशियाने के ख्वाबों को यकीन में बदलने वाले फकीरों का साथ न देना तो संस्कार को सूट नहीं करता था। फकीरों को नाराज़ कर कौन बद्दुआ मोल ले! साथ देने पर इहलोक-परलोक दोनों सुधरने की गारंटी। सो! अगर... मगर ...की शर्तों के हवाले आदिवासी ज़मीन, गृह निर्माण सहकारी समितियों को ट्रांसफर।"[402] इस प्रकार स्पष्ट है कि दलालों का कोई एक विशेष क्षेत्र नहीं है जहाँ वह अपना गोरख धंधा चला रहे हैं बल्कि इनके काले जादू का यह असर है कि बिना इनके आज किसी का कार्य होना असंभव सा हो गया है। अर्थात् इनका वर्चस्व लगभग सभी क्षेत्रों में है जहाँ से यह वर्ग मोटा मुनाफ़ा कमा रहा है।

---

[401]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-26
[402]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-78-79

'फाँस' (संजीव) उपन्यास में दलालों और बिचौलियों की नजर किसानों को मिलने वाली सब्सिडी तथा उनको मिलने वाले मुआवजे पर है। यहाँ पर कृषि संसाधनों और बीजों की काला बाजारी में दलाल सक्रिय हैं और मोटी कमाई किसानों के बजाय स्वयं लूट रहे हैं - "कुछ वर्षों पहले देसी कापूस मिला करता था 7 रुपये प्रति किलो, बी.टी. कितने में खरीदते थे?" एक उत्तर – "930 रुपये।" ... "लेकिन 2011 में यह बिका कितने में... 27 00 रुपये प्रति क्विंटल। ब्लैक वाले बिचौलियों तक मालामाल और मोंसेंटा कंपनी को मिले 1600करोड़ ...! बी.टी. से किसानों को लाभ हुआ यह प्रचलित किया गया माहिकोंमोंसेंटो- कंपनी द्वारा- Bollguard boosts Indian cotton farmars income by over Rs. 31500 crores… सफलता व लाभ की यह 'पेड न्यूज़' माने पैसे देकर छपवायी जाने वाली खबरें, गढ़ी गयी पैसों पर बिके पत्रकारों से, पैसों पर बिके फिल्मकारों से, पैसों पर भी नेताओं से और स्वयं कृषि मंत्री द्वारा फैलायी गयी। हमारे साथ छल हुआ छल-धोखा! सबने किया।"[403] यहाँ किसान बेचारा कमर तोड़ मेहनत करके भी उसका लाभ स्वयं नहीं ले पा रहा है लाभ मिल रहा है तो सिर्फ़ और सिर्फ़ बिचौलियों और दलालों को। दलालों की यहाँ मौज है। इस उपन्यास में दलाल और बिचौलियों के जाल में फँसे साधारण किसानों की बदहाल जिंदगी का सशक्त चित्रण हुआ है" -जिसे भी नकदी पैसा मिल रहा वह सुखी है। दुखी है तो शेतकरी (किसान)। नेता, व्यापारी, बनिए, महाजन, दलाल, सरकारी लोग तो सबसे अच्छे। कोई फिकर नहीं। हाथ में गोबर लगे न माटी। बिल्डिंग खड़ी करते जाओ।[404] इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के दौर में दलालों और बिचौलियों का वर्चश्व काफी हद तक बढ़ा है। इनका कार्यक्षेत्र सिर्फ़ भारत ही नहीं रह गया है बल्कि सम्पूर्ण जगत इनका कार्यक्षेत्र बन गया है जहाँ से यह वर्ग लगातर मुनाफा कमा रहा है। भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में इस दलालों एवं बिचौलियों के इस खेल व्यापक स्तर पर चित्रण हुआ है।

---

[403]फाँस, संजीव, पृष्ठ-188

[404]फाँस, संजीव, पृष्ठ-157

5.4 किसान एवं मजदूरों की समस्या

भूमंडलीकरण के दौर में उत्पादित क्षेत्र की जगह सेवा क्षेत्र का वर्चस्व लगातार बढ़ रहा है। उत्पादक वर्ग में वे लोग आते हैं जो कर देने में सक्षम नहीं हैं। किसान, मजदूर, शिल्पकार, हथकरघा, कुम्हार, माली, आदि ये सभी उत्पादन करने वाला वर्ग है अब इनकी जगह सेवा क्षेत्र का प्रसार बढ़ रहा है। सेवा क्षेत्र एक प्रकार से करदाता वर्ग है जो आसानी से कर अदा कर सकता है। इस वर्ग में वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक आदि नौकरीपेशा लोग आते हैं। आज के आधुनिक युग में जो नयी-नयी तकनीक विकसित हुई है उसने इनके धंधे और वर्ग पर बहुत ही कठोर प्रहार किया है। अब यह वर्ग बहुत ही हाशियाकृत हो गया है। ऐसी विकट स्थिति का वर्णन भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में बखूबी किया गया है।

'फाँस' (संजीव) उपन्यास किसानों की समस्या पर केन्द्रित है। इस उपन्यास को उपन्यासकार संजीव ने इस देश के किसानों को समर्पित किया है। उपन्यास के समर्पण में संजीव जी लिखते हैं कि- "सबका पेट भरने और तन ढकने वाले देश के लाखों किसानों और उनके परिवारों को जिनकी 'हत्या' या 'आत्महत्या' को हम रोक नहीं पा रहे हैं।" यही नहीं उपन्यासकार संजीव उपन्यास के आभार वक्तव्य में लिखते हैं कि- "इस उपन्यास को आधार देने का श्रेय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा को जाता है, जहाँ (2011-12) के एक वर्ष के दौरान अतिथि लेखक के रूप में मैंने इसकी शुरुआत की, जहाँ से विदर्भ के विभिन्न जिलों की भूमि और भूमिपुत्रों की दशा-दिशा और दुर्दशा देखने और समझने का मुझे अवसर मिला।" इस प्रकार उपन्यासकार संजीव विश्वविद्यालय के अपने प्रवास के दौरान विदर्भ के किसान परिवारों के बीच गए और उनके दु:ख दर्द के साथ वहाँ की जमीनी हकीकत को भी जाना और समझा। 'फाँस' उपन्यास में विदर्भ के किसानों की कथा के साथ-साथ भारत के उन तमाम किसानों तथा उनके परिवारों की कथा कही गयी है जो खेती किसानी के कर्ज़

से परेशान होकर आत्महत्या कर लेते हैं। पिछले दो-तीन दशकों में विकराल रूप से बढ़ती किसान आत्महत्याएँ ही इस उपन्यास की पृष्ठभूमि रही हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एन. सी. आर. बी. - नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो) के ताजा आँकड़ों के अनुसार- वर्ष 2014 के मुक़ाबले वर्ष 2015 में किसान आत्महत्याओं में 2% की बढ़ोत्तरी हुई है और अब यह प्रतिशत बढ़कर 42% हो गया है। 30 दिसंबर 2016 को जारी एन.सी.आर.बी. रिपोर्ट 'एक्सिडेंटल डेथ्स एंड सुसाइड इन इंडिया 2015' के अनुसार वर्ष 2015 में 12,602 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने आत्महत्या की। वर्ष 2014 में यह संख्या 12,360 थी जबकि वर्ष 2015 में यह संख्या बढ़कर 12,602 हो गई। इस प्रकार देखा जाए तो वर्ष 2014 के मुकाबले 2015 में किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों के आत्महत्या के मामले में 2 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई। इन आँकड़ों के अनुसार- महाराष्ट्र में सबसे ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है। सूखे की वजह से साल 2014 और 2015 खेती के लिए बेहद खराब साबित हुआ। इसका सबसे ज्यादा असर महाराष्ट्र में दिखाई दिया। इन मौतों में करीब 87.5 फीसदी केवल सात राज्यों में ही हुई हैं। साल 2015 में महाराष्ट्र में 4,291 किसानों ने आत्महत्या की। किसानों के आत्महत्या के मामले में महाराष्ट्र के बाद कर्नाटक है। कर्नाटक में वर्ष 2015 में 1,569 किसानों ने आत्महत्या कर ली। तेलंगाना (1400), मध्य प्रदेश (1290), छत्तीसगढ़ (954), आंध्र प्रदेश (916) और तमिलनाडु (606) भी इसमें शामिल है। इस रिपोर्ट के अनुसार किसानों और खेतों में काम करने वाले मजदूरों की आत्महत्या का कारण कर्ज, कंगाली, और खेती से जुड़ी दिक्कतें हैं। आँकड़ों के अनुसार आत्महत्या करने वाले 73 फीसदी किसानों के पास दो एकड़ या उससे भी कम जमीन थी। ताजा जनगणना आँकड़ों के अनुसार- पिछले कुछ वर्षों में किसानी छोड़ चुके किसानों की संख्या 80 लाख से भी अधिक है। इसका कारण शायद एक ठोस व कारगर कृषि-नीति का अभाव है। इस प्रकार आज खेती-किसानी एक मज़बूरी और संभावित मौत का नाम है। यह एक ऐसा मार्ग है जिस पर कोई विकल्पहीनता की ही स्थिति में चले तो चले, पर स्वेक्षा से इस पर कोई नहीं चलना चाहता। फिर भी

इस देश में विकल्पहीन किसानों की कमी नहीं है। बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके पास खेती-किसानी के अलावा और कोई चारा भी नहीं है। एक शेतकरी (शिबू) की बेटी कलावती कहती भी है- "इस देश के सौ में चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानी छोड़ भी दी।"[405] इस प्रकार किसानों की आत्महत्या से संबंधित प्रस्तुत यह आँकड़े, उनके आत्महत्या के पीछे के कारणों, परिस्थितियों, तथा किसानों व किसान परिवारों की दयनीय दशा आदि को दर्शातें हैं। यह उपन्यास किसानों की इसी जमीनी हकीकत को हमारे सामने पेश करता है। विदर्भ के बारे में सभी का मानना है कि- "विदर्भ कृषि का ज्वालामुखी है। सुप्त ज्वालामुखी। कर्ज़ उतारना तो दूर, किसानों की आमदनी ही इतनी कम है कि खेती में बने रहना मुमकिन नहीं।"[406] विदर्भ में कपास और गन्ना की खेती प्रमुख रूप से होती है। अत: यह उपन्यास मुख्य रूप से कपास किसानों की समस्या पर केन्द्रित है, लेकिन उपन्यास में कुछ ऐसे भी कथा-प्रसंग आएं हैं जिनके माध्यम से गन्ना किसानों की भी समस्याओं पर विचार किया गया है। आज भूमंडलीकरण और सूचना संक्राति के इस दौर में जहाँ कोई भी चीज़ कुछ मिनटों तथा सेकेंडों में वायरल होकर कहाँ से कहाँ पहुँच जा रही है, वहीं पर इन किसानों की समस्याओं तथा इनकी आत्महत्याओं से संबंधित कोई भी सही आँकड़ा, खबर या रिपोर्ट किसी भी समाचार चैनल या समाचार पत्र की सुर्खियाँ नहीं बनती हैं। सुर्खियाँ में तो छाए रहते हैं सेलिब्रेटी लोग। "मीडिया की हजार-हजार आत्महत्याएँ कोई खबर नहीं बन पातीं हैं। खबर बनती है मुंबई में चल रहे लक्मे फैशन वीक की प्रतियोगिता। 512 खबरिया चैनल जुटे हैं उसे कवर करने को।"[407] इस प्रकार यह उपन्यास मीडिया के इस दोहरे चरित्र को भी उजागर करता है। इस प्रकार 'फाँस' किसान जीवन से संबंधित प्रेमचंद के गोदान के बाद हिंदी का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास

---

[405]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-17

[406]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-66

[407]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-183

है। इस उपन्यास के विषय में प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि- "भारत में अब तक तीन लाख से अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या की है। यह मानवता के इतिहास की एक भयावह त्रासदी है और अमानवीय समाज-व्यवस्था का भीषण अपराध भी। इस त्रासदी और अपराध के प्रतिरोध की प्रवृत्ति पैदा करने वाला यह उपन्यास 'फाँस' प्रेमचंद के कथा साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का आज की स्थिति में विकास करेगा" (उपन्यास के फ्लैप से साभार)। सच में प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद भारतीय किसान जीवन की त्रासदी को प्रस्तुत करता 'फाँस' हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

किसान के लिये गाय, बैल, भेड़-बकरी, मुर्गा-मुर्गी आदि सभी परिवार के ही अभिन्न अंग होते हैं। यही सब उसकी मुसीबत के समय काम आने वाले बैंक बैलेंस और पूँजी भी होते हैं। उपन्यास में शिबू के वडील (पिता) का यह कथन- "लालू ज्यादा नहीं चल पाएगा, बदलकर दूसरा ले लेना। माकड़ू बैल घर का वासरू (बछड़ा) है। मकरी गाय की निशानी। 'उसके बाद गाय नहीं ले पाये हम। उसे मत बेचना।"[408] गोदान के दृश्यों की याद दिलाता है। साथ ही जुताई करते हुए कीचड़ में फँसे बैल 'लालू' की मौत का मर्मांतक चित्रण 'दो बैलों की कथा' के हीरा और मोती की भी याद दिलाता है। उपन्यास में किसान 'शिबू' (शिवनरायण) के साथ घटित होने वाली अनेक अप्रिय घटनाएँ उसे एकदम से तोड़ देती हैं। तमाम तरह की समस्याओं से जूझता 'शिबू' अब बहुत परेशान रहने लगता है। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे? अकेले होता तो शायद खेती-किसानी छोड़कर किसी शहर में कमाने-धमाने चला जाता लेकिन दो-दो जवान बेटियों को छोड़कर वह कहाँ जा सकता था। परेशान और निराश होकर झिझक बस वह कभी-कभी बोल देता इस बार किसानी छोड़ दूँगा। इस पर उसकी छोटी बेटी (कलावती) किसी विद्वान का हवाला देते हुए कहती है कि- "शेती कोई धंधा नहीं, बल्कि एक लाइफ स्टाइल है-जीने का तरीका, जिसे किसान अन्य किसी भी धंधे के चलते नहीं छोड़ सकता।

[408]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-16

सो तुम बाबा...तुम लाख कहो कि तुम खेती छोड़ दोगे, नहीं छोड़ सकते। किसानी तुम्हारे खून में है।"[409] इस प्रकार यह उपन्यास तमाम प्रकार की समस्याओं, विसंगतियों एवं हादसों की एक लम्बी श्रृंखला हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास एक प्रकार से किसानों तथा किसानों की आत्महत्या से संबंधित उनके बयान का हलफ़नामा है।

उपन्यास की शुरुआत महाराष्ट्र (विदर्भ) राज्य के यवतमाल जिले के एक सुखाड़ गाँव 'बनगाँव' के चित्रण के साथ होती है। 'बनगाँव' का चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि- "भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा, आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंस के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा-आधा।"[410] इसी 'बनगाँव' का निवासी है एक आम शेतकरी (किसान) 'शिबू' तथा उसका परिवार। इस परिवार में 'शिबू' (शिवशंकर) के अलावा उसकी पत्नी 'शकुन' (शकुन्तला) उसकी दो बेटियाँ 'छोटी' (कलावती) और 'बड़ी' (सरस्वती) हैं। यह परिवार तमाम प्रकार की परेशानियों, मुश्किलों के बीच संघर्ष करते हुए अपना जीवन जी रहा है। 'शिबू' और 'शकुन' का भी वही सपना है जो हर माँ-बाप का होता है। 'शिबू' की भी चाहता है कि अपनी दोनों लड़कियों को पढ़ा-लिखाकर एक अच्छे से घर में ब्याह दे। लेकिन खेती-किसानी के कर्ज़ में शिबू इस कदर लगातार फँसता चला जा रहा था कि उसे उसकी पारिवारिक जिम्मेवारियाँ पूरी होती नहीं दिख रही थी। खेती-किसानी के सीमित साधन, आर्थिक तंगी तथा सूखे की मार झेलता 'शिबू' इस खेती-किसानी के लिए सरकारी बैंकों तथा सेठ-साहूकारों से इतना कर्ज़ ले चुका था कि यह कर्ज़ अब उसके गले की 'फाँस' बन चुका था। ऐसे में अपनी दोनों मुलगियों की शादी के लिए दहेज के लाखो रुपये तथा गाड़ी के पैसे वह कहाँ से ले आता।

---

[409]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-17

[410]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-9

‘शिबू’ के अन्तर्मन में द्वंद चल रहा था कि वह क्या करे। किसी तरह उसने अपनी बायको (पत्नी) की मदद से एक दिन अपने गले में पड़े कर्ज़ रूपी फंदे को निकाल तो लेता है लेकिन उसके बाद भी वह समय और समाज की मार झेल नहीं पाता, अंततः एक दिन कुएँ में कूदकर जान दे देता है। पीछे छोड़ जाता है जवान बेटियाँ और रोती-बिलखती पत्नी शकुन को, जिसने गले की हसुली बैंक के कर्ज़ और ब्याज़ चुकाने के चक्कर में बेच दी थी। कर्ज़ के बोझ तले दबे होने के कारण शकुन के लिए उसकी हसुली भी एक ‘फाँस’ बन गई थी। शकुन को अब रह-रहकर याद आ रही हैं पति की बातें, कहता था- “रानी, ये कर्ज़ गले की फाँस है निकाल फेंको और जिस दिन मैंने निकाल फेंका, वह जैसे निहाल हो गया, गाँव भर में लड्डू बँटें, गीत गाते हुए बरसात में भीगते हुए नाचता रहा।”[411] लेकिन शिबू की कहानी किसी एक किसान या एक घर की कहानी नहीं है बल्कि आत्महत्या के लिए मजबूर उन समस्त भारतीय किसानों की महागाथा है जो इस खेती-किसानी के पेशे में बुरी तरह फँसकर अपना जीवन दाँव पर लगा दे रहे हैं। इस प्रकार से यह कथा विदर्भ के किसानों की कथा के साथ-साथ समस्त भारतीय किसानों तथा उनके परिवारों की भी की व्यथा-कथा है। उपन्यास की पात्र छोटी (कलावती) कहती है- “भारतीय किसान कर्ज़ में जन्म लेता है, कर्ज़ में ही बड़ा होता है, कर्ज़ में ही मर जाता है।”[412] यह कथन कितना हृदयविदारक, मारक, भयावह किन्तु आज के समय का भी एक कटु सत्य है।

आत्महत्या के बाद मुआवजा बाँटने के लिए सरकारी उपक्रम पात्र-अपात्र का निर्धारण करता है। यह देखा जाता है कि आत्महत्या करने वाला ‘पात्र’ है कि ‘अपात्र’। मुआवजा के लिए पीड़ित किसान परिजनों को अब यह साबित करना होता कि मृतक पात्र था अपात्र नहीं, इस दुख की घड़ी में भी उन्हें उसके पात्र होने का सबूत पेश करने के लिए कितनी भाग-दौड़ करनी पड़ती है। फिर भी सरकारी अफसरों को इसे नकारने तथा मृतक किसान की आत्महत्या को अपात्र घोषित करने में तनिक

---

[411]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-105

[412]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-185

भी अफसोस नहीं होता। आत्महत्या के बाद पात्र-अपात्र का निर्धारण करने में हमारी सरकार और उसके उपक्रम किस हद तक अमानवीय और हिंसक हो सकते हैं इसका सशक्त उदाहरण यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। बैंक का कर्ज चुकाने में अपनी पूरी ज़िंदगी की कमाई लुटा देने के बाद सूखेपन और सरकारी नीतियों की मार झेलते किसी किसान की आत्महत्या सरकारी दस्तावेजों में सिर्फ इसलिए किसान की आत्महत्या के रूप में दर्ज नहीं होती कि बैंक में अब उसके नाम पर कर्ज़ की कोई रकम बाकी नहीं है। इस प्रकार से यह तो केंद्र तथा राज्य सरकार द्वारा सरकारी राहत कोषों की राशि बचाने की एक साज़िश है जो किसान-विरोधी ही साबित होती हैं। इस प्रकार यह उपन्यास किसानों की दारुण-दशा और सरकारी नीतियों आदि की विस्तृत पड़ताल करते हुए उसकी मारक समीक्षा प्रस्तुत करता है। 'शिबू' तो आत्महत्या कर ही लेता है लेकिन आत्महत्या को गलत बताने वाला हमेशा इस पर ज्ञान-दर्शन देने वाला 'सुनील' भी आत्महत्या कर लेता है। 'सुनील' कहता था, एक भी आदमी ने अगर मेरे रहते आत्महत्या की तो मेरे जीवन को धिक्कार है और उसी सुनील ने सबसे पहले आत्महत्या की। सुनील एक बड़ा खेतिहर था। सबका सलाहकार, सबका आदर्श। लेकिन बड़ी खेती तो नुकसान भी बड़ा होगा। ऊपर से महत्वाकाँक्षी योजनाओं के असफल होने की निराशा। किसी भी प्रकार की कोई बीमा सुरक्षा भी नहीं। इन सभी से निराश सुनील यह कदम उठाता है। कहाँ इसका फिकरा था कि- 'हिम्मते मर्दां मदते खुदा।' लेकिन वह खुद ही हिम्मत हार गया और एंडोसल्फान पीकर मौत को गले लगा लिया था। "बुत बनता गया सुनील-इन सबका दोषी मैं हूँ, सबकी हिम्मत बँधाने वाला खुद ही हिम्मत हार बैठा। हवा में फ़िकरे उड़ रहे थे- 'कभी कर्ज़, कभी मर्ज़, कभी सूखा कभी डूब।' दूसरा फ़िकरा-'भूत से शादी करोगे तो अपना घर चिता पर ही बनाना पड़ेगा।' सो, सुनील आज भूत बन चुका था। जो खुद भी डूबा औरों को भी ले डूबा।"[413] इस प्रकार सुनील तो चला जाता

---

[413]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-72

है लेकिन पीछे छोड़ जाता है पत्नी, बेटियाँ, और बेटे बिज्जू (विजयेन्द्र) को जो अपनी पढ़ाई छोड़कर चला आता है इसी पेशे में पिसने।

यही नहीं यह उपन्यास सरकार की नीतियों और उनके विकास के नाम पर पेश किए जा रहे अविवेकपूर्ण मॉडल की भी कलई खोलता है। विकास का यह नारा और मॉडल एकदम से झूठा साबित हो रहा है और देश का किसान दिन-प्रतिदिन और तबाह होता जा रहा है। उपन्यास में चित्रित गाय-प्रकरण इसका जबर्दस्त उदाहरण है। इसमें प्रत्येक किसान को 20 से 25 हजार की गाय सिर्फ 5 हज़ार रुपए में दे दी जाती है। इसके लिए सबको लोन भी दिया गया। गाय तो सभी ने ले ली। जो तीस-तीस किलो दूध भी देती हैं। लेकिन समस्या थी इन गायों के चारा-पानी आदि की। इतना दूध देने वाली गायों को खिलाया क्या जाए? 'सुनील' ने सुझाव दिया था- वरसीम बोओ। ये क्या चीज़ है- सिंगदाना। सिंगदाना नहीं, एक घास, गाय को मजबूत करने वाली घास। योजनाकारों ने सोचा था कि दूध का धंधा रोज पैसा लाएगा। सैद्धांतिकी के इस पक्ष पर उन्होंने कभी गौर ही नहीं किया कि विदर्भ की सूखी धरती पर मवेशियों को खिलायेंगे क्या और दूध बेचेंगे कहाँ।"[414] यहाँ तो लेने के देने पड़ गए। इन गायों का दूध जब बेचने के लिए बाजार गए तो उसके कोई खरीददार ही नहीं। लोगों का कहना था कि- इस दूध से पेट खराब हो जाता है अत: कोई दुकानदार लेने को तैयार नहीं। इससे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ, लाभ हुआ तो बिचौलियों और दलालों को। पहले जब ये गाय दी गई थीं तो उन्हें कमीशन मिला और अब मजबूरी में जब किसानों को बेचनी पड़ रही हैं तो भी इनको बिचवाने का भी कमीशन।

इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि किस तरह से पहले किसानों को बी. टी. (बैसिलस थुरिंजिएंसिस) यानी कि जी. एम. (जेनेटिकली मोडिफ़ाइड) बीजों का इस्तेमाल करने के लिए पहले बहलाया-फुसलाया जाता है। "शेतकरी (किसान) की एकता तोड़ने के लिए या उनके उद्धार के नाम पर

[414]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-68-69

भगवान जाने सन 2002 में आया था कापूस (कपास) का महाबीज बी. टी. कॉटन बीज़।"[415] इसके लिए उन्हें बुला-बुलाकर कर्ज़ भी दिया गया। लेकिन उस समय इसकी जो शर्तें थीं वह झूठी साबित हुई। "बी. टी. कॉटन इस आश्वासन के साथ आया था कि प्रथम दो छिड़काव के बाद कीटनाशक की जरूरत कम पड़ती जाएगी। मगर उल्टा हुआ। ईल्लियाँ क्या मरती, मिलबाग जैसे कई भुनगे पैदा हो गए। ऐसे जर्म्स इसके पहले यहाँ नहीं थे। अब इन्हें मारने के लिए और ज्यादा तगड़े कीटनाशक की जरूरत आ पड़ी। फल यह कि फसल, बीज़, मिट्टी, पानी, मित्र कीड़े और मित्र पक्षी सबका नाश।"[416] यही नहीं पहली बार तो पैदावार अच्छी होती है लेकिन दूसरी बार फिर से नया बीज़ लेना पड़ता है। एक तो किसान सूखे की मार और प्राकृतिक आपदाओं के कारण कर्ज़ के बोझ तले पहले से दबे हुये हैं उस पर बार-बार बीज़ खरीदना उन्हें और भी ज़्यादा कर्ज़ में डुबा देता है। सरकार द्वारा दिल्ली में बैठे-बैठे बनाई गईं और लागू की गईं नीतियाँ और योजनाएँ किसान विरोधी साबित होने लगीं। ऐसे में उन्हें लगातार होती आ रही हानि ही उन्हें आत्महत्या के रास्ते पर ले जाती है। इस अपराध के अलावा इनके पास और कोई विकल्प नहीं रह जाता। अत: वह आत्महत्या जैसे अपराध के लिए मजबूर हो जाते हैं। सुनील को इसी बात का मलाल रहा- "दिल्ली में बैठकर क्यों बना ली सरकारों ने हमारे गाँवों के कायाकल्प की योजना? क्यों जगाए सपने-बी. टी. बीज़ की तरह बाँझ सपने? मर गए लोग। हमसे पूछते हम बताते-बड़े नहीं, छोटे-छोटे सपने चाहिए हमारे गाँव को।"[417] इस प्रकार से यह उपन्यास किसानों की ओर तो हमारा ध्यान आकर्षित करता ही है साथ ही भारतीय कृषि नीति पर भी प्रश्न-चिह्न खड़ा करता है। यह उपन्यास सरकारी योजानाओं एवं नीतियों की भी पोल खोलता है। केंद्र सरकार द्वारा किसानों के लिए लागू की जा रही नीतियाँ ज़्यादातर सही नहीं है और जो हैं भी वह कारगर नहीं

[415]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-37

[416]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-199

[417]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-72

रही हैं। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है और यहाँ किसान ही देश का अन्नदाता कहलाता है। लेकिन यही अन्नदाता किसान विपरीत परिस्थितियों में भी संघर्ष करते हुए, जीवन और मौत से जूझते हुए सभी का पेट तो भरता है किसी तरह लेकिन वह खुद भूखा रह जाता है। पिछले तीन-चार दशकों से देश में किसानों की आत्महत्या करने की प्रवृत्ति जिस कदर बढ़ी है वह भारत जैसे खाद्यान्न में आत्मनिर्भर या किसी भी देश के लिए सही या अच्छी स्थिति नहीं कही जा सकती है- "यह कोई महामारी या ऐसी कोई विपत्ति नहीं आयी है कि भारत सहित दुनिया भर के किसान बेमौत मारे जा रहे हैं। यह वैश्विक व्यवस्था का नया रूप है जिसमें किसान को हाशिये पर धकेला जा रहा है। आत्महत्या एक संक्रामक व्याधि की तरह देश के उन राज्यों में जा रही है जहाँ अब तक नहीं थी।"[418] आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, विदर्भ, बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़ के किसानों की भी यही स्थिति है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उदारीकरण को प्रोत्साहन दिया गया और जिसमें नई-नई नीतियाँ बनाई गईं और योजनाएँ लागू की गईं। लेकिन यह नीतियाँ और योजनाएँ किसानों के लिए अभी तक उपयोगी सिद्ध नहीं हुई हैं- "उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है-बिल्कुल ठुस्स यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती हैं। उसकी सामाजिक जिम्मेवारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता, सिचाई कि प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं।"[419] यही कारण कि भूमंडलीकरण की नीतियाँ किसानों के लिए बेअसर रही हैं। लेकिन यह सोचने कि बात है कि ऐसा क्यों हो रहा है कि जो उत्पादन या अनाज उत्पन्न कर रहा है वह भूखा है और इन उत्पादों की दलाली करने वाले सेठ-साहूकार दिन प्रतिदिन मालामाल हो रहे हैं। इस प्रकार से यह उपन्यास किसानों के प्रति

[418]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-195

[419]फाँस, संजीव, पृष्ठ सं.-109

हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए हमारे सामने ढ़ेर सारे प्रश्न भी खड़ा कर देता है जिसका उत्तर या समाधान शायद ही किसी के पास हो। इस प्रकार से यह उपन्यास सिर्फ़ विदर्भ के गाँव बनगाँव की ही कथा नहीं है बल्कि यह तेलंगाना, आंध्र-प्रदेश, कर्नाटक, बुंदेलखंड (उत्तर प्रदेश) एवं छत्तीसगढ़ के किसानों के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत के किसानों की व्यथा-कथा है। वास्तव में किसानों की समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब सरकार और राजनेता राजनीतिक स्वार्थ से ऊपर उठकर किसानों के हित के लिए एक साथ मिलकर काम करेंगे। किसानों और मजदूरों की समस्याओं को सिर्फ़ चुनावी मुद्दा नहीं बनने देंगे। सिर्फ़ चुनाव के समय आर्थिक-पैकेज और प्रलोभन न देकर एक कारगर नीति और टिकाऊ समाधान की बात करेंगे। अन्यथा किसानों की समस्याओं का समुचित समाधान संभव न होगा। यह उपन्यास सिर्फ़ किसानों की समस्याओं, उनकी दयनीय दशा एवं दुर्दशा तथा उनकी आत्महत्याओं का ही भयावह सत्य नहीं प्रस्तुत करता अपितु किसानों को यह समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक पहलुओं के साथ-साथ क्षेत्र विशेष में अच्छी पैदावार देने वाली फसलों, फसलों की क़िस्मों व उन्नत बीजों, उर्वरकों एवं कीटनाशकों के प्रयोग, खाद बनाने की विधि, खेती करने की सही विधियों-प्रविधियों आदि के बारे में भी बतलाता है और साथ-साथ पैदा हुई अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। किसानों और मजदूरों के साथ हो रहे अत्याचार और अन्याय में हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ भी कम ज़िम्मेदार नहीं हैं। भूमंडलीकरण को बढ़ावा देने वाली तथा उसे संचालित करने वाली अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं (विश्व बैंक, गाट, आइ. एम. एफ़.) के साथ सरकार और कारपोरेट जगत भी इसकी जिम्मेदार हैं। इन सबकी आपस में मिलीभगत है। उदारीकरण के नाम पर बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। राजनेताओं को सिर्फ वोटबैंक की राजनीति करनी है। धर्म के ठेकेदारों को धर्म और नैतिकता की आड़ में सिर्फ अपना उल्लू सीधा करना है। इस प्रकार से ये सभी लोग किसानों तथा गरीब मजदूरों की समस्याओं का समाधान ढूँढने की बजाय अपना व्यक्तिगत हित साध रहे हैं। इस

प्रकार इस उपन्यास में किसानों एवं मजदूरों की समस्या को बहुत ही यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

5.5 यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, सेक्स वर्कर तथा नशाखोरी की प्रवृत्ति

आज के इस भौतिक युग में ज्यादा आधुनिक और एडवांस बनने का नतीज़ा यह है कि हमारा समाज दिन प्रतिदिन विकृत होता जा रहा है। युवाओं में यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, ओपेन सेक्स तथा नशाखोरी जैसी प्रवृत्तियाँ उन्हें एक भयानक बीमारी की तरह ग्रसित करती जा रही हैं। यौन-लिप्सा एक प्रकार की लवंडा संस्कृति है जो हमारे युवा वर्ग को आकर्षित कर उनको पथभ्रष्ट कर दे रही है। सिनेमा, मीडिया तथा उत्तेजित विज्ञापन के नाम पर लगी बड़ी-बड़ी होर्डिंग इसको लगातार प्रचारित और प्रसारित कर रही हैं। 'जिगालो संस्कृति' में अधेड़ उम्र की औरतें कम उम्र के लड़कों के साथ सेक्स करना चाहती हैं। यह चलन शहरों में बहुत तेजी से बढ़ रहा है। साथ ही सेक्स वर्कर जिनकी इच्छा नहीं बल्कि मज़बूरी है देह व्यापार। क्योंकि इससे वह अपना भरण-पोषण करती हैं। उनकी अपनी समस्या यह है कि उन्हें समाज रण्डी आदि न कहे उन्हें सेक्स वर्कर नाम दिया जाए। इन सबके अलावा आज के युवाओं में एक चीज की बहुत बुरी लत लग गयी है वह है नशाखोरी। अब शराब पीना, सिगरेट का सेवन, चरस, गाँजा का नशा आदि आम फैशन सा हो गया है। भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, सेक्स वर्कर तथा नशाखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति आदि का बहुत ही यथार्थ चित्रण हुआ है।

'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) उपन्यास में नशाखोरी की प्रवृति का चित्रण बहुत ही यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है। नशाखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति पर उपन्यास के नायक पुरुषो का महत्वपूर्ण कथन है कि- "क्या तुमने इन्टरनेट की सुनहरी दुनिया में नहीं झाँका। वहाँ ज्ञान है, हर तरह की सूचना है, रूप

है मौज मस्ती है। इस सबके साथ ऐसा संक्रमण रोग भी है जो तुम्हारी आत्मा में उतरकर तुम्हें अपना गुलाम बना रहा है जैसे नशा और ड्रग्स। यह आधुनिकता का तकाज़ा है।"[420] यहाँ पर नशाखोरी को आधुनिकता का तकाज़ा माना गया है जबकि यह एक प्रकार से व्यक्ति तथा समाज के लिए बहुत ही घातक और जानलेवा साबित होने वाला है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास में भी इस विसंगति को बहुत ही बारीकी से चित्रित किया गया है। इसमें सोनल का पति संजय अपने लैंडलॉर्ड की शादीशुदा बेटी आरती गुर्जर के साथ अपनी पत्नी की उपस्थिति में भी छेड़छाड़ करता है। बेशर्मी की हद तक और टोकने पर हँसने लगते थे। और इससे भी बड़ा आश्चर्य यह था कि आरती का पति जब कभी न्यूयार्क से आता था तो वह अपनी पत्नी से उसके 'ब्यायफ्रेंड' के बारे में बाते करता था और उन्हें डिनर पर ले जाता था। वह जब भी संजय से उसकी हरकतों की शिकायत करती, वह खीझ उठता- "तुम देश और काल के हिसाब से अपने को बदलना सीखो, चलना सीखो। न चल सको तो चुपचाप बैठो या लौट जाओ!"[421] इस प्रकार उपन्यास का पात्र संजय ओपेन सेक्स का हिमायती है। इस कार्य के लिए उसे शर्म भी नहीं आती है। वह इसे आधुनिक युग के एक फैशन की तरह देखता है। तथा अपनी पत्नी सोनल को भी समय के साथ बदलने के लिए कहता है।

'दस बरस का भंवर' (रवीन्द्र वर्मा) उपन्यास में भी नशाखोरी और यौन-लिप्सा का चित्रण हुआ है। यहाँ उपन्यास का पात्र रतन इस प्रवृत्ति में संलिप्त है। रतन नशाखोरी करता है इसके लिए वह हमेशा भागता रहता है- "उसकी हीरो हौंडा अपना रास्ता बनाती हुई बीयर की दुकान के सामने खड़ी हो गई ।दुकान खुल रही थी। ऐसा लग रहा था दुकानदार उसी की उम्र का युवक था। उसने दो बोतलें रतन को थमाते हुए पूछा क्या सेलिब्रेट कर रहे हैं? आजादी, रतन ने मुस्कुराते हुए कहा।...वह दोनों

---

[420]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-17

[421]'रेहन पर रग्घू' काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-109-10

बोतले हाथों में घुमाता अपने कमरे में घुसा। बोतलें मेज पर रख वह किचन से ओपनर उठा लाया और एक बोतल खोल कर उसने उफनते झाग को अपने होठों से लगा लिया।"[422] पत्रकार बाँके बिहारी का बेटा रतन इसी नशाखोरी और कालगर्ल के हसीन सपने के साथ-साथ अंबानी और आमिर खान बनने का सपना देखता है। वह यौन-लिप्सा, नशाखोरी और कालगर्ल के चक्कर में एकदम पागल हुआ है। वह अपने पिता से नौकरी के फॉर्म के लिए पैसे माँगता है लेकिन फॉर्म भरने की बजाय वह लखनऊ में नूर मंजिल में भर्ती तो होता है किंतु रात भर वह वहाँ से गायब रहा था। अगली सुबह पुलिस उसे एक कालगर्ल के घर से पकड़कर लाई थी। छोटे मुँह लटकाए घर लौटा था और खाना खाकर सो गया था। जागकर उसने बड़े को बताया कि- "वह बार में बीयर पीने घुसा था। लेकिन बीयर के बाद उसने व्हिस्की पी ली। फिर वह अपने शरीर का होकर रह गया। वह पीछे चला, शरीर आगे। मर्द का जिस्म औरत के जिस्म के पीछे भागता था,वह क्या करे।"[423] रतन की यही नशाखोरी की प्रवृत्ति ने उसे यौन-लिप्सा में संलिप्त करा देती है क्योंकि नशे की हालत में व्यक्ति का अपना वश नहीं चलता है वह सिर्फ़ वैसा ही करता है जैसा उसका शरीर चाहता है। उसे पाप-पूण्य से कोई मतलब नहीं रह जाता है। यही नहीं 'दस बरस का भंवर' उपन्यास का पात्र पवन भी यौन-लिप्सा में लिप्त है तथा उसके नाजायज संबंध भी हैं। पवन अपनी पत्नी किशोरी के होते हुए भी डायना और वर्षा के साथ संबंध बनाता है। उसके पीछे डायना भी थी जिसका नाम कभी अंजली हो जाता, कभी सुनयना और कभी कुछ और। किशोरी को पता चल जाता था। कभी पवन के बदन की पराई गन्ध से, कभी किसी फोन से और कभी गाड़ी के फ़र्श पर सीट के नीचे गिरे कंडोम के छिलके से।"[424] इस प्रकार इस उपन्यास रतन और पवन के माध्यम से उपन्यासकार ने नशाखोरी व यौन-लिप्सा की प्रवृत्ति का यथार्थ चित्रण किया है।

---

[422]दस बरस का भंवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ-68

[423]दस भरस का भंवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ-37

[424]दस भरस का भंवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ-138

'फाँस' उपन्यास में भी इस नशाखोरी का प्रसंग आया है। यहाँ पर नशा करने वालों ने मंदिर जैसे पवित्र स्थान को भी नहीं छोड़ा। यहाँ पर नशे के लिए मंदिर की शरण में लोग पहुँच जाते हैं। उनके इस तरह के कृत्य के लिए चंद्रेश नाम का युवक उनसे प्रश्न भी करता है। चंद्रेश ने देखा चार जन गांजा पीने में मस्त थे दो ब्राह्मण, एक कुनबी और एक नया मुलगा- टेनिया! चारों टन्न!... "क्यों काका, गाँव के सारे लोग पंचायत में गए थे और तुम लोग यहां...? शेत छोड़कर गाँजे की शरण पकड़ ली...? और इस नेक काम के लिए मंदिर ही मिला है क्या?[425] इस उपन्यास में नशाखोरी के साथ साथ यौन-लिप्सा का भी यथार्थ चित्रण प्रस्तुत हुआ है- "पोद्दरवा को कूड़ा बीनने वाली कम उम्र की बच्ची सबसे गंदा काम करने का आदत पड़ल था। जिस दिन राजधानी से बाहर वाला फार्म हाउस में जाता है उस दिन उसे जानने वाले समझ जाते कि उसका खास नौकर आज इंतजाम-बात किया है।"[426] यही नहीं इस उपन्यास में वन विभाग का सिपाही खुदाबक्श भी इसी तरह की यौन-लिप्सा में संलिप्त है। जंगल में महुआ चुनने गई शकुन और उसकी छोटी बहन के साथ वह गलत कार्य करना चाहता है। इस पर शकुन बहादुरी दिखाती है और उसकी नियत भाँप कर उसको लहूलुहान कर घायल कर देती है। शकुन कहती है- "वह सूअर नहीं, बड़का सूअर था।" "माने!" "वही साला जंगल का सिपाही।" कौन?, खुदाबक्श? "कह रहा था, हराम का माल है? सरकारी चीज है सरकारी चीज! ठेका हो गया है। फिर बोला- टैक्स दोगी?"..हमने भी उसे नहीं छोड़ा। अब जब तक वह जिंदा रहेगा उसके मुँह पर निशान बने रहेंगे और याद दिलाते रहेंगे कि किसी मुलगी पर गलत निगाह डाली थी।[427] इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में यौन-लिप्सा, जिगालो संस्कृति, ओपेन सेक्स तथा नशाखोरी जैसी प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

---

[425]फाँस, संजीव,पृष्ठ-88

[426]फाँस, संजीव, पृष्ठ-231

[427]फाँस, संजीव,पृष्ठ-20

5.6 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और कार्पोरेट जगत का वास्तविक यथार्थ

वैश्वीकरण के कारण प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बढ़ा है। पर्यावरण पारिस्थितिकी का संतुलन बिगड़ा है। यदि यही स्थिति रही तो दुनिया एक न एक दिन विनष्ट होने की कगार पर पहुँच जाएगी। व्यापार कैसे फैले इसके लिए बड़ी-बड़ी कंपनिया प्राकृतिक संसाधनों का दोहन बहुत तेजी से कर रही हैं। आज महानगरों में एयर कंडीशन के अत्यधिक उपयोग से कार्बन उत्सर्जन में बेतहासा वृद्धि हो रही है। जबकि बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कार्पोरेट जगत को सिर्फ़ और सिर्फ़ मुनाफ़े से मतलब रह गया है। उन्हें समाप्त हो रहे खनिज संसाधनों व लगातार दूषित हो रहे पर्यावरण और पारिस्थितिकी से कोई लेना देना नहीं है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेंद्र) उपन्यास में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा हो रहे अवैध खनन को बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित किया गया है- "छोटे-बड़े सभी खदान-मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैरमजरुआ ज़मीन, असुर रैयत की जमीन से ज्यादा खनन किया करते। अवैध खनन खुलेआम और वर्षों से जारी था।"[428] इस प्रकार से इस उपन्यास में अवैध खनन का वास्तविक सच प्रस्तुत किया गया है। यदि यह खनन निरंतर जारी रहा तो आने वाले समय में हमें खनिज संसाधनों की भयंकर कमी से जूझना पड़ सकता है। यही नहीं प्राकृतिक संसाधनों का आवश्यकता से अधिक दोहन भी हमारे पर्यावरण के लिए खतरा साबित हो सकता है।

'फाँस' (रणेंद्र) उपन्यास में बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियों आदि का काला सच प्रस्तुत किया गया है- "एक किसान को सिर्फ खेती, सिर्फ बीज, खाद कीटनाशक, सिंचाई नहीं जीवन और परिवार की अन्य जरूरतें भी होती हैं जैसे बच्चे की शिक्षा, स्वास्थ्य, बेटी की शादी, खुशी, गमी जैसी चीजों के कर्ज सरकार से नहीं मिलते। ऐसे हालात तक ले ही आए हैं क्यों हमारे हुक्मरान हमें यहाँ?

[428]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-26

सारे राजनेता, सारी पार्टियों के राजनेता लगता है, दलाल हैं उन्हीं के...उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है-बिल्कुल यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ीपूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ीपूँजी बाजार में लाभ कमाने के उद्देश्य आती है। उसकी सामाजिक जिम्मेवारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और उनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं।[429] इस उपन्यास में कार्पोरेट जगत के कारण पैदा हुई आदिवासी विस्थापन की समस्या को भी बहुत ही यथार्थ ढंग से चित्रित किया गया है। आदिवासियों के विस्थापन की समस्या को उपन्यास में कुछ इस तरह से दिखलाया गया है- "फूलगाँव में क्या आदमी नहीं रहते? कहाँ गए वे? लोग तो लोग उनकी गृहस्थी, उनके मवेशी, पता करने के लिए बगल के गाँव-नागी और बक्सी। मगर वहाँ भी एक जैसी वीरानी! ऐसा विस्थापन तो कभी न देखा, न सुना। आखिर माजरा क्या है? देश के कुछ राज्यों में किसानों से छल कर उनकी जमीन पूँजीपतियों, कारखानेदारों और कॉरपोरेट घरानों को बेची जा रही है- छलात्कार ! क्या यहाँ भी 'मिहान या 'सेज' का कोई प्रोजेक्ट है?[430] इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और कार्पोरेट जगत का वास्तविक यथार्थ का चित्रण बहुत ही व्यापक ढंग से प्रस्तुत हुआ है।

5.7 पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़

भूमंडलीकरण के दौर में पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ और मजबूत हुआ है। आज के मौजूदा हालात में ये लोग जनता की सेवा और सुरक्षा करने के बजाय अपना पेट भरने में लगे हैं। इन लोगों का आपस ऐसा गठजोड़ है कि सामान्य मनुष्य इनके सामने बेबस

[429]फाँस, संजीव, पृष्ठ-109
[430] फाँस, संजीव, पृष्ठ-215

और असहाय नजर आता है। भूमंडलीकरण के दौर हिंदी उपन्यासों में पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं के गठजोड़ का चित्रण बहुत ही यथार्थपरक ढंग से चित्रित हुआ है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेंद्र) उपन्यास में पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित हुआ है। इस उपन्यास में राजनेता और मंत्री लोग अपने मनपसंद व्यक्ति को नौकरी तो दिलाते ही हैं साथ ही साथ नौकरी कर रहे लोगों का उनकी पसंद के अनुसार स्थानान्तरण कराने का भी ठेका ले रखा है। यह सभी कार्य वह अपनी पकड़ और पहुँच के माध्यम से धड़ल्ले से कर रहे हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र घुन्ना मास्टर की जब नौकरी जंगल क्षेत्र में लगती है तो वह अपने ट्रांसफर के लिए इन लोगों से संपर्क करता है। मुन्ना मास्टर (घुन्ना) के ट्रांसफर वाले प्रसंग के माध्यम से इसे उपन्यास में बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित किया गया है- "गाँव के ही चाचा के समधी थे विधायक रामाधार बाबू। दूसरे दिन सवेरे-सवेरे सवा सेर लड्डू के पैकेट के साथ हाजिर। "आप ही के आशीर्वाद से नौकरी भेंटायी है, अब पोस्टिंग भी लड़का का ठीक-ठाक जगह हो। आप ही को कृपा करनी है।" बाबू जी विधायकजी के सामने घिघिया रहे थे। देखिये समधी! बड़ा भरोसा से आये हैं।

देखो भाई! गुप्ता जी। कहाँ हैं पी.ए. साहब, हो।

"जी सर! हियें हैं।"

"अरे! खुद समधीजी आये हैं। लड़का कहाँ जाएगा जंगली इलाके में। राजधानी या अपने जिले के आसपास पोस्टिंग करवानी है। किसको फोन किया जाय? शिक्षा सचिव को?"

"नहीं सर! कल्याण विभाग के निदेशक, मिश्राजी से ही काम चल जाएगा।"

"लगाईए। बाकी अभी कहाँ भेटाएंगे लोग। ऐसा कीजिए, आज सचिवालय जाना है। रोड सेक्रेटरी से मुलाकात के बाद याद दिलाईयेगा। आज डायरेक्टर से फाइनल करवा देते हैं। आप लोग निश्चिंत होकर

नहाइए-खाईए। आज ई काम हो जाएगा।" विधायक जी का बड़ा ठोस आश्वासन था।"[431] यही नहीं इस उपन्यास में जमीन के जुगाड़ में किस तरह से राजनेता व्यापारी और भूमाफिया का आपस में गठजोड़ है उसका भी बहुत ही यथार्थ चित्रण हुआ है- "ग्लोबल ग्राम के आकाशचारी देवताओं की बेचैनियों का कोई लाभ नहीं दिख रहा था। गाँव से पलायन कर गए लोगों में खदान के माइनर भी थे। शिवदास बाबा और विधायक जी का यह सोचना सही था कि वेदांग जैसी बड़ी कंपनी इस इलाके में केवल कँटीले तार की बाड़-बंदी करने नहीं आयी है। उसे अपनी फैक्ट्री के लिए कोयलबीघा अंचल में कई सौ एकड़ जमीन चाहिए। एम.पी. साहब ने दिल्ली में ही सेटिंग कर ली थी। वही छोटे काम के बहाने, इलाके को जानने समझने-जीतने का त्रिसूत्री फार्मूला समझाकर ले आए थे। अब बाबा जी और विधायक जी के शेयर की सौदेबाजी होनी थी। इन दोनों का मानना था कि पूँजी तकनीक और लेबर के साथ भूमि भी किसी इंडस्ट्री का महत्वपूर्ण हिस्सा है। चूँकि कोयलबीघा में भूमि का जुगाड़ उनके बिना हो नहीं सकता इसलिए उन्हें कंपनी में शेयर मिलना चाहिए।[432] इस प्रकार से देखा जाए तो इस कार्य में राजनेता मंत्री विधायक पूंजीपति भूमाफिया के माध्यम से बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल कम्पनियाँ अपना खेल खेल रहीं हैं।

'गायब होता देश' (रणेंद्र) उपन्यास में भी रणेंद्र ने इन माफियाओं के बारे में विस्तार से वर्णन किया है- "माफियागिरी का होता है, यह तो इसी कारखाना की कॉलोनी की औलादों ने इस शहर को बताया। बीमार कारखाने के छंटे स्टॉफ क्वार्टर के ठंडे चूल्हों से जो पिशाच निकले वे इस शहर पर कालिख बनकर छा गए। निरंजन राणा भी उस बीमार कारखाने के गंदे धुएं की पैदाइश है। खाली निरंजने राणा काहें भेड़ियों का पूरा झुंड ही निकला कारखाना कॉलोनी सेक्टर नंबर तेरह से। सबने अपने-अपने इलाके बांट लिए। सुनील शर्मा रेलवे ठेका मैनेज करने लगा। रवीन्द्र बनारसी शहर से

---

[431]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-7-8
[432]ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-89

रंगदारी उठाने लगा। लंगड़ा पप्पू ने नगर के निगम के ठेका पर कब्जा कर लिया तो वरुण राय को पुल-पुलिया की ठेकेदारी हाथ लगी। शुरू मेंपूँजी आर्म्स और शूटर के लिए ये लोग यूपी-बिहार के अपने स्वजातीय माफिया गिरोहों पर निर्भर थे। लेकिन इन्हें ऐसी चरागाह हाथ लगी कि देखते-देखते सबके सब खुद बड़े माफिया बन गए। शहर ने पहले इतना संगठित अपराध और अपराध से झरती नोटों की अथाह गड्डियां कभी देखी ही नहीं थीं। कभी सपना में भी नहीं सोचा था। अब तो निरंजनवा का सबसे छोटा प्यादा असलम अंसारी, रोबिन तिर्की, सोहना बारला, राजू सिंह जैसे छुटभैया गुंडे भी साल-दो साल में लाख रुपया झाड़ लेते हैं। सोच लीजिए इनके बॉस लोगों के पास केतना रुपया होगा। राजधानी बनने के बाद तो इनकीपूँजी का अंदाजे नयं लगाया जा सकता। अब ई 'जमीन-छिनतई' जैसा छोटा-मोटा क्राइम का मामला नहीं रह गया। यह तो 'रियल एस्टेट' का बिजनेस हो गया है। कोयला माफियाओं का पैसा, बॉक्साइट-आयरन ओर के माफियाओं का पैसा, सरकार के बड़का से लेकर छोटका हाकिमों के ऊपरी कमाई का पैसा, सब के सब इस बिजनेस में।[433] इस प्रकार रणेंद्र ने अपने इस उपन्यास में माफिया, भूमाफिया के काले कारनामों का पर्दाफांस किया है। इतना ही नहीं इस उपन्यास में पुलिस और राजनेता का आपस किस तरह गठजोड़ है इसका भी सटीक चित्रण हुआ है। इस घटना को गाँव की बूढ़ी एंगा-माय के बलात्कार की घटना के माध्यम से बहुत ही बारीकी से समझा जा सकता है। पचास-पचपन साल की बूढ़ी एंगा-माय के साथ बलात्कार किया जाता है लेकिन इसकी एफ.आई.आर. लिखने को कोई तैयार नहीं है। असली कारण था विधायक विक्टर तिग्गा। जो थाना के बड़ा बाबू के कमरे में बैठकर चाय पी रहा था। पुलिस और राजनेता जिनकों अपने समाज और जनता की रक्षा करने की ज़िम्मेवारी दी गयी है वे अब रक्षक न होकर भक्षक बन गए हैं। थाने का छोटा बाबू कहता है- "ई पगली बुढ़िया से कौन रेप करेगा बे...ज्यादा जिद्द करोगे तो डायन-बिसाही-मारपीट का

[433]गायब होता देश, रणेंद्र, पृष्ठ-105

केस तुम ही लोग पर ठोंक देंगे रे कोल सब।"[434] इस प्रकार इस उपन्यास में राजनेता मंत्री विधायक और कॉरपोरेट्स का आपसी संबंध इतना सशक्त है कि आम जनमानस इनके सामने बेबस और असहाय नजर आता है। यह सभी जनता की भलाई के बजाय अपनी जेब भरते हैं और महल बनाने में लगे हैं किसी को भी इन भोली-भाली जनता से कोई मतलब नहीं है। मतलब है भी तो सिर्फ़ उनके वोट का जिसे किसी भी तरह ले लेना है- "सिसोदिया राजलक्ष्मी सविता सिंह पोद्दार केंद्र में राज्य मंत्री बनी तो नरेश शर्मा बाजाप्ता चुनाव जीतकर राज्य में कैबिनेट मंत्री बन गया। सिंडिकेट ने भी विक्टर तिग्गा दादा को विधायक बनाकर लाल गुंबदवाला ऊंचका महल में दाख़िल करवा दिया। बाकी मंत्री नयं बन सका तिग्गा दादा। इस उठा पटक में सबसे ज्यादा दबाव में अशोक पोद्दार था। वसुंधरा डेवलपर्स प्रालि (वीडीपीएल) अब केवल रियल एस्टेट तक सीमित नहीं रह गया था, माइनिंग, मैन्युफैक्चरिंग और ना जाने कहां हाथ आजमा रहा था। एक ही अपार्टमेंट के अलग-अलग तल्ला पर वसुंधरा का अलग-अलग बोर्ड वसुंधरा माइनिंग, वसुंधरा मैन्युफैक्चरिंग, वसुंधरा पीआरए, वसुंधरा आयरन एंड स्टील, वसुंधरा बॉक्साइट प्रोडक्ट प्राइवेट लिमिटेड और न जाने क्या-क्या! निरंजन राणा को अब किशनपुर के बिजनेस से बहुत मतलब नहीं रह गया था। वह साल में 300 दिन सिंगापुर-हांगकांग में गुजारता। वसुंधरा के ऑफिस वहाँ भी थे। काम वहाँ भी बढ़ गया था। सविता पोद्दार दिल्ली में मगन थीं। मंत्रालय तो था ही। वसुंधरा ने पीआर एजेंसी को भी कंट्रोल में रखा था। उस एजेंसी के क्लाइंट बड़े-बड़े कॉरपोरेट्स थे।"[435] इस प्रकार इस उपन्यास में पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ वास्तविक चित्रण हुआ है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास में भी राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ का चित्रण उपन्यासकार काशीनाथ सिंह ने बहुत ही सशक्त ढंग से किया ने किया है- "दूसरी

---

[434]गायब होता देश, रणेंद्र, पृष्ठ-158-59

[435]गायब होता देश, रणेंद्र, पृष्ठ-152

नश्ल नरेश और उसके भाईयों की थी! नरेश बिजली मैकेनिक था! सरकारी कर्मचारी था! लेकिन खम्भों से तार खींच कर घरों में अवैध कनेक्शन देता था और अच्छी खासी कमाई करता था। उसके तीनों भाईयों की दिलचस्पी पालिटिक्स में थी! देवेश सपा का कार्यकर्ता था, रमेश बसपा का, और महेश भाजपा का। यही पार्टियाँ पिछले बीस सालों से सत्ता में आ जा रही थीं और क्षेत्र में विधायक और सांसद इन्हीं पार्टियों के हो रहे थे! तीनों ने बड़ी समझदारी से किसी न किसी को पकड़ रखा था! वे अपने नेता के साथ रहते, घूमते, खाते पीते और जनता की सेवा करते-यानी ट्रांसफर करवाने या रुकवाने का काम करते! छोटी मोटी नौकरी से यह बड़ा और सम्मान का धंधा था! लोगों पर रौब भी रहता और दबदबा भी! इनके पास हर मंत्री के साथ उठने बैठने और खाने पीने के किस्से होते!"[436] यही नहीं इस उपन्यास में भू माफिया के बारे में भी कई प्रसंग चित्रित हैं- "बनारस में मुहल्ले थे, नगर, बिहार और कालोनियाँ नहीं। इनका निर्माण शुरू हुआ 1980-90 के आसपास जब पूर्वांचल और बिहार में भू माफियाओं और बाहुबलियों का उदय हुआ! उन्होंने नगर के दक्खिन, पच्छिम और उतर बसे गाँव के गाँव ख़रीदे और उनकी 'प्लाटिंग' करके बेचना शुरू किया! देखते देखते पन्द्रह बीस वर्षों के अंदर गाँव के वजूद ख़त्म हो गए और उनकी जगह नए नए नामों के साथ नगर, कालोनियाँ और बिहार बस गए! यह बनारस था-महानगरों की तर्ज का।"[437] इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ आदि का बहुत ही सटीक चित्रण हुआ है।

5.8 राजनैतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप राजनैतिक-अर्थतंत्र के माध्यम लोक-उत्पीड़न बढ़ा है। आज की राजनीति दूषित राजनीति हो गयी है। भूमंडलीकरण के दौर की राजनीति अब अर्थ को

---

[436] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-83

[437] रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-103

केंद्र में रखकर की जा रही है। यही वजह है कि इसके घातक दुष्परिणाम देखने को मिल रहे। आज के दौर में लगभग सभी नेता मंत्री विधायक सांसद अपने पद और पैसे का गलत इस्तेमाल करने में तनिक भी संकोच नहीं कर रहे हैं यही वजह है कि लोक-उत्पीड़न में बढ़ोत्तरी हो रही है। मौजूदा राजनीति का उद्देश्य बदल सा गया है अब यह जनता की सेवा के लिए नहीं रह गयी है। इसी राजनैतिक-अर्थतंत्र के दुरुपयोग का यथार्थ चित्रण भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में बहुत ही बारीकी से चित्रित हुआ है।

'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर) उपन्यास में राजनीति में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार तथा राजनैतिक-अर्थतंत्र के माध्यम से बढ़ रहे लोक-उत्पीड़न का यथार्थ अंकन हुआ है। आज जिस तरह अर्थ केन्द्रित राजनीति हो रही है उसको संचालित करने वाले कोई साधारण लोग नहीं हैं इसे संचालित करने वाले लोग सात समंदर पार बैठे हैं और अपनी जरूरत के हिसाब से इसका संचालन कर रहे हैं- "अन्ना हजारे क्या कर लेंगे। हमारी सरकार तो उस महागुरु के दिए मंत्र पर चल रही है जो सात समंदर पार बैठा है। बेचारे भ्रष्टाचार हटाओ... भ्रष्टाचार हटाओ कहते चले जाएं, तो किसी पर क्या असर पड़ेगा। बड़े लोग और बाबा-देश कहते हैं कि भ्रष्टाचार बढ़ाओ... उन्नति की सीढ़ी है। किसकी चलेगी अन्ना की या भ्रष्टाचार की या भ्रष्टाचार को पवित्र यज्ञ वेदी मानने वाले धनदेवों की ?"[438] इस प्रकार इस उपन्यास में राजनीति में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार का और इस भ्रष्टाचार के माध्यम से बढ़ते लोक-उत्पीड़न का यथार्थ अंकन हुआ है।

'फाँस' (संजीव) उपन्यास में भी आज की दूषित राजनीति और लोकतान्त्रिक मूल्यों के ह्रास का यथार्थ चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में किसानों के लिए बनने वाली नई-नई नीतियों उन्हें जरूरत पर न मिलने वाले ऋणों, सब्सिडियाँ जिसे प्राप्त करने के लिए किसानों को जाने कितने संघर्ष करने पड़ते हैं। किसानों की इन्हीं सब समस्याओं तथा इस क्षेत्र में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार के वास्तविक सत्य

---

[438]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृष्ठ-19

को उपन्यासकार उद्घाटित करता है- "हम जो कुछ पढ़ते-देखते और सुनते हैं वह सिर्फ एक आभासीय चेहरा है। असल राजनीति और उसका अर्थशास्त्र तो समाज के कुछ खास वर्गों के हाथ में है जो तय करते हैं कि रस्सी कब गले की टाई होगी, कब माला और कब फाँसी का फंदा। यह सरासर लोकतांत्रिक मूल्यों में कमी और बाजार के सामाजिक व्यवहार में बढ़ते हस्तक्षेप के कारण हुई है। इससे निपटने के लिए किसान और किसानी को केंद्र में रखकर योजनाएं बनानी होंगी या किसानों को आगे बढ़कर बाजार और तंत्र को अपने नियंत्रण में ले लेना होगा। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गाँव, किसान और किसानी की अवस्था लगातार एक उपनिवेश के अंतर्गत रहने वाली जनता की हो गई तो आखिर क्यों?"[439] इस प्रकार किसान एकदम बेबस और लाचार हो गया है। किसानों की दशा ऐसी हो गयी है कि वह अब अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर पा रहे हैं। यही वजह है कि किसान समर्पण करने को मजबूर होते जा रहे हैं। इन्हीं कारणों से उपन्यास में देवभूमि के किसानों ने सरकार के आगे समर्पण कर दिया- "हम बिकाऊ हैं। हमारा सब कुछ बिकाऊ है। हमें खरीद लो। मार डालो या काट डालो। सिर्फ पेट भर भोजन और इंसान की जिंदगी दे दो हमें।"[440] यहाँ पर किसान गलत सरकारी नीतियों और उसमें व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार तथा भुखमरी आदि से त्रस्त होकर आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो रहा है- "हद हो गई। हर 8 मिनट पर एक आत्महत्या! राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने आत्महत्या करने वाले किसानों का ब्योरा माँगा। सचिव ने नहीं दिया। क्यों नहीं दिया, मत पूछो। तो 24 जनवरी को समन भेजा। सितंबर 2012 के तीस दिन में सात आत्महत्याएँ। 2006 में इसी लापरवाही के चलते मुख्य सचिव समेत 20 अधिकारियों पर एक-एक हजार जुर्माना। पिता-पुत्र ने एक साथ आत्महत्या कर ली। आयोग ने सरकार को आड़े हाथों लिया। 50-50 हजार का पैकेज घोषित

---

[439]फाँस, संजीव, पृष्ठ-109

[440]फाँस, संजीव, पृष्ठ-66

हुआ। हजम कर गए। ढाई लाख किसान चीटियों-से मर गए जैसे कोई मृत्यु उत्सव हो।[441] इस प्रकार देखा जा सकता है की जब तक किसान जिंदा था तब तक तो उसका शोषण हो ही रहा था लेकिन उसके मरने के बाद भी उसको मिलने वाले पैकेजों आदि को हजम कर दिया जा रहा है। इसमें कोई एक व्यक्ति संलिप्त नहीं है इसमें एक पूरा सिस्टम कार्य कर रहा है। नेता मंत्री सभी इस कमीशनखोरी में संलिप्त हैं यही वजह है कि आज के समय में लोक-उत्पीड़न के मामले बढ़ रहे हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेंद्र) उपन्यास में इसी राजनैतिक अर्थतंत्र के माध्यम से हो रहे उत्पीड़न को कुछ इस तरह से दिखाया गया है- "गोनू के बाप ने डकैती की कमाई से 3 एकड़ टांड़ को 30 एकड़ दोन में बदल दिया। अब गोनू की बारी थी। उसने डकैती का रूप-रंग बदल दिया हाई स्कूल तक की पढ़ाई काम आयी। विधायक के संग ब्लॉक-थाना, जिला-कचहरी, घूमने-फिरने के अपने फायदे थे। उसने बाजू के बदले दिमाग का इस्तेमाल किया।... लेकिन गोनुआ तो गोनुआ ही था। अपने जालिम बाप की सच्ची औलाद। ऐसा भी नहीं था कि उसने बूढ़ा होते कंठी धारण कर ली थी। रखनियों की जवान बेटियों का भी भरपूर इस्तेमाल करता। किसको थाना के बड़ा बाबू से सटाना है, किसको बी.डी.ओ. साहब के लिए बचाना है और कौन विधायक जी के नाइट हाल्ट में गोड़ दबाएगी? सबका हिसाब-किताब बुढ़वा रखता।"[442] इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में राजनैतिक अर्थतंत्र के बहाने हो रहे लोक-उत्पीड़न का चित्रण बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित हुआ है।

---

[441] फाँस, संजीव, पृष्ठ-158

[442] ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृष्ठ-36

5.9 वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति का यथार्थ अंकन हुआ है। आज की राजनीति निरंतर दूषित होती जा रही है। अब राजनीति जनता की भलाई की चीज नहीं रह गयी है। अब नेता लोग सिर्फ़ अपना भला और मुनाफ़ा देखकर राजनीति कर रहे हैं। जनता इनके लिए सिर्फ़ वोट बैंक है। इनके वोट के लिए चाहे इन्हें कितना भी घृणित कार्य करना पड़े वह करने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में दलगत राजनीति में इजाफ़ा हुआ है। यहाँ देखा जाए तो एक ही परिवार में कई-कई नेता पैदा हो गए हैं और सभी की राजनीतिक पार्टियाँ भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार देखा जाए तो सभी सिर्फ़ अपना जेब भरने के लिए भोली-भाली जनता को मूर्ख बना रहे हैं। अपने वोट की खातिर वह एक-दूसरे को आपस में लड़ा भी दे रहे हैं। जनता इनके मायाजाल में आसानी से फँसती चली जा रही है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास में भी इस प्रकार की दूषित होती राजनीति का चित्रण हुआ है। उपन्यास में वर्णित इस उद्धरण के माध्यम से हम दलगत राजनीति तथा वोट बैंक की राजनीति को आसबी से समझ सकते हैं- "दूसरी नश्ल नरेश और उसके भाईयों की थी! नरेश बिजली मैकेनिक था! सरकारी कर्मचारी था! लेकिन खम्भों से तार खींच कर घरों में अवैध कनेक्शन देता था और अच्छी खासी कमाई करता था। उसके तीनों भाईयों की दिलचस्पी पालिटिक्स में थी! देवेश सपा का कार्यकर्ता था, रमेश बसपा का, और महेश भाजपा का। यही पार्टियाँ पिछले बीस सालों से सत्ता में आ-जा रही थीं और क्षेत्र में विधायक और सांसद इन्हीं पार्टियों के हो रहे थे! तीनों ने बड़ी समझदारी से किसी न किसी को पकड़ रखा था! वे अपने नेता के साथ रहते, घूमते, खाते पीते और जनता की सेवा करते-यानी ट्रांसफर करवाने या रुकवाने का काम करते! छोटी मोटी नौकरी से यह बड़ा और सम्मान का धंधा था! लोगों पर रौब भी रहता और दबदबा भी! इनके पास हर मंत्री के साथ उठने बैठने

और खाने पीने के किस्से होते!"[443] यहाँ देखा जाए तो एक ही परिवार के लोग अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों से जुड़े हुए हैं तथा अपना-अपना धंधा चमका रहे हैं।

'फाँस' (संजीव) उपन्यास में उपन्यासकार संजीव ने वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति का बहुत ही सजीव चित्रण किया है। इस उपन्यास में वोट बैंक की खातिर नेता और मंत्री लोग किसानों को पैकेज बाँटते दिखाई दे रहे हैं- "मंथन के समारोह में अव्यवस्था फैल गयी। जिसके जो जी में आया बोलने लगा। कोई किसी की नहीं सुन रहा था। इस बीच पाटिल काका को एक सेठ डाँटने लगा- "हमारे पीसे वापस करो।" और भी जाने क्या-क्या! पाटील काका ने समारोह को भंडुल होने से बचाने की हर चंद कोशिश की। मंच पर आकर उन्होंने माइक सँभाला- मंत्री महोदय आप किसानों के लिए किसी पैकेज की घोषणा करने वाले हैं। कृपया शांति बनाए रखिए। गिफ्ट से भरा एक गिफ्ट वैन, खास आपके लिए बाहर खड़ा है।" "नहीं चाहिए हमें पैकेज-वैकेज, गिफ्ट-विफ्ट! घूम-फिरकर यह पैकेज तुम्हारे और तुम्हारे चमचों के लिए होता है। हमें पॉलिसी चाहिए और वह भी हवा में नहीं, ठोस जमीन पर।" उत्तेजना शांत होने के उलटे बढ़ती गयी। कोई चीख रहा था- "पानी बेचा, नदी बेचा, पहाड़ बेचा, जमीन बेची, खनिज बेचा, पूरा देश बेच दिया तुमने कारपोरेट बनियों को। तुम्हारी जगह जेल में है। मंत्री जी ने पहली बार मुंह खोला, चेहरा शांत। मोहिनी मुस्कुराहट। बोले- "दिमाग को ठंडा रखो। तुम लोगों ने मेंडालेखा समेत जिस-जिस संस्था का नाम मॉडल के बतौर पर लिया, सरकारी संरक्षण ना मिलता तो वे क्या पनप पाती? जवाब दिया शोध छात्र प्रेम ने- "महोदय, प्रतिरोध के विभिन्न रूपों में सरकार या सत्ता उन रूपों को मजबूरन स्वीकार करती है जो उसकी शक्ति संरचना और छवि के लिए सबसे उपयुक्त लगते हैं। मेंडालेखा का वैकल्पिक मॉडल आपको अपनी लोक पक्षीय छवि को चमकाने का अवसर देता है।"[444] इस प्रकार देखा जाए तो जनता अब धीरे-धीरे

---

[443]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-83
[444]फाँस, संजीव, पृष्ठ-250

समझदार होती जा रही है जो इनकी चाल को आसानी से समझ जा रही है। अब इन नेताओं और मंत्रियों को कोई दूसरे रास्ते तलाशने होंगे। अन्यथा इनकी राजनीति पर संकट आ सकता है। स्पष्ट है कि इस उपन्यास में वोट बैंक की राजनीति का बहुत ही यथार्थ चित्रण हुआ है।

'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) उपन्यास में भी वोट बैंक की राजनीति का चित्रण बहुत बारीकी से चित्रित हुआ है। इसे उपन्यासकार ने पहाड़पुर ग्राम सभा में होने वाले चुनाव के माध्यम बहुत ही सशक्त ढंग से चित्रित किया है- ''पहाड़पुर की ग्राम सभा है आरक्षित कोटे की! लड़ते हैं दलित जबकि निर्णायक होते हैं ठाकुर वोट जिनकी संख्या है साठ! ये साठ वोट जिसे चाहे उसे सभापति या प्रधान बना दें। खड़े हैं सोमारू राम और मगरू राम- मैं जिस दिन पहुँचा, उसी दिन शाम को ठाकुरों की बटोर थी बब्बन कक्का के यहाँ! तय हुआ कि यही मौका है जब वे पकड़ में आए हैं और यही मौका है बदला लेने का! जितना ऐंठना हो, ऐंठ लो वरना फिर हाथ नहीं आने वाले! विचार हुआ कि दुनिया और देश 21वीं सदी में चला गया है और पहाड़पुर में मंदिर ही नहीं, जल चढ़ाने के लिए बस महादेव की पिंडी है! मंदिर बनवाने के लिए मतदान से पहले ही उनसे पैसे ले लिए जाएँ। कहा जाय कि जो एक लाख देगा, वोट उसी को दिए जाएँगे! इस पर दो मत सामने आए! एक ग्रुप का कहना था कि ऐसी हालत में बोली बढ़ाते जाइए। एक का डेढ़, डेढ़ को दो-ऐसे। जो अधिकतम दें, वोट उसे दिए जाएँ! दूसरे ग्रुप का कहना था कि नहीं! यह मोल भाव है, नीलामी जैसी चीज है, अपनी जबान से पलटना है, हमारी प्रतिष्ठा और मर्यादा के अनुकूल नहीं है! दोनों से ही एक एक लाख ले लिया जाय और वोट आधे-आधे बाँट दें! तीस एक को, तीस दूसरे को! बताया दोनों को ना जाय। वे मान कर चलें कि साठों हमीं को जा रहे हैं।''[445] इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर हिंदी उपन्यासों में वोट बैंक की राजनीति तथा दलगत राजनीति का यथार्थ अंकन हुआ है।

---

[445]रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ-134

5.10 सांप्रदायिक राजनीति एवं राजनीति का अपराधीकरण

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिक राजनीति, दलगत राजनीति, राजनीति में भाई-भतीजावाद इस कदर हावी है कि आज की मौजूदा दौर की राजनीति भी कलुषित होती जा रही है। फलत: आज की राजनीति में अपराधीकरण बहुत तीव्र गति से पनप रहा है। इन सभी प्रवृत्तियों को लगभग सभी उपन्यासकारों ने अपने-अपने उपन्यासों में बहुत प्रमुखता से दर्शाया है। सांप्रदायिकता (Communalism) वस्तुतः सांप्रदायिक आधार पर बंटे दो समुदायों के बीच झगड़े और मारकाट को कहते हैं। सांप्रदायिकता हमारे देश के लिए एक गंभीर समस्या है। सांप्रदायिकता का आधार और धारणा यह है कि भारतीय समाज कई ऐसे सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ़ अलग हैं बल्कि एक-दूसरे के विरोधी भी हैं। इसी का नाजायज फ़ायदा नेता लोग उठाते हैं और अपने वोट बैंक की खातिर एक-दूसरे से लड़ाते हैं जिससे राजनीति में अपराधीकरण बढ़ता है। उन्हें अपने वोट बैंक के लिए किए इस अपराध से तनिक भी डर और भय नहीं लगता है। भूमंडलीकरण के दौर में इस सांप्रदायिक राजनीति और राजनीति में अपराधीकरण में बेतहाशा वृद्धि हुई है।

'दस बरस का भँवर' (रवीन्द्र वर्मा) उपन्यास में सांप्रदायिक राजनीति और राजनीति के अपराधीकरण के अनेकों प्रसंग चित्रित हुए हैं। मूलतः यह उपन्यास सांप्रदायिकता पर ही केन्द्रित है किंतु इसी सांप्रदायिक राजनीति ने राजनीति में अपराधीकरण जैसी प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) और गुजरात नरसंहार (2002) के बीच फैले दस वर्ष हमारे समकालीन इतिहास का ऐसा समय रचते हैं, जिसकी प्रतिध्वनियाँ देर और दूर तक जाएंगी। इस दशक में केवल सांप्रदायिकता ही परवान नहीं चढ़ी, बल्कि नव-उदारवाद ने भी हमारे समाज में जड़ें पकड़ी- जैसे दोनों सगी बहनें हों। उपभोक्तावाद मूल्य बना। सामाजिक सरोकार तिरोहित होने लगे। यह उपन्यास इसी आरोह-अवरोह को एक परिवार की कहानी द्वारा पकड़ने की कोशिश है, जिसके केंद्र में

रतन का तथाकथित ‘शिजोफ्रेनीया, है और उसका सामना करते बाँके बिहारी हैं। रतन के भाइयों की संवेदनहीनता जाने-अनजाने एक चक्रव्यूह की रचना करती है, जिससे बाँके बिहारी अपने छोटे बेटे को निकालते हैं। रतन अपने उन्माद में अपनी प्रेमिका का बलात्कार करता है। पत्रकार बाँके बिहारी के लिए यह ‘गुजरात’ का रूपक बन जाता है। इन्ही कथा-सूत्रों के इर्द-गिर्द लेखकीय चिंताएँ बिखरी हैं, जो समकालीनता का अतिक्रमण करती हुई मनुष्य की नियति की पड़ताल करती हैं। (उपन्यास के फ्लैप से साभार)। उपन्यास में सांप्रदायिकता के अनेक घटना प्रसंग कथा के क्रम में आए हुए हैं। 2002 के गोधरा कांड का जिक्र उपन्यास में इस तरह से आया है- “मुख्य ख़बर गुजरात में दंगों की ही थी। कल ट्रेन में दिन-भर कुछ छिटपुट ख़बरे कानों में पड़ती रही थीं। यह ख़बर पक्की थी। परसों घटे ‘गोधरा’ का बदला कल गुजरात ने ले लिया था। गोधरा कहाँ था? गोधरा यदि गुजरात में था तो क्या गुजरात ने गुजरात से बदला लिया? हत्या, लूट और आगजनी का तांडव हुआ था। पता नहीं क्या-क्या हुआ था? यह तो पहली खबर थी। ट्रेन में एक गुजराती अहमदाबाद का ‘संदेश’ लिए था-जिसमें गोधरा में हुए बलात्कारों की ख़बर थी। कल प्रतिशोध का अभियान शुरू हुआ। शहर जले थे। अहमदाबाद का चरम पूर्व सांसद एहसान ज़ाफरी का कल अपराह्न दहन था। भीड़ से घिरे अपने घर के सामने दौड़ते लहूलुहान ज़ाफरी को ज़िंदा जला दिया गया था।”[446] बाँके बिहारी को इस घटना ने नूरजहाँ की याद दिला दी। नूरजहाँ कोई और नहीं बल्कि इनके पोते की माँ अर्थात् इनकी बहू थी। वह अपने मन में सोचते हैं- “आग का कोई भरोसा नहीं। बाबरी मस्जिद ढहने के तुरंत बाद दस साल पहले नूरजहाँ के पिता लखनऊ में खो गए थे। नूरजहाँ रोई थी। क्या नूरजहाँ फिर रोएगी?....गुजरात गुजरात से बदला ले रहा था। क्या मेरा एक बेटा दूसरे बेटे से बदला लेगा? बाँके बिहारी की आँखों के सामने नूरजहाँ का चेहरा आ गया था। उन्होंने उसे फिर एक मुसलमान की तरह देखा जैसे ब्याह के वक्त देखा था। फिर भूल गए थे। भूला हुआ शिद्दत से दिसंबर 1992 में याद आया था। फिर लगातार याद आता

[446]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 12-13

रहा। जब-जब बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि का मसला गरमाता, बाँके बिहारी को नूरजहाँ का मुसलमान होना याद आता जैसे कोई दर्द बार-बार उठता हो।"[447] बाँके बिहारी और श्याम सुंदर गुजरात दंगे की बात करते हुए इसकी तह तक जाते हैं। श्याम सुंदर बाँके बिहारी से कहता है-"क्या देश में फ़ैलती बेरोज़गारी और गुजरात के बीच कोई रिश्ता है? सीधा रिश्ता है। कैसे? बेरोजगार राम-भक्तों की फ़ौज में भर्ती होते हैं। लोग उस फ़ौज को अयोध्या जाते देखते हैं और कीर्तन करने लगते हैं। फ़ौज गोधरा लौटती है और गुजरात हो जाता है। फिर श्याम सुंदर ने एक दशक पीछे लौटकर शहर की उस भावभीनी अगवानी को याद किया जो उसने राम-ईंट लिए अयोध्या प्रयाण करते कारसेवकों के लिए अंजाम दी थी। शहर में जगह-जगह उनके लिए पूड़ी-सब्जी, रायता और बूँदी के लड्डू परोसे गए थे। कारसेवकों के माथे पर भगवा-पट्टी थी। या गले में रामनामी दुपट्टा था और होंठों पर 'जैश्रीराम!' वे शहर को 'जैश्रीराम' बुलवाते अयोध्या के लिए रवाना हुए थे।"[448] इसी सच को बाँके बिहारी म्यूजियम के सभागार में कहते हैं- "देखिये, शहर का राम बदल रहा है। यह इतिहास से बदला लेना चाहता है। इसे बचाईए!....उन हाथों से बचाईए जो उन्हें अस्त्र की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। जब राम खुद बचेंगे, तभी वे आपको बचाएंगे। श्याम सुंदर की जिद थी कि लोगों को राम से छुड़ाना होगा। तब बाँके बिहारी ने शहर के दैनिक में 'नए राम, पुराने राम' शीर्षक से लेख लिखा कि- "नए राम 1949 में पैदा हुए जब बाबरी मस्जिद में मूर्तियाँ रखी गईं। ये प्रतिरोधी राम हैं। ये तुलसीदास के राम से अलग हैं, जो करुणा के सागर हैं। करुणा के सागर का गुजरात में लूट, बलात्कार और आगजनी से क्या संबंध हो सकता था? बंदरों की सेना ने भी राक्षसों की लंका में ऐसा नहीं किया था। 'जैश्रीराम' के नारे बोलते हुए अहमदाबाद के बाज़ारों से टी. वी., फ्रिज या जूते, कपड़े चुराना कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं था। यह

[447]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 13

[448]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 35

निखालिस लूट थी, डाका था।.... राम की वानर-सेना राक्षसी व्यवहार नहीं कर सकती थी। लूट और बलात्कार और आगजनी करते साक्षात राक्षस राम की सेना नहीं हो सकते।"[449]

इस उपन्यास में 1984 के सिख दंगे का भी जिक्र आया है। इसके माध्यम से नामकरण की राजनीति पर भी प्रहार किया गया है। इस दंगों में एक विशेष समुदाय के लोगों को निशाना बनाया गया था। नूरजहाँ भी इससे भयभीत होती है वह अपने पड़ोसी जगजीत सिंह की घटना को याद करते हुए मन में सोचती है- "पिछले माह कानपुर में विकराल दंगे हुए थे जिसमें सिखों को गले में जलते टायर डालकर या उन्हें पेट्रोल में नहलाकर जला दिया गया था। वे सड़क पर आग पहने हुए भागे थे.... वे चीखते थे और उनको घेरे आग भड़क जाती थी....इन्हीं सिखों में बैंक की कानपुर ब्रांच का अमरीक सिंह था, जिसकी लाश की शिनाख़्त नहीं हो सकी। ये 84 के दंगे थे। इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद।"[450] अमरीक सिंह नूर को दो बार जगतसिंह के सफ़ाचट चेहरे में नज़र आया था और उसने नूर से कहा था- 'नूर सुन, तू भी अपने नाम की दाढ़ी-मूँछ कटा ले। नूरजहाँ की जगह नूरकुमारी ठीक रहेगा। यह बात नूर नमन से कहते हुए कहती है-'अमरीक बच जाता, नमन, अगर वह जगजीत हो जाता।' इस प्रकार भारत में हुए सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका को चित्रित करता यह अपने दौर का सबसे महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि उपन्यास है। इसमें अल्पसंख्यकों की समस्या तथा उनकी वास्तविक स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास में दिखाया गया है जब दंगे हो रहे होते हैं तो उस समय इनके घरों में लूटपाट तथा इनकी बहू-बेटियों से बलात्कार जैसी घटना को अंजाम देने वाले इनके आस-पास के लोग ही होते हैं। यही लोग इनके घरों के साजो-सामान वगैरह को लूट ले जाते हैं। पत्रकार बाँके बिहारी जब गुजरात दंगे की रिपोर्टिंग करने अहमदाबाद जाते हैं तो श्याम सुंदर का साला मोहन उन्हें बतलाता है कि- "नवरंगपुरा में मुसलमानों के घर उसी तरह चिन्हित थे जैसे नाज़ी जर्मनी में यहूदियों

---

[449]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 35

[450]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 59-60

के। जब शहर भड़कता, मुसलमान पुराने शहर में अपनी बस्तियों में भाग जाते।"[451] इस उपन्यास में राजनीति, अर्थनीति, मीडिया तथा हिंदी सिनेमा के प्रभाव को बहुत सशक्त रूप में रेखांकित किया गया है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिक राजनीति और राजनीति के अपराधीकरण का यथार्थ चित्रण हुआ है।

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण के दौर में एक नए प्रकार की उपभोक्तावादी संस्कृति विकसित हुई है। इसका असर यह हुआ है कि आज का मनुष्य संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह रखने लगा है जिससे समाज में दया, ममता, भावना और आदर्श जैसे मूल्य तिरोहित होते जा रहे हैं। आज के दौर में बिचौलियों (दलाल) का वर्चश्व काफी बढ़ गया है आज कोई भी कार्य बिना ब्रोकर या बिचौलिए के बिना संपन्न नहीं हो रहा है। वैश्विकपूँजी नियामक संगठनों का बढ़ता वर्चस्व के कारण किसानों एवं मजदूरों की समस्या में बेतहासा वृद्धि हुई है। आज के युवाओं में यौन-लिप्सा और नशाखोरी की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। आज नेता मंत्री सांप्रदायिक राजनीति के साथ-साथ वोट बैंक की राजनीति में व्यस्त हैं जिससे राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। राजनीति में वंशवाद व भाई-भतीजावाद तथा राजनैतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न के मामले में बढ़ोत्तरी देखने को मिल रही है। पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ इतना सशक्त हुआ है कि आम जनमानस इनके समक्ष असहाय और बेबस नजर आता है। आज के नेता सिर्फ़ क्षेत्रवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद, तथा भाई-भतीजावाद में लगे हुए हैं। ऐसे में यदि देश के किसान और मजदूर गरीबी और भुखमरी का शिकार हो रहे हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किसानों के लिए बनने वाली पॉलिसियाँ और कानून लगातार बनाये जा रहें हैं लेकिन यह पॉलिसियाँ और कानून सिर्फ़ कागजों और लम्बी-लम्बी फाइलों तक ही सीमित हैं। ऐसे में किसान और मजदूर आत्महत्या करने को मजबूर हो रहा है।

[451]दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, पृष्ठ सं. 170

उपसंहार

आधुनिक युग भूमंडलीकरण और सूचना-संचार का युग है। भूमंडलीकरण संपूर्ण विश्व के लिए एक बहुआयामी, विशिष्ट तथा नई परिघटना है एवं इसके सरोकार वैश्विक हैं। भूमंडलीकरण सूचना और संचार-प्रौद्योगिकी के सहारे अपने विकास के उच्च शिखर पर पहुँचने में कामयाब हुआ। आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखाओं और उपशाखाओं में इसका उपयोग भी बहुतायत रूप में होने लगा है। किसी भी चीज़ को भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से जोड़कर देखना आज की एक खास प्रवृत्ति बन गयी है। यही वजह है कि इसके परिणामस्वरूप ज्ञान-विज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों में एक नए तरीके की क्रांति आयी है। जिसने हमें विचार करने की एक नई दृष्टि के साथ-साथ हमें एक 'विजन' भी दिया है। इसी विजन और नई दृष्टि के माध्यम से इस शोध प्रबंध में समाज के परिप्रेक्ष्य में भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास का विवेचन किया गया है।

'उपन्यास' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- उप+न्यास। उप का अर्थ है- समीप और न्यास का अर्थ है-रखना। इस प्रकार उपन्यास का शाब्दिक अर्थ हुआ- समीप रखना। अर्थात् मनुष्य के समीप रखी हुई वस्तु या कृति जिसे पढ़कर लगे कि वह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी भाषा में कही गयी है। उपन्यास अपनी इसी विशेषता के कारण पाठक वर्ग में अपनी विशेष जगह बनाने में कामयाब हुआ है। उपन्यास के लिए अंग्रेजी में नॉवेल (Novel) शब्द का प्रयोग होता है। प्रादेशिक भाषाओं में इसे कादम्बरी तथा आख्यायिका आदि नामों से भी जाना जाता है। कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद उपन्यास को वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा मानते हैं। उनका मानना था कि- उपन्यास मानव जीवन का चित्र होता है। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व होता है। उपन्यास गद्य की प्रमुख विधाओं में सबसे आधुनिक तथा लोकप्रिय विधा है। यूरोप में यह विधा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही अस्तित्व में

आ गयी थी किंतु हिंदुस्तान की परिस्थितियां थोड़ा भिन्न होने कारण उपन्यास का विकास बांगला और मराठी के कुछ बाद आरम्भ हुआ। इस विधा के जन्म में औद्योगिक क्रांति तथा हिंदी नवजागरण का विशेष योगदान रहा है। हिंदी में नावेल के अर्थ में उपन्यास शब्द का पहला प्रयोग 1875 ई. में हुआ। हिंदी में अंग्रेजी के ढंग का पहला हिंदी उपन्यास लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु (1882 ई.) है। हिंदी में उपन्यास विधा का उद्भव भारतेंदु युग से माना जाता है। उपन्यास हिंदी की अन्य विधाओं की अपेक्षा सबसे लोकप्रिय विधा है। इसका कारण यह है कि उपन्यास अपने उद्भव काल से ही बहुत ही तीव्र गति से विकास करता गया। इसलिए उपन्यास एक लोकप्रिय विधा बन सका है। जिस प्रकार नाटक के लिए मंचन और दर्शक जरूरी हैं उसी प्रकार उपन्यास के लिए पाठक का होना बहुत जरूरी है। यह वही पाठक वर्ग है जो किसी रचना की तह तक जाकर उसकी वास्तविक पड़ताल करता है तथा उसको समाज और साहित्य की कसौटी पर कसता है। यह पाठक वर्ग ही है जो किसी भी रचना को अच्छा और लोकप्रिय बनाता है। उपन्यास की रचना में निम्नलिखित तत्व शामिल होते हैं- कथानक (वस्तु या प्लाट), चरित्र या पात्र, संवाद या कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। कोई भी रचना (साहित्य) तब तक अच्छी नहीं बन पाती है जब तक कि वह अपने पाठकों और आलोचकों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। पाठकों और आलोचकों की कसौटी पर खरी उतरकर ही कोई रचना लोकप्रिय रचना बनती है। उपन्यास में कथा के साथ-साथ नाट्यात्मकता का भी सन्निवेश होता है तथा एक विशेष प्रकार की शैली की रोचकता के साथ-साथ कथावस्तु की सारगर्भित बुनावट भी होती है। अपनी इन्हीं सब विशेषताओं के कारण उपन्यास आज भूमंडलीकरण के दौर में भी आम जनमानस के जीवन संघर्षों को चित्रित करने का एक सशक्त माध्यम बना हुआ है। उपन्यास एक प्रकार से साहित्य, समाज, संस्कृति, राजनीति तथा इतिहास के साथ-साथ भौगोलिक परिस्थितियों का एक समन्वित रूप भी है। यही वजह है कि विषय और समस्याओं के चित्रण के हिसाब से उपन्यास विधा जैसी सामर्थ्य किसी अन्य विधा में नहीं दिखाई पड़ती है।

अत: इस शोध-प्रबंध में भूमंडलीकरण के प्रभाव का हिंदी उपन्यासों के संदर्भ में विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में यह देखने और समझने का प्रयास किया गया है कि भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप हिंदी उपन्यासों में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ-साथ आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर क्या परिवर्तन या बदलाव आया है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक-परिप्रेक्ष्य को हिंदी उपन्यासों के संदर्भ में विवेचित और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है।

अध्याय-1 भूमंडलीकरण : सैद्धांतिक पक्ष जिसमें भूमंडलीकरण के सिद्धांत पक्ष पर विचार प्रस्तुत किया गया है तथा भूमंडलीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया गया है। भूमंडलीकरण का वैचारिक-परिप्रेक्ष्य, भूमंडलीकरण से तात्पर्य, भूमंडलीकरण की परिभाषा, भूमंडलीकरण की प्रक्रिया एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, भूमंडलीकरण का वैचारिक आधार, उदारीकरण निजीकरण एवं भूमंडलीकरण, भूमंडलीकरण पूंजीवाद का नया रूप, भूमंडलीकरण नव-साम्राज्यवाद एवं उत्तर-उपनिवेशवाद, भूमंडलीकरण अमेरिकीकरण का पर्याय, भूमंडलीकरण के विविध आयाम जैसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि भूमंडलीकरण की शुरुआत पहले-पहल एक आर्थिक परिघटना के रूप में ही हुई थी। लेकिन इसके बाजारवादी पक्ष ने इसे जीवन के अन्य पक्षों तक पहुँचा दिया। आज वित्त और व्यापार के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा प्राकृतिक और पर्यावरणीय आदि सभी पक्षों पर इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इस प्रकार भूमंडलीकरण हमारे जीवन के सभी पक्षों आंतरिक तथा बाह्य दोनों को प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का प्रभाव भारतीय जनमानस पर इस कदर हुआ है कि आज वह इसके बिना किसी भी चीज़ की कल्पना भी नहीं कर सकता।

भारत शुरू से ही एक कृषि प्रधान तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला देश रहा है, यहाँ के प्रत्येक नागरिक को अपनी सभ्यता और संस्कृति से बहुत प्रेम और लगाव रहा है। भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता ही रही है विभिन्नता में एकता। यहाँ विभिन्न धर्मों एवं विभिन्न संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं लेकिन फिर भी उन सभी में आपसी सौहार्द्र तथा परस्पर समभाव और एकता की भावना है। हमारी प्राचीन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना इसी प्रकार की भावना से प्रेरित एक विशिष्ट संकल्पना थी, जिसमें संसार के समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना की गयी थी। लेकिन भूमंडलीकरण के 'ग्लोबल विलेज' की धारणा सिर्फ एक छलावा है, इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी कोई भावना नहीं है। फिर भी भूमंडलीकरण और सूचना-संक्रांति के इस युग ने हमें बहुत कुछ दिया है। यह सच है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप यदि हमने कुछ पाया है तो बहुत कुछ खोया भी है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के साम्य पक्ष भी हैं तो उसके वैषम्य पक्ष भी हैं। इसलिए इसके साम्य-पक्ष या सकारात्मक-पक्ष का स्वागत हो रहा है तो वहीं इसके नकारात्मक-पक्ष यानी वैषम्य-पक्ष का विरोध भी हो रहा है।

अध्याय-2 भूमंडलीकरण : भारतीय परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण का भारतीय परिदृश्य, 'वसुधैव कुटुम्बकम् , विश्वग्राम (ग्लोबल विलेज) तथा भूमंडलीकरण, भूमंडलीकरण का साम्य एवं वैषम्य पक्ष, भूमंडलीकरण तथा भारतीय समाज एवं साहित्य आदि विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण और हिंदी कविता तथा भूमंडलीकरण और हिंदी कथा-साहित्य का विवेचन किया गया है। भूमंडलीकरण और हिंदी कथा-साहित्य के अंतर्गत मुख्य रूप से हिंदी कहानी और हिंदी उपन्यास पर विचार प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः भारत में भूमंडलीकरण की शुरुआत बीसवीं सदी के अंतिम दशक से होती है। जुलाई 1991 में वी. पी. नरसिंह राव सरकार द्वारा लागू की गयी नई आर्थिक-नीति के साथ ही भारत में इस प्रक्रिया की शुरुआत होती है, जिसके कारण उदारीकरण और निजीकरण को प्रोत्साहन दिया गया। इसका परिणाम

यह हुआ कि भारत में वित्त तथा व्यापार की खुली छूट मिल गयी। इसी का लाभ उठाकर यहाँ पर बहुत-सी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने में कामयाब हो गई। इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने बाजारवाद को जन्म दिया और इस बाजारवाद तथा बाजारवादी-संस्कृति ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। इस बाजारवादी-संस्कृति में मनुष्य मात्र एक उपभोक्ता है, क्योंकि बाजारवाद सभी को सिर्फ एक उपभोक्ता की दृष्टि से ही देखता है तथा इसकी केन्द्रीय धुरी सिर्फ़ अर्थ पर केन्द्रित है। इस प्रकार इसमें आपसी संबंधों की धुरी का आधार सिर्फ़ और सिर्फ़ अर्थ या धन हो गया है। इसी अत्यधिक धन की चाह में आज का व्यक्ति या मनुष्य इतना उतावला हो गया है कि उसे और कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। लगभग सभी के लिए अत्यधिक धन की चाह और भौतिक सुख-समृद्धि ही मूलमंत्र हो गया है। इस प्रकार की जीवन-दृष्टि भूमंडलीकरण की ही उपज है। मुक्तिबोध ने बहुत पहले ही पूँजी तथा पूँजीवाद के दुष्चक्र तथा इसके स्वभाव के विषय में अपनी लम्बी कविता 'अँधेरे में' लिखा था कि-

'कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूँ,
वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
क्षल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।'

मुक्तिबोध अपने समकालीन व्यक्तिवादी आन्दोलन का संबंध सीधे पूँजीवाद से जोड़ते हैं वह इसके खिलाफ भी हैं। इस पूँजी तथा पूँजीवादी ताकतों के विभिन्न रूप हैं। इन्हीं पूँजीवादी ताकतों के बारे में कवि गोरख पाण्डेय अपने गीत 'पैसे का गीत' में कहते हैं-

'पैसे की बाहें अपार,

अजी पैसे की।

पैसे की महिमा अपरंपार,

अजी पैसे की'।

हिंदी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण की प्रवृत्तियाँ 1990 के बाद से स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यापक बदलाव आया। जिसे समय-समय पर रचनाकारों और लेखकों ने जाना पहचाना तथा उसे बहुत ही सशक्त ढंग से साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की हिंदी कविताओं, कहानियों, नाटकों, उपन्यासों तथा हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में भूमंडलीकरण की विभीषिका का चित्रण स्पष्ट रूप से होने लगता है। लेकिन हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की विसंगतियों और समस्याओं का चित्रण तथा विवेचन बहुत ही व्यापक स्तर पर हुआ है। इस प्रकार समस्याओं तथा भूमंडलीकरण की विभीषिका के चित्रण के हिसाब से हिंदी उपन्यास अन्य विधाओं की अपेक्षा सबसे अग्रणी रहा है। वैसे भी उपन्यास को मानव जीवन का महाकाव्य कहा गया है। तब तो जाहिर सी बात है कि इसमें अन्य विधाओं की अपेक्षा किसी भी घटना या चरित्र का वर्णन या चित्रण बहुत ही व्यापक ढंग से हुआ होगा। हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति तथा इसके यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासकारों में काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, संजीव, एस. आर. हरनोट, रवीद्र कालिया, रवीद्र वर्मा, राजू शर्मा, गिरिराज किशोर, अखिलेश, प्रदीप सौरभ, रणेन्द्र, राकेश कुमार सिंह, विनोद कुमार, कुणाल सिंह, स्वयं प्रकाश, बद्रीसिंह भाटिया, पंकज सुबीर, अजय नावरिया, विजय सौदाई, सत्यनारायण पटेल तथा महिला उपन्यासकारों में अलका सरावगी, ममता कालिया, मधु कांकरिया, कमल कुमार, नीलाक्षी सिंह, सुषमा जगमोहन, नीरजा माधव, निर्मला भुराड़िया, जयश्री राय आदि प्रमुख हैं।

अध्याय-3 भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास : एक विवेचन के अंतर्गत भूमंडलीकरण के प्रभाव की प्रमुखता से विवेचना करने वाले उपन्यासों के कथ्य पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि भूमंडलीकरण की विभीषिका को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों में 'दौड़', 'कल्चर वल्चर' (ममता कालिया) 'सेज पर संस्कृत' (मधु कांकरिया), 'एक ब्रेक के बाद', 'कलि-कथा : वाया बाइपास' (अलका सरावगी) 'पासवर्ड' (कमल कुमार), 'शुद्धिपत्र' (नीलाक्षी सिंह), 'जिंदगी ई-मेल' (सुषमा जगमोहन), 'गुलाम मंडी' (निर्मला भुराड़िया), 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह), 'पाँच आँगनो वाला घर' (गोविंद मिश्र), 'धार', 'सावधान! नीचे आग है', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'फाँस' (संजीव), 'दस बरस का भँवर', 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा', 'आखिरी मंजिल' (रवींद्र वर्मा), 'विसर्जन', 'हलफनामे' (राजू शर्मा), 'एबीसीडी' (रवींद्र कालिया), 'हिडिंब' (एस. आर. हरनोट), 'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर), 'निर्वासन' (अखिलेश), 'मुन्नी मोबाइल', 'तीसरी ताली', 'देश भीतर देश' (प्रदीप सौरभ), 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश' (रणेन्द्र), 'जो इतिहास में नहीं है', 'पठार पर कोहरा', 'जहाँ खिले हैं रक्तपलाश', 'हुल पहाड़िया' (राकेश कुमार सिंह), 'रेड जोन' (विनोद कुमार), 'आदिग्राम उपाख्यान' (कुणाल सिंह), 'ईधन' (स्वयं प्रकाश), 'डेंजर ज़ोन', 'रिले-रेस' (बद्रीसिंह भाटिया), 'उधर के लोग' (अजय नावरिया), 'दलित' (विजय सौदाई), 'गाँव भीतर गाँव' (सत्यनारायण पटेल), 'अकाल में उत्सव' (पंकज सुबीर), 'विघटन' (जयनंदन), 'नक्सल' (उद्भ्रांत) आदि प्रमुख हैं। हालाँकि इन सभी उपन्यासों को शोध में शामिल कर पाना संभव नहीं था इसलिए इस शोध में सिर्फ़ उन्हीं उपन्यासों को सम्मिलित किया गया है जिनमें भूमंडलीकरण से उपजी तमाम प्रकार की समस्याओं और विसंगतियों की सशक्त ढंग से विवेचना हुई है। भूमंडलीकरण के प्रभाव की सशक्त ढंग से विवेचना करने वाले उपन्यासों में 'गायब होता देश', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'जिंदगी ई-मेल', 'तीसरी ताली', 'दस बरस

का भँवर', 'दौड़', 'फाँस', 'मुन्नी मोबाइल', 'रेहन पर रग्घू', तथा 'स्वर्णमृग' आदि प्रमुख उपन्यास शामिल हैं।

अध्याय-4 भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित सामाजिक एवं सांस्कृतिक यथार्थ में सामाजिक यथार्थ का बदलाव आभासीय यथार्थ के रूप में, दिखावे के उपभोग की संस्कृति, संयुक्त परिवार व्यवस्था का तीव्र-विघटन, एकल परिवार व्यवस्था, सहजीवन-प्रणाली, वृद्धों के प्रति नई पीढ़ी में आया बदलाव, लोक-संस्कृति का विघटन और अपसंस्कृति का बढ़ता हुआ प्रसार, देशी भाषाओं के अस्तित्व पर गहराता संकट, खान-पान तथा वेष-भूषा (परिधान) तथा धार्मिक स्थिति आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक नई प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ। लेकिन यह संस्कृति भारत के लिए एक अपसंस्कृति ही साबित हुई है। वाकई में भूमंडलीकरण द्वारा उपजी संस्कृति आज एक अपसंस्कृति बन गई है। जिसके लिए करुणा, दया, भावना, भाईचारे, आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा है। यह एक प्रकार से लाभ की संस्कृति बनकर रह गयी है। इसमें स्वार्थपरता की भावना और अधिक बलवती हुई है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने परिवार जैसी इकाई को तहस-नहस कर डाला है। मंगेश डबराल ने अपनी कविता 'भूमंडलीकरण' में दुनिया व समाज के बदलते मानवीय सम्बन्धों के विषय में लिखा है-

"बड़ी तेजी से दुनिया बनती जा रही है
लोभ क्रोध ईर्ष्या द्वेष के लिए अब कहीं और नहीं जाना पड़ता
मनुष्यों के संबंध बहुत पतले तारों से बाँध दिए गए हैं
जो बात-बात में टूट जाते हैं।

भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट होता है। भूमंडलीकरण के दौर के लगभग सभी उपन्यासों में पारिवारिक विघटन की समस्या को प्रमुखता से उठाया गया है। रेहन पर रग्घू उपन्यास के रघुनाथ का परिवार हो या जिंदगी ई-मेल के दीप और तनु का परिवार हो या फिर

दौड़ उपन्यास के पवन और सघन का परिवार हो या फिर स्वर्णमृग के पुरुषो तथा दस बरस के भंवर के पत्रकार बाँके बिहारी का परिवार हो सभी का परिवार तहस-नहस हो जाता है। इन्हीं समस्याओं के संबंध में डॉ. श्यामा चरण दुबे लिखते हैं कि- "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं- एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है- अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की...हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।" (समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं.-134) इस अपसंस्कृति का प्रसार हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक साबित हो रहा है तथा इसके बहुत ही खतरनाक पहलू भी सामने आ रहे हैं। इस प्रकार देखा जाए तो स्पष्ट रूप से हमारे प्राचीन सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। यही नहीं इस प्रक्रिया ने संपूर्ण भारतीय समाज और संस्कृति के साथ-साथ यहाँ के साहित्य को भी काफी व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है। इसलिए समाज में आया हुआ परिवर्तन या बदलाव साहित्य में भी रूप ग्रहण करने लगता है। समय के साथ-साथ परिवर्तन की जो आंधियाँ समाज में आई हैं उनका बहुत ही व्यापक और सूक्ष्म स्तर पर साहित्य में प्रस्तुतीकरण अवश्य हुआ है।

अध्याय-5 भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में चित्रित राजनैतिक एवं आर्थिक यथार्थ में उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि, संपत्ति या धन की अत्यधिक चाह, बिचौलियों (दलाल) का बढ़ता प्रभाव, वैश्विकपूँजी नियामक संगठनों का बढ़ता वर्चस्व के अंतर्गत किसानों एवं मजदूरों की

समस्या, यौन-लिप्सा, जिगालों संस्कृति, सेक्स वर्कर, वैश्विकपूँजी और पर्यावरण तथा जनसंचार माध्यम, तकनीकी और हिंदी उपन्यास, वोट बैंक की राजनीति, दलगत राजनीति, राजनीति का अपराधीकरण, राजनीति में वंशवाद व भाई-भतीजावाद, राजनैतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न, पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़, सांप्रदायिक राजनीति आदि पर विशेष रूप से विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप सांप्रदायिकता स्थिति और अधिक भयावह हुई है। भूमंडलीकरण के दौर के लगभग सभी हिंदी उपन्यासों में इस समस्या को प्रमुखता से चित्रित किया गया है। आज नेता मंत्री विधायक सभी सांप्रदायिक राजनीति के साथ-साथ वोट बैंक की राजनीति में व्यस्त हैं जिससे राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। राजनीति में वंशवाद व भाई-भतीजावाद तथा राजनैतिक-अर्थतंत्र के बहाने लोक-उत्पीड़न के मामले में बढ़ोत्तरी देखने को मिल रही है। पुलिस नौकरशाह, राजनेता, व्यापारी और माफियाओं का गठजोड़ इतना सशक्त हुआ है कि आम जनमानस इनके समक्ष असहाय और बेबस नजर आता है। आज के नेता सिर्फ़ क्षेत्रवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद, तथा भाई-भतीजावाद में लगे हुए हैं। ऐसे में यदि देश के किसान और मजदूर गरीबी और भुखमरी का शिकार हो रहे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। हालाँकि किसानों के लिए बनने वाली पॉलिसियाँ और कानून लगातार बनाये जा रहें हैं लेकिन यह पॉलिसियाँ और कानून सिर्फ़ कागजों और लम्बी-लम्बी फाइलों तक ही सीमित हैं। ऐसे में किसान और मजदूर आत्महत्या करने को मजबूर हो रहा है। ‘फाँस’ उपन्यास के किसान शिबू और सुनील इसके उदाहरण हैं। यह दोनों आत्महत्या कर लेते हैं। इनके मरने के बाद इनके परिवार का शोषण हो रहा होता है मरने के बाद उनको मिलने वाले पैकेजों आदि को भी हजम कर दिया जाता है। हालाँकि इसमें कोई एक व्यक्ति संलिप्त नहीं है इसमें एक पूरा सिस्टम कार्य कर रहा है। नेता मंत्री सभी इस कमीशनखोरी में संलिप्त हैं यही वजह है कि आज के समय में लोक-उत्पीड़न के मामले लगातार बढ़ रहे हैं। इस प्रकार नौकरशाह, मीडिया और पूंजीपति और नेता

मिलकर समाज और देश को गर्त में धकेल रहे हैं। आज के युवा सेक्स और शराब के नशे में इस कदर मदमस्त हैं कि उनको पता ही नहीं चल रहा है कि हमारा देश और समाज किस स्थिति से गुजर रहा है। 'दस बरस का भँवर' उपन्यास के पात्र रतन हो या पवन तथा 'रेहन पर रग्घू' के संजय इसी तरह के पात्र हैं। इसी विसंगति तथा अपसंस्कृति के विषय में प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. श्यामा चरण दुबे लिखते हैं कि- "बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे भयावह पहलू है अपसंस्कृतियों का उदय। इनके प्रभाव से समाज के कुछ विशेषाधिकार प्राप्त अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और व्यक्ति-केन्द्रित भोगवादी जीवन-दृष्टि से नियंत्रित होने लगते हैं। यह नव-सुखवाद सुख की व्याख्या करता है। यह 'प्ले ब्वॉय' और 'पेन्ट हाउस' की संस्कृति है, जो शरीर के अनिर्बंध प्रदर्शन में सौन्दर्य की खोज करती है। स्वछंदता के नाम पर यौन अनुशासन क्षीण होता है। पारिवारिक बंधन इस सीमा तक ढीले होते हैं कि विवाह की संस्था ही अनावश्यक हो जाती है। मनोरंजन के नाम पर ढेर सारी यौन विकृतियों का प्रदर्शन होता है, जिनमें अनेक अप्राकृतिक और असामान्य यौनाचर भी सम्मिलित हैं। साहित्य का भी अवमूल्यन होता है। वह सृजन न होकर नीचे धरातल की व्यावसायिकता बन जाता है...संस्कृति का उद्योग अनेक मैडोनाओं और माइकल जैक्सनों को जन्म देता है, जिनसे विकृतियाँ विस्तार पाती हैं...यह अपसंस्कृति अनियंत्रित विकास और छद्म आधुनिकता की देन है।" (समय और संस्कृति, श्यामा चरण दुबे, पृष्ठ सं.-171) इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण द्वारा उपजी यह संस्कृति हमारे समाज के लिए बहुत ही घातक है। तथा इसका चित्रण भूमंडलीकरण के दौर के सभी उपन्यासों में प्राय: देखने को मिलता है । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त सभी बिन्दुओं के आलोक में भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास का विवेचन समाज, साहित्य संस्कृति, सभ्यता और मनुष्यता को केंद्र में रखकर किया गया है तथा उसमें भी मानवता तथा मानव के हित को सर्वोपरि रख कर विचार गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रन्थ-सूची

1) गायब होता देश, रणेंद्र, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, प्र. सं.-2014 ई.।
2) ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2013 ई.।
3) जिंदगी ई-मेल, सुषमा जगमोहन, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008 ई.।
4) तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2013 ई.।
5) दस बरस का भँवर, रवीन्द्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.-2007 ई.।
6) दौड़, ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2013 ई.।
7) फाँस, संजीव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015 ई.।
8) मुन्नी मोबाइल, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्र. सं.-2009 ई.।
9) रेहन पर रग्घू, काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्र. सं.-2010 ई.।
10) स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, प्र. सं.-2012 ई.।

सहायक ग्रन्थ -सूची

1) आदिवासी विमर्श, डॉ. रमेश चन्द मीणा, राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण-2013 ई.।
2) आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, प्रथम संस्करण-2013 ई.।
3) आधुनिक हिंदी उपन्यास, भाग-1, संपा. भीष्म साहनी, डॉ. रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2010 ई.।

4) आधुनिक हिंदी उपन्यास, भाग-2, संपा. डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2010 ई.।

5) आधुनिकता के आईने में दलित, संपा. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2002 ई.।

6) आधुनिकता पर पुनर्विचार, अजय तिवारी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2012 ई.।

7) आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नवसमाजशास्त्रीय सिद्धांत, एस. एल. दोषी, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली , संस्करण-2002 ई.।

8) उत्पादक श्रम और आवारा पूँजी, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2010 ई.।

9) उदारीकरण, भूमंडलीकरण एवं दलित, संपा. अरुण कुमार, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली , संस्करण-2009 ई.।

10) उदारीकरण का सच, अमित भादुड़ी, दीपक नैय्यर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2008 ई.।

11) उदारीकरण की तानाशाही, प्रेमसिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

12) उदारीकरण की राजनीति, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली , संस्करण-2009 ई.।

13) उपन्यास की संरचना, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2012 ई.।

14) उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2010 ई.।

15) उपन्यास और लोकजीवन, रैल्फ फॉक्स, (अनुवाद- नरोत्तम नागर), मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008 ई.।

16) उपन्यासों के सरोकार, डॉ. ई. विजयलक्ष्मी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2012 ई.।

17) उपन्यासों के रचना प्रसंग, कुसुम वार्ष्णेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2007 ई.।

18) उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, राजेंद्र यादव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2007 ई.।

19) उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2009 ई.।

20) उपन्यास का काव्यशास्त्र, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

21) उपन्यास का उदय, आयन वाट, (अनुवादक- डॉ. धर्मपाल सरीन), हरियाणा साहित्य अकादमी, हरियाणा, द्वितीय संस्करण-1990 ई.।

22) उपन्यास का पुनर्जन्म, परमानंद श्रीवास्तव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-1995 ई.।

23) उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास, परमानंद श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012 ई.।

24) कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, मार्क्स, एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को।

25) दशवें दशक के हिंदी उपन्यास और भूमंडलीकरण, शिवशरण कौशिक, अध्ययन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली , संस्करण-2012 ई.।

26) दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2010 ई.।

27) दलित साहित्य के प्रतिमान, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2012 ई.।

28) दलित विमर्श : कुछ मुद्दे कुछ सवाल, उमाशंकर चौधरी, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण-2011 ई.।

29) दुनिया की बहुध्रुवीयता, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2010 ई.।

30) नारीवादी विमर्श, राकेश कुमार, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण-2011 ई.।

31) पूँजीवादी प्रपंच में प्रकृति और पर्यावरण, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2012 ई.।

32) पूँजी का अंतिम अध्याय, सच्चिदानंद सिन्हा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

33) पूँजीवाद और आधुनिक सामाजिक सिद्धांत, एंथनी गिडेंस, (अनुवादक रामकवीन्द्र सिंह), ग्रन्थ -शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि. नई दिल्ली , संस्करण-2006 ई.।

34) पितृसत्ता के नए रूप स्त्री और भूमंडलीकरण, संपा. राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान, अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2010 ई.।

35) प्रेमचंद और भारतीय समाज, नामवर सिंह, (संपा. आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2010 ई.।

36) बीसवीं सदी के अंत में उपन्यास, प्रकाश मनु, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2003 ई.।

37) भारत का भूमंडलीकरण, संपा. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2003 ई.।

38) भारतीय ग्राम, श्यामाचरण दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2002 ई.।

39) भारतीय जनजातियाँ, रूपचंद वर्मा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2003 ई.।

40) भारतीय उपन्यास साहित्य का उद्भव : तुलनात्मक समाजशास्त्रीय विश्लेषण, डॉ. आर. एस. सर्राजु, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण-2005 ई.।

41) भाषा और समाज, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , सप्तम संस्करण-2010 ई.।

42) भाषा और भूमंडलीकरण, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

43) भूमंडलीकरण, पुष्पेश पंत, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण-2009 ई.।

44) भूमंडलीकरण : मिथक या यथार्थ, गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पाण्डेय, अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण-2005 ई.।

45) भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, सच्चिदानंद सिन्हा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2003 ई.।

46) भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति, सुरेश पंडित, शिल्पायन वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण-2010 ई.।

47) भूमंडलीकरण के युग में पूँजीवाद, समीर अमीन, (अनुवादक- रामकवीन्द्र सिंह), ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि. लक्ष्मीनगर, दिल्ली, संस्करण-2003 ई.।

48) भूमंडलीकरण और मीडिया, कुमुद शर्मा, ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2003 ई.।

49) भूमंडलीकरण के भंवर में भारत, कमल नयन काबरा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2008 ई.।

50) भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, अमित कुमार सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2010 ई.।

51) भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, प्रभा खेतान, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2010 ई.।

52) भूमंडलीकरण, निजीकरण व हिंदी, डॉ. माणिक मृगेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2009 ई.।

53) भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2012 ई.।

54) लोकतंत्र की चुनौतियाँ, सच्चिदानंद सिन्हा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2005 ई.।

55) विकास का समाजशास्त्र, श्यामाचरण दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-1997 ई.।

56) शोषण के अभयारण्य भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव और विकल्प का सवाल, अशोक कुमार पाण्डेय, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2010 ई.।

57) शिक्षा और भूमंडलीकरण, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

58) संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2012 ई.।

59) संस्कृति और समाजवाद, सच्चिदानंद सिन्हा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2004 ई.।

60) संस्कृति और समाज, सुभाष शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2013 ई.।

61) संरचनावाद उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, गोपीचंद नारंग, (उर्दू से अनुवाद देवेश), साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2004 ई.।

62) सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , द्वितीय संस्करण-2009 ई.।

63) समकालीन हिंदी उपन्यास, एन. मोहनन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2013 ई.।

64) समकालीन हिंदी उपन्यास : समय से साक्षात्कार, डॉ. ए. विजयलक्ष्मी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2006 ई.।

65) सदी के प्रश्न, जितेन्द्र भाटिया, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2004 ई.।

66) समय और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली , संस्करण-2005 ई.।

67) साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था, व्ला. इ. लेनिन, (अनुवाद और संपादन-नरेश 'नदीम') प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण-2005 ई.।

68) साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ, रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2008 ई.।

69) साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, अज्ञेय, संपा. कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2010 ई.।

70) श्रम का भूमंडलीकरण, संपा. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण-2004 ई.।

71) हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, सूरज पालीवाल, शिल्पायन प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण-2008 ई.।

72) हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2012 ई.।

73) हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , संस्करण-2005 ई.।

74) हिंदी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, तृतीय संस्करण-1992 ई.।

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1) GLOBALIZATION: A VERI SHORT INTRODUCTION, MANFRED B. STEGER, OXFORD UNIVERSITY PRESS, EDITION 2009.

2) GLOBLIZATION, WAYNE ELLWOOD, RAWAT PUBLICATIONS, NEW DELHI, EDITION 2005.
3) GLOBAL CAPITALISM AND AMERICAN EMPIRE, LEO PANITCH AND SAM GINDIN, AAKAR BOOKS, DELHI, EDITION 2010.
4) MODERNITY GLOBALIZATION AND IDENTITY, AVIJIT PATHAK, AAKAR BOOKS, DELHI, EDITION 2006.

संदर्भ कोश

1) अंग्रेजी-हिंदी कोश, फ़ादर कामिल बुल्के, ये. स., काथलिक प्रेस, राँची, संस्करण-2009 ई.।
2) तुलनात्मक साहित्य विश्वकोश, प्रथम खंड : सिद्धांत एवं अनुप्रयोग, संपा. प्रो. जी. गोपीनाथन, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, संस्करण-2008 ई.।
3) प्रशासनिक शब्दावली हिंदी-अंग्रेज़ी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली , संस्करण-2009 ई.।
4) राजपाल हिंदी शब्दकोश, डॉ. हरदेव बाहरी, राजपाल एंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली, सत्तरहवाँ संस्करण-2002 ई.।
5) वृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह विज्ञान खंड-1 और खंड-2, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली , पुनर्मुद्रण-1990 ई.।
6) हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पारिभाषिक शब्दावली, संपा. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण-1986 ई.।

7) हिंदी साहित्य कोश, भाग-2, नामवाची शब्दावली, संपा. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण-1986 ई.।

पत्र-पत्रिकाएँ

1) आजकल, वर्ष-69, अंक-11, मार्च-2014, संपा. फरहत परवीन।

2) आलोचना त्रैमासिक (सहस्राब्दी अंक), अंक-48, जनवरी-मार्च-2013, संपा. अरुण कमल, अंक-49, अप्रैल-जून-2013 संपा. अरुण कमल। अंक-5, अप्रैल-जून-2001, संपा. परमानंद श्रीवास्तव।

3) कथाक्रम (त्रैमासिक), वर्ष-5, अंक-21 जुलाई-सितंबर-2004। वर्ष-16, अंक-59, जनवरी-मार्च-2014, संपा. शैलेंद्र सागर।

4) कथादेश (मासिक), वर्ष-32, अंक-9, नवंबर-2012, संपा. हरिनारायण।

5) गगनांचल, जुलाई-अक्टूबर 2012 (संयुक्तांक) संपा. अजय कुमार गुप्ता।

6) गवेषणा, अंक-97, 2010, संपा. महेंद्र सिंह राणा।

7) चौपाल (अर्धवार्षिक), वर्ष-1, अंक-1, संपा. कामेश्वर प्रसाद सिंह।

8) तद्भव, वर्ष-2, अंक-1, अक्टूबर-2013, संपा. अखिलेश।

9) दिशासन्धान, अंक-1, अप्रैल-जून-2013, संपा. कात्यायनी/सत्यम।

10) नया ज्ञानोदय (मासिक), भारतीय ज्ञानपीठ, अंक-127, सितंबर-2013 संपा. रवीन्द्र कालिया। अंक-128, अक्तूबर-2013 संपा. रवीन्द्र कालिया।

11) पुस्तक वार्ता, अंक-48-49, सितंबर-दिसंबर-2013, संपा. राकेश श्रीमाल।

12) बहुबचन (त्रैमासिक), वर्ष-2, अंक-6, जनवरी-मार्च-2001, प्रधान संपा. अशोक वाजपेयी, सह-संपादक-प्रभात रंजन। वर्ष-2, अंक-7, अप्रैल-जून-2001, प्रधान संपा. अशोक वाजपेयी, सह-संपादक-प्रभात रंजन।

13) लमही, वर्ष-6, अंक-3, जनवरी-मार्च-2014, संपा. ऋत्विक राय। वर्ष-9, अंक-1, जुलाई-सितंबर-2016, संपा. ऋत्विक राय।

14) संवेद (उपन्यास, बाज़ार और लोकतंत्र विशेषांक), वर्ष-5, अंक-1, जनवरी- 2013, संपा. किशन कालजयी।

15) संवेद (भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी कविता विशेषांक), वर्ष-5, अंक-7, जुलाई-2013, संपा. किशन कालजयी।

16) समकालीन भारतीय साहित्य (भूमंडलीकरण विशेषांक), वर्ष-32, अंक-156, जुलाई-अगस्त-2011, संपा. सुनील गंगोपाध्याय।

17) समयांतर (मासिक), वर्ष-44, अंक-5, फरवरी-2013, संपा. पंकज बिष्ट।

18) साखी (एडवर्ड सईद पर केन्द्रित), अंक: 13-14, जुलाई-दिसंबर 2006, संपा. सदानंद शाही।

19) स्त्रीकाल, अंक-9, सितंबर-2013, अतिथि संपादक-अनिता भारती।

समाचार-पत्र

1) अमर उजाला, 5 जून 2016, पृष्ठ सं.-14, इलाहबाद-संस्करण।

2) जनसत्ता, 7 अप्रैल 2017, पृष्ठ सं.-6, नई दिल्ली -संस्करण, 26 अप्रैल 2017, पृष्ठ सं.-6, नई दिल्ली -संस्करण।

3) देशबंधु समाचार, 26 जून 2015, राष्ट्रीय संस्करण।

4) दैनिक जागरण, 08 जुलाई 2016, राष्ट्रीय संस्करण।

इंटरनेट

https://www.wikipedia.org/

परिशिष्ट

- प्रकाशित शोध-आलेख-1
- प्रकाशित शोध-आलेख-2
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र-1
- राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमाण-पत्र-2

शोध-ऋतु

SHODH-RITU

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अंक-७ भाग-2 IMPACT FACTOR-1.५ ISSN NO.२४५४-६२८३ जनवरी-मार्च-२०१७

AN INTERNATIONAL MULTI-DISCIPLINARY RESEARCH JOURNAL

{ प्रकाशन तिथि: 2५ मार्च, २०१७ }

सम्पादक

डॉ.सुनील जाधव

तकनीकि सम्पादक
एवं
मुखपृष्ठ
अनिल जाधव
९८६७८९८९४५

प्रकाशन / प्रकाशक
नव साहित्यकार
पब्लिकेशननांदेड ,
डॉसुनील जाधव.

मेल पता:
Shodhrityu78@yahoo.com

सम्पादकीय पता
महाराणा प्रताप हाउसिंग सोसाइटी,
हनुमान गढ़ कमान के सामने,
नांदेड ४३१६०५-
महाराष्ट्र भारत,

चलभाष ९४०५३८४६७२:
९८५०७०२७६३

<u>आलेख भेजने हेतु महत्वपूर्ण बिन्दू</u>

1.फॉण्ट: कृति देव १०
साइज १४-वार्ड-७
2.आलेख पेज मर्यादा:चार पेज
{अतिरिक्त प्रति पेज १०० रूपये देय होगा }
३.आलेख के साथ आलेख का सारांश भेजना होगा |
४.एक पासपोर्ट साइज फोटो |
५.आलेखों का चयन शोध-चयन समीति द्वारा किया जायेगा |
६.स्तरीय आलेख ही स्वीकृत किये जायेंगे |
७.सदस्यता शुल्क: वार्षिक ८०० रु डाकव्यय खर्च प्रति अंक ५० रु अधिक देय होगा |
८.हमारा मेल पता :
Shodhrityu78@yahoo.com
9.हमारा ब्लॉग पता हैं-
www.shodhritu.blogspot.com
10.डाक पता : डॉ.सुनील जाधव
महाराणा प्रताप हाउसिंग सोसाइटी,
हनुमान गढ़ कमान के सामने,
नांदेड-४३१६०५ महाराष्ट्र
११.प्रति आलेख शुल्क:१००० रु

अंक-७ भाग-2 ISSN –२४५४-६२८३ IMPACT FACTOR-1.5

ADDRESS
INFRONT OF HANUMAN GADH KAMAN,
MAHARANA PRATAP HOUSING
SOCIETY,
NANDED-431605
MAHARASHTRA

EMAIL: SHODHRITYU78@YAHOO.COM

MOBILE
9405384672
9850702763

PRIZE:
PER- RESEARCH
1000/-RS

PRINTER
TANMAY PRINTER,
NANDED
DR.SUNIL JADHAV,NANDED

PUBLICATION /
PUBLISHER
NAVSAHITYKAR PUBLICATION,
NANDED
DR.SUNIL JADHAV, NANDED

सम्पादक
डॉ.सुनील जाधव

तकनीकि सम्पादक
अनिल जाधव

पता
महाराणा प्रताप हाउसिंग सोसाइटी,
हनुमान गढ़ कमान के सामने,
नांदेड-४३१६०५
महाराष्ट्र

संकेत स्थल :
SHODHRITYU78@YAHOO.COM

चलभाष :
९४०५३८४६७२
९८५०७०२७६३

शुल्क :

प्रति अंक-२०० रु
प्रति आलेख १००० रु

मुद्रण/ मुद्रक

तन्मय प्रिंटर्स,नांदेड
डॉ.सुनील जाधव,नांदेड

प्रकाशन / प्रकाशक

नव साहित्यकार पब्लिकेशन ,
नांदेड
डॉसुनील जाधव.

ISSN-2454 6283 IMPACT 1.5

अनुक्रमणिका

*	सम्पादकीय	डॉ.सुनील जाधव	०६
१.	वस्तु से मानवी बनती नारी	डॉ.मुदिता चन्द्रा	०८
२.	पितृसत्ता और स्त्री	परषोतम कुमार	१७
३.	दसवें दशक के हिंदी उपन्यासों में मित्रता के प्रति संवेदना	डॉ.सन्मुख नागनाथ मुच्छटे	२१
४.	वीरेन्द्र जैन के उपन्यास 'डूब' में आर्थिक–चेतना	दीपशिखा	२७
५.	विजन' : चिकित्सा क्षेत्र के भीतरी सत्यों का उद्घाटन	प्रो.ज्ञानेश्वर चिट्टमपल्ले	३२
६.	डॉ. रांगेय राघव एवं डॉ. भीष्म साहनी : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. बसवराज के . बारकेर	३५
७.	आधुनिक हिन्दी महिला कथा–साहित्य में चित्रित नारी की विशेषताएँ	डॉ.परविंदर कौर महाजन	३९
८.	हिंदी बाल साहित्य की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भूमिका	अनिल कुमार	४४
९.	हिन्दी भाषा की वैश्विक भूमिका	गरिमा चारण	४८
१०.	भारतीय परिप्रेक्ष्य में धर्मनिरपेक्षतावाद का सूक्ष्म अवलोक	डॉ.देवेश चन्द्र प्रकाश डॉ.कमल किशोर यादव	५२
११.	पर्यावरण एवं प्रदूषण	डॉ.राजेन्द्र प्रसाद यादव डॉ.कमल किशोर यादव	६१
१२.	राजनीतिक भ्रष्टाचार और अपराधीकरण: एक समाशास्त्रीय विश्लेषण	डॉ.राजेन्द्र प्रसाद यादव डॉ.निखिलकुमारश्रीवास्तव	६८
१३.	भारतीय राजनीति में जातिवाद का बढ़ता प्रभाव	डॉ.राजेन्द्र प्रसाद यादव डॉ.राजेश कुमार यादव	७३
१४.	गाँधी–सर्वोदय दर्षन के राजनीतिक चिन्तन का जीव–जन्तु एवं मानव कल्याण में भूमिका	डॉ.सिकंदर लाल	८०
१५.	मुस्लिम औरत : परिवर्तित होती वैचारिकता	यतीन्द्र सिंह	८३
१६	भारतीय मुस्लिम महिलाएं एवं उनकी शैक्षिक स्थिति	नसीम अख्तर	८८
१७	समाज के निर्माण में साहित्य की भूमिका	डॉ सितारा जक़िया	९२
१८	कृषि अर्थव्यवस्था, लघु एवं कुटीर उद्योग	डॉ. महेंद्र कुमार उमर	९६
१९	डॉ. रामसजन पाण्डेय की काव्यशास्त्रीय आलोचना–दृष्टि	रेनु	१०२

अंक-७ भाग-2 ISSN –२४५४-६२८३ IMPACT FACTOR-1.5

२०	भीष्म साहनी के उपन्यास साहित्य का शिल्प	श्री विजय महांतेश	१०७
२१	राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीचे तत्वज्ञान	डॉ.राठोड यु.सी.	११०
२२	The Impact of 'Vision-2020' & 'National Programme for Control of Blindness' (NPBC) on Rural Areas of Junnar Tahasil, Maharashtra, India	Mrs. Swati Dixit Dr. Avinash Kadam	११६
२३	The Movement for Change of Women Development	Bagate Milind Govindrao	१२४
२४	Equality: The Share of Everyone	Anu Khanna	१३१
२५	Our Innermost Character "Julius Caesar"	Smt. Shilpa B. Hosamani	१३७
२६	भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास: एक विवेचन	भानु प्रताप प्रजापति	१४०
२७	पारदर्शिता और सूचना का अधिकार	डॉ.विनी शर्मा	१४६
२८	हिमांशु जोशी उपन्यास साहित्य में नारी	डॉ.अरुणा हिरेमठ	१५६
२९	गोस्वामी तुलसीदास के कृतित्व में अभिव्यंजित काव्य प्रयोजन	डॉ.कृपा किन्जल्कम	१६०

२६.भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यास: एक विवेचन

भानु प्रताप प्रजापति

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद,

आज का युग सूचना क्रांति और भूमंडलीकरण का युग है। आधुनिकता के इस यांत्रिक युग में हर कोई अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयासरत है। इस लक्ष्य प्राप्ति के इस प्रयास में आज सभी अत्यधिक अर्थात जरूरत से ज़्यादा यांत्रिक बनते जा रहे हैं। इसका प्रभाव समाज पर भी बहुत तेजी से पड़ रहा है परिणामस्वरूप समाज भी उतनी ही तीव्रगति से बदल रहा है। आज का मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन- मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। फिर भी भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया ने सिर्फ और सिर्फ विसंगतियां ही नहीं पैदा की बल्कि इसकी कुछ मूलभूत विशेषताएं भी हैं। अतः भूमंडलीकरण के समुचित विवेचन द्वारा ही इस तथ्य को और अधिक प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। भूमंडलीकरण एक प्रकार से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, और कहें तो राजनीतिक बदलाव का प्रमुख कारण है, यह हमें किसी न किसी प्रकार से प्रभावित कर रहा है। यह हमारे जीवन के आंतरिक तथा वाह्य दोनों पक्षों को प्रभावित कर रहा है। भूमंडलीकरण का इतना प्रभाव हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों को लेकर समस्त देश का साहित्यकार चिंतित है। भारतीय साहित्य और खास तौर से हिंदी साहित्य को देखें तो लगभग समस्त हिंदी साहित्य इससे प्रभावित दिखता है। कविता, कहानी, तथा उपन्यास में वैश्वीकरण के प्रभाव विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। वैसे भी उपन्यास तो सम्पूर्ण जीवन का अंकन करता है (उपन्यास मानव जीवन का महाकाव्य है) अतः यह तय है कि इसमें भूमंडलीकरण का प्रभाव अन्य विधाओं की अपेक्षाकृत अधिक से अधिक हुआ होगा। इस दौर के हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण से उपजी तमाम विसंगतियों और समस्याओं जैसे- भ्रष्टाचार, गरीबी, दलितों की स्थिति, आदिवासियों की स्थिति, नयी नारी चेतना, किसान समस्या, आतंकवाद, विषैली राजनीति, जनतंत्र पर हाबी होता अर्थतंत्र, सांप्रदायिकता, विषैली राजनीति, सामाजिक संबंधों का ह्रास, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों का पतन, पारिवारिक-विघटन आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है। अत: प्रस्तुत है भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख हिंदी उपन्यासों का कथ्य आधारित विवेचन....

'दौड़' (2000) प्रसिद्ध कथाकार ममता कालिया का लघु उपन्यास है, यह उपन्यास सन 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। लेकिन उससे पहले सर्वप्रथम यह 'तद्भव' त्रैमासिक में प्रकाशित हुआ था। यह एक ऐसा उपन्यास है जो आकार में लघु है लेकिन अपने कलेवर और समस्याओं के निरूपण में बहुत ही विस्तृत। इसकी लघुता और इसके कलेवर तथा इसमें विवेचित या चित्रित समस्याओं के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक खगेन्द्र ठाकुर ने अपना मंतव्य व्यक्त करते हुये लिखा है कि-'दौड़' लघु उपन्यास है लेकिन आकार मे ही लघु है यह, कथा, कथ्य, चरित्र, शिल्प, शैली, भाषा आदि के समन्वित रूप में आज की महान रचना है"।[6] यह लघु उपन्यास हमारे समक्ष बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दों, प्रासंगिक प्रश्नों एवं समस्याओं को उठाता है। 'दौड़' आज के उस मनुष्य की कहानी है जो बाज़ार के दबाव-समूह, उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता

[6]दौड़, ममता कालिया, (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार) पृष्ठ 6-

तथा अंधी दौड़ में नष्ट होते मनुष्य के आसन्न खतरे में पड़े मनुष्यत्व को उजागर करती है। यह रचना मनुष्यों की पारस्परिक सम्बन्धों की परंपरा और वर्तमान की जटिलताओं के मध्य विकराल होते अंतराल की सूक्ष्म पड़ताल करती है।[7] इस लघु उपन्यास में भूमंडलीकरण, औद्योगिकरण और उदारीकरण तथा बाज़ारवाद से उपजी विसंगतियों का चित्रण बहुत ही सूक्ष्म ढंग से किया गया है। वैसे बाज़ारतंत्र और उपभोक्तावाद पर हिंदी में पिछले दिनों बहुत कुछ लिखा गया है। भूमंडलीकरण पर भी लिखा गया है। लेकिन 'दौड़' भूमंडलीकरण, व्यावसायिकता, आजीविकावाद, विज्ञापनबाजी, उपभोक्तावाद आदि के मिश्रण से बने मनुष्यों की कहानी बहुत प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करता है।[8] भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, विश्वायन, जगतीकरण, उदारीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, पूंजीवाद आदि सब एक ही बात है। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण 90 के दसक की एक बहुआयामी परिघटना है। इसके कुछ साम्य पक्ष हैं तो कुछ वैषम्य पक्ष भी। यह उपन्यास भूमंडलीकरण, उदारीकरण, और निजीकरण के फलस्वरूप उपजी इन्ही विसंगतियों और समस्याओं को जो विकराल रूप धारण कर रही हैं, की व्याख्या भारत के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। प्रसिद्ध समीक्षक कृष्ण मोहन के अनुसार "बीसवीं सदी के अंत में भारतीय समाज के गहरे सांस्कृतिक संकट का आख्यान है 'दौड़'।[9] जैसा की यह जगजाहिर है कि भूमंडलीकरण, उदारीकरण, पूंजीवाद 90 के दसक कि परिघटना है। प्रस्तुत उपन्यास 'दौड़' सन 2000 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें पूंजीवाद, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद ने विगत 10 वर्षों में भारतीय समाज को किस तरह अपने नियंत्रण में कर लिया है और मनुष्यता कि भावना को दूसित कर उसमें व्यावसायिकता और आजीविकावाद यानि भौतिकता को जो प्रश्रय दिया है जिससे मानवीय संबंधो में दरार आई है। जिसके परिणाम स्वरूप हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है और अभी हो रहा है। 'दौड़' उपन्यास इन सभी बातों का लेखा-जोखा बहुत ही सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यास की कथा एक मध्यम वर्गीय परिवार पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में 5 मुख्य पात्र हैं, राकेश, रेखा, पवन, सघन, और स्टेला। बाकी सभी गौण। उपन्यास के पात्र 'राकेश' और 'रेखा' अपने बेटों 'पवन पांडे' और 'सघन' को समय के साथ-साथ चलने और आगे बढ़ने की प्रेरित करते रहते हैं। यह दोनों अपने बेटों के भविष्य को लेकर इतना सक्रिय रहते हैं कि कहीं उनके बेटे जीवन की दौड़ में पीछे न रह जाएँ। और यही सोच कर वह अपने बड़े बेटे पवन को एमबीए करने के लिए प्रेरित करते हैं। एमबीए करके पवन अपनी जिंदगी को सुख-सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए पैसों कि खातिर इधर-उधर दौड़ने लगता है। वह जितना अपने भौतिक जीवन में आगे बढ़ता है उतना ही वह अब अपने माँ-बाप से दूर होता जा रहा था। अब यही 'राकेश' और 'रेखा' को भारी पड़ रहा है। लेकिन इसके जिम्मेदार क्या वे खुद नहीं? रेखा यही बात अपने पति 'राकेश' से कहती है कि "पहले तुम्हें भाय था कि बच्चे कहीं तुम जैसे आदर्शवादी न बन जाएँ इसीलिए उसे एमबीए कराया। अब वह यथार्थवादी बन गया है तो तुम्हें तकलीफ़ हो रही है। जहां नौकरी कर रहा है, वहीं के कायदे कानून ग्रहण करेगा"।[10] भौतिकतावाद के साथ दिखावेपन की प्रवृत्ति इस कदर हावी होती जा रही है कि मनुष्य कि आवश्यकताएँ और इच्छाएं लगातार बढ़ती ही जा रही हैं। अपनी इन्ही असीमित इच्छाओं कि पूर्ति के लिए आज का प्रत्येक युवा पैसों के लिए गलत या सही रास्तों कि परवाह किए बिना ही अपनी भौतिक उन्नति के लिए लगातार दौड़ रहा है और दौड़ता ही चला जा रहा है। उसे एक पल का समय नहीं है कि वह यह तय कर सके कि जो रास्ता उसने चुना है वह कहीं हमें गर्त कि ओर तो नहीं ले जा रहा है। लेकिन नहीं, वह दौड़ता ही जा रहा है। उसकी इस अंधाधुंध दौड़ में वह जितना पा रहा है उससे कहीं अधिक वह खोता जा रहा है उसके अपने परिवार, संस्कार, संस्कृति, परम्पराएँ अपने जीवन मूल्य, लगातार विघटित हो रहे हैं। जिनसे वह बहुत दूर कोसों दूर होता जा रहा है।

---

[7] दौड़, ममता कालिया,(उपन्यास के फ्लैप से)

[8] दौड़, ममता कालिया, (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार 7-पृष्ठ (

[9] दौड़, ममता कालिया, (उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य से साभार7-पृष्ठ (

[10] दौड़, ममता कालिया, पृष्ठ 41-

'दस बरस का भंवर' (2007) यह उपन्यासकार रवीद्र वर्मा का चर्चित उपन्यास रहा है। इसमें बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) और गुजरात नरसंहार (2002) के बीच फैले दस वर्ष हमारे समकालीन इतिहास का ऐसा समय रचते हैं, जिसकी प्रतिध्वनियाँ देर और दूर तक जाएंगी। इस दशक में केवल सांप्रदायिकता ही परवान नहीं चढ़ी, बल्कि नव-उदारवाद ने भी हमारे समाज में जड़ें पकड़ी-जैसे दोनों सगी बहनें हों। उपभोक्तावाद मूल्य बना। सामाजिक सरोकार तिरोहित होने लगे। यह उपन्यास इसी आरोह-अवरोह को एक परिवार की कहानी द्वारा पकड़ने की कोशिश है, जिसके केंद्र में रतन का तथाकथित 'शिजोफ्रेनीया, है और उसका सामना करते बाँके बिहारी हैं। रतन के भाइयों की संवेदनहीनता जाने-अनजाने एक चक्रव्युह की रचना करती है, जिससे बाँके बिहारी अपने छोटे बेटे को निकालते हैं। रतन अपने उन्माद में अपनी प्रेमिका का बलात्कार करता है। पत्रकार बाँके बिहारी के लिए यह 'गुजरात' का रूपक बन जाता है। इन्ही कथा-सूत्रों के इर्द-गिर्द लेखकीय चिंताएँ बिखरी हैं, जो समकालीनता का अतिक्रमण करती हुई मनुष्य की नियति की पड़ताल करती हैं। (उपन्यास के फ्लैप से साभार)।

'जिंदगी ई-मेल' (2008) सुषमा जगमोहन का यह उपन्यास अपने अनूठे शिल्प प्रयोग की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इसमे एक परिवार की बिखरती हुई जिंदगी का सजीव चित्रण किया गया है। यह उपन्यास एक प्रकार से पत्रात्मक शैली में लिखा गया है। सम्पूर्ण उपन्यास ई-मेल पर एक पति और पत्नी के पत्र व्यवहार का पत्र संग्रह है। सूचना-संक्रांति के इस युग मे आज का व्यक्ति तेजी से उच्च शिखर छू लेने को आतुर है। अपनी इस लालसा और इच्छा के लिए वह अपने सभी प्रकार के नैतिक मूल्यों की तिलांजलि देता जा रहा है। जीवन की इस आपाधापी में उसकी जिंदगी में मानवीय संवेदनाओं एवं मूल्यों का पतन हो रहा है। बाजारवाद के अंधड़ में आदमी के पाँव उखड़ चले हैं और वह कुछ काल्पनिक पाने की चाहत में 'अपना' सबकुछ होम रहा है। (उपन्यास के फ्लैप से साभार)

'रेहन पर रग्घू' (2008) प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह का यह काफी चर्चित उपन्यास है। इसे समीक्षकों ने इनकी रचना यात्रा का नव्य शिखर माना। इसमें भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है-तब्दीलियों का तूफान जो निर्मित हुआ है-उसका प्रामाणिक और गहन अंकन हुआ है। यह उपन्यास वस्तुतः गाँव, शहर, अमेरिका तक के भूगोल में फैला हुआ अकेले और निहत्थे पड़ते जा रहे समकालीन मनुष्य का बेजोड़ आख्यान है।.... 'रेहन पर रग्घू' नए युग की वास्तविकता की बहुस्तरीय गाथा है। इसमें उपभोक्तावाद की क्रूरतावों का विखंडन है ही, साथ में शोषित-प्रताड़ित जातियों के सकारात्मक उभार और नयी स्त्री की शक्ति एवं व्यथा का दक्ष चित्रांकन भी है। (अखिलेश, उपन्यास के फ्लैप से साभार)। नामवर सिंह ने इसे बदलते हुये यथार्थ की कहानी बताया है। वे लिखते हैं कि 'भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दुष्प्रभाव से गाँव भी नहीं बचे हैं। घर के घर तबाह हो रहे हैं, पति-पत्नी के बीच संबंध ठंडे पड़ते जा रहे हैं, बेटी बाप के लिए परायी होती जा रही है। बेटा अपने बाप के आए हुये पचास हजार रुपये अपने पास रख लेता है और समझता है कि बाप से वसूल करने का उसे हक है। उपभोक्तावाद ने मानवीय रिश्तों को ध्वस्त कर दिया है और लोग हत्यारे बनते जा रहे हैं। बाटने कि जरूरत नहीं है कि इस कथा में, बदलते यथार्थ की इस प्रस्तुति में, इसका प्रतिरोध भी छुपा हुआ है और इस तरह, इस व्यवस्था की चुनौती भी दी गयी है।[11]

'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) यह उपन्यासकार रणेन्द्र का काफी चर्चित और महत्वपूर्ण उपन्यास है। मोटे तौर पर देखा जाए तो यह उपन्यास झारखण्ड की 'असुर जनजाति' के संघर्षों को बयान करता है। यह आदिवासियों-वनवासियों के जीवन का संतप्त सारांश है। शताब्दियों से संस्कृति और सभ्यता की पता नहीं किस छन्नी से छन कर अवशिष्ट के रूप में जीवित रहने वाले असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता व

[11] लेखबदलते यथार्थ की कहानी-, नामवर सिंह, चौपाल, अर्धवार्षिकी, वर्ष१ :, अंक १ :

संवेदनशीलता के साथ रणेन्द्र ने लिखी है। आग और धातु की खोज करने वाली, धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है। रणेन्द्र प्रश्न उठाते हैं, 'बदहाल जिंदगी गुजारती संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है।[12] प्रस्तुत उपन्यास में झारखण्ड के असुरों की संघर्ष गाथा का बहुत ही स्पष्ट और निर्मम चित्र खींचा है जो अपनी नियति (मृत्यु) के खिलाफ लड़ रहे हैं। जहाँ एक ओर इनके विरुद्ध ग्लोबल गांव के देवता हैं जैसे शिण्डालको और वेदांग तो दूसरी ओर एम-पी- और विधायक हैं। इसके अतिरिक्त तीसरी ओर शिवदास बाबा जैसे धार्मिक ठेकेदार भी प्रस्तुत हैं। इस त्रिदलीय सन्धि के सामने संघर्ष कर रहे असुरों को अपनी नियति का एहसास है लेकिन वे अपनी इस नियति को चुपचाप प्राप्त नहीं होना चाहते। बल्कि आखिरी सांस तक संघर्ष करना उनकी मूलभूत सांस्कृतिक विरासत है, उन्हें अधिक श्रेयस्कर लगता है। इस प्रकार 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज़ है। देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को रणेन्द्र उजागर कर सके हैं।

'मुन्नी मोबाइल' (2009) यह कथाकार प्रदीप सौरभ का पहला ही उपन्यास था जिससे उन्हे काफी प्रसद्धि मिली। इनका दूसरा उपन्यास 'तीसरी ताली' भी काफी चर्चित रहा। यह ऐसे कथाकार हैं जो लगातार भूमंडलीकरण से उपजी विसंगतियों को लेकर सृजन करते रहें हैं। इनका तीसरा उपन्यास 'देश भीतर देश' है। 'और सिर्फ तितली' इनका चौथा उपन्यास है जिसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विविधता और उसका ताना-बाना प्रस्तुत किया गया है। 'मुन्नी मोबाइल' तकनीकी के सहारे आगे बढ़ने की कहानी भी है। बस जरूरत है कि उसका सही इस्तेमाल हो नहीं तो उसके भयानक परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं। इस उपन्यास कि प्रमुख पात्र बिन्दू यादव है। यह बिन्दू यादव से कब मुन्नी और फिर मुन्नी मोबाइल बन जाती है पता ही नहीं चलता। एक मोबाइल मिलने से उसकी पूरी तकदीर ही बदल जाती है। प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी ने इसे एकदम नई काट का, एक दुर्लभ प्रयोग माना है (उपन्यास के फ्लैप से। सुप्रसिद्ध कथाकार रवीद्र कालिया लिखते हैं कि ' 'मुन्नी मोबाइल' समकालीन सच्चाईयों के बदहवास चेहरों कि शिनाख़्त करता उपन्यास है। धर्म, राजनीति, बाज़ार और मीडिया आदि के द्वारा सामाजिक विकास कि प्रक्रिया किस तरह प्रेरित व प्रभावित हो रही है, इसका चित्रण प्रदीप सौरभ ने अपनी मुहावरेदार रवां-दवां भाषा के माध्यम से किया है'(उपन्यास के फ्लैप से)। मृणाल पांडे ने लिखा है कि 'मुन्नी मोबाइल' कि कथा पिछले तीन दशकों के भारत का आईना है।

'तीसरी ताली' (2011) प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रदीप सौरभ का यह उपन्यास किन्नरों के जीवन पर आधारित है। प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी ने लिखा है कि "प्रदीप सौरभ ने इस दुनिया के उस तहख़ाने में झाँका है, जिसका अस्तित्व सब मानते तो हैं लेकिन जानते नहीं"।

'स्वर्णमृग' (2012) प्रख्यात कथाकार गिरिराज किशोर का उपन्यास है। 'स्वर्णमृग', यानी सोने का हिरन, बड़ा शातिर करिश्मा है प्रकृति का ! बाबा तुलसीदास ने कहा-"निगम नेति जेहि ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा"। यानी उसके मायाजाल से मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक नहीं बच पाये ! वही स्वर्णमृग आज वैश्वीकरण के चोले में सारी दुनिया में घूम रहा है औए बड़े-बड़े राजनेता-कूटनीतिज्ञ बेतहाशा भागे जा रहे हैं उसके पीछे।[13] 'स्वर्णमृग' उपन्यास साइबर क्राइम पर केन्द्रित है। और यह साइबर जगत के अंदर तक की पड़ताल करता है। उपन्यास के आवरण पर यह लिखा है कि वैश्वीकरण कि त्रासदी पर पहला मौलिक उपन्यास है। लेकिन इस पर डॉ॰ पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि "साइबर क्राइम की दुनिया पर यह हिन्दी का पहला उपन्यास जरूर है लेकिन पुस्तक के आवरण पर यह घोषणा (लेखकीय या प्रकाशकीय?) कि यह वैश्वीकरण

[12]ग्लोबल गाँव के देवता रणेन्द्र-(उपन्यास), पुस्तक के फ्लैप से

[13]स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,(उपन्यास के फ्लैप से)

कि त्रासदी पर पहला मौलिक उपन्यास है, जल्दी हजम नहीं होती। इससे पहले भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति के प्रतिरोध में रवीन्द्र वर्मा, काशीनाथ सिंह, अलका सरावगी, राजू शर्मा वगैरह के उपन्यास आ चुके हैं। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, और निजीकरण रूपी अपसंस्कृति का प्रतिरोध इन सभी लेखकों ने अपनी रचनाओं में किया है। गिरिराज किशोर भी उन्ही रचनाकारो में से एक हैं जो अपने उपन्यास 'स्वर्णमृग' के माध्यम से भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति को बहुत ही सटीक ढंग से रेखांकित करते हैं। इसमें वैश्वीकरण के ज्वलंत प्रश्न को, कथानायक 'पुरुषोत्तम' के माध्यम से उभारा गया है, और उसमें छिपे खतरनाक सत्य को उद्घाटित किया गया है।[14]

यह उपन्यास पाठक को इस (साइबर क्राइम) अपराध जगत की जड़ों तक ले जाता है। एक-एक कर यह इसके पूरे अंतर्जाल को और इसमें शामिल सभी लुटेरों की तहक़ीक़ात करता है। यह उपन्यास ऐसे ही साइबर अपराधियों के चंगुल में फसे एक सीधे-साधे इंसान 'पुरुषोत्तम' द्वारा नासमझी में की गयी गलतियों का एक चिट्ठा है। 'पुरुषोत्तम' को उपन्यासकार 'पुरुषो' से संबोधित करता है। 'पुरुषो' को उसके ई.मेल पर एक मेल आता है कि आपकी ई.मेल आईडी ने एक मिलियन पौंड (दस लाख पौंड) का ईनाम जीता है। वह उसमें न चाहते हुये भी फस जाता है। इस बात का जिक्र वह अपने सी. ए. से भी करता है। इस पर उसका सी. ए. कहता है कि "मैं आपको साफ़ बताऊँ कि यह वैश्वीकरण का जमाना है। यूरोप और अमेरिका कि मंदी ने व्यक्तिगत रूप से भी धन कमाने की नई पद्धतियाँ निकाल ली हैं। पहले हुकूमत की ताकत के बल पर हम लोगो से पैसा छीनकर ले जाते थे। अब लालच और लफड़ेबाजी से ले जाना चाहते हैं"।[15] इन सब के होते हुये भी वह इसमें फसता है और अपना सब कुछ लुटा देता है। 'पुरुषो' के लूटने की ही कथा है यह स्वर्णमृग उपन्यास, साथ ही भूमंडलीकरण के खतरों से भी आगाह करता है। आज आम आदमी भी बिना कुछ किए करोड़पति बनने का सपना पाल रहा है। इस इजी मनी के चक्कर में ये लोग आसानी से साइबर क्राइम की दुनिया के दलालों (अपराधियों) के चंगुल में फस भी जा रहे हैं। हाँ एक बात और है कि यह वह वर्ग है जो अपने पढ़े-लिखे और शिक्षित होने का दावा करता है। यानि कि पढ़ा-लिखा आधुनिक तकनीकी का जानकार इंटरनेट कामी वर्ग है। साइबर क्राइम करने वाले लोगों ने एक मायावी जाल फैला रखा है। इसमें तमाम मल्टीनेशनल कंपनियों के साथ-साथ कई ऐसे देशी-विदेशी अँग्रेजीदां लोग डिप्लोमैट के नाम पर यह खेल खेल रहे हैं। इसी प्रकार के डेविड मूर जैसे डिप्लोमैट के चंगुल में या मूर के मायावी जाल में उपन्यास का नायक 'पुरुषो' भी होता है। दस लाख पौंड यानि इस स्वर्णमृग रूपी अकूत धनराशि के पीछे-पीछे वह भागता रहता है। जबकि उपन्यास के अंत में यह पता चलता है कि यह रुपया एंठने कि सिर्फ़ साजिश थी। अंत में सब कुछ लुट जाने के बाद कथानायक 'पुरुषो' भूमंडलीकरण की कलई भी खोलता है। वह अपने पत्र में यह लिखता है कि "मैं वैश्वीकरण के विकीरण के कुप्रभाव के इस कोढ़ से अपने लोगों को अपने अनुभवों के जरिये बचाना चाहता हूँ। वैश्वीकरण तीसरी दुनिया के लोगों के लिए आणविक विस्फोट के फाल आउट कि तरह लगता है। आणविक विभाजन और वैश्वीकरण जुड़वा भाई की तरह हैं"।[16] डॉ. पुष्पपाल सिंह के शब्दों में "उपन्यास साइबर क्राइम के लाटरी कांडों की असलियत की अच्छी पोल खोलता है। यह उस सत्य की ओर इंगित करता है कि वैश्वीकरण के इस युग में इंसानी रिश्तों को पीछे छोड़कर पैसे कि ऐसी सुनामी आई है जिसमें बह जाने के लिए प्रोत्साहित करने कि स्थितियाँ कदम-कदम पर प्रस्तुत हैं। उपन्यास आज के मनुष्य कि इस त्रासदी को गहरी संवेदना से प्रस्तुत करता है।[17]

'गायब होता देश' (2014) रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश' आदिवासी समाज की समस्याओं, संकट की स्थिति उनकी कला एवं संस्कृति, आदि को केंद्र में रखकर लिखा गया है। 'गायब होता देश' (पेंगुईन बुक्स,

---

[14] स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,(उपन्यास के फ्लैप से)

[15] स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,पृष्ठ 34-

[16] स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर,पृष्ठ 23-

[17] लेखपुष्पपाल सिंह .डॉ -, पीछा मृग मरीचिका का से

2014) से प्रकाशित इनका दूसरा उपन्यास है। हालांकि रणेंद्र अपने पहले उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' में भी 'असुर' जनजाति यानि कि एक आदिवासी समाज की ही समस्या को उठाये थे। वहीं अपने दूसरे उपन्यास 'गायब होता देश' में भी आदिवासी समाज की 'मुंडा' जनजाति को केंद्र में रख कर उनकी वास्तविकताओं से समाज को अवगत कराने का सराहनीय प्रयास किया है। चूंकि रणेंद्र आदिवासी समुदाय के बीच काफी समय से रह रहें हैं। आदिवासी समाज की समस्याओं को देखा सुना और अनुभव किया है। तथा आदिवासी समाज की समस्याओं को आदिवासी समुदाय के बीच रहकर वहां के समाज और संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में किया है। रणेन्द्र ने भूमंडलीकरण रूपी आंधी के विविध आयामों खासकर आर्थिक आयाम को लिया है और इस आर्थिक आयाम का क्या कुप्रभाव आदिवासी समाज एवं संस्कृति पर पड़ रहा है इसे सही-सही पहचानने का प्रयास किया है। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में 'गायब होता देश' को विश्लेषित करना उपयुक्त हो जाता है। 'गायब होता देश' उपन्यास की अंतर्वस्तु के विषय में स्वयं लेखक रणेन्द्र का कथन है कि "...'गायब होता देश' की विषयवस्तु आदिवासी मुंडा समुदाय के असह्य शोषण, लूट, पीड़ा, विक्षोभ पर ही केंद्रित है।........आजादी के बाद विकसित देशों के कथित विकास मॉडल ने विस्थापन के वज्र से जो आघात आरंभ किया उसकी चोट ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थायी बंदोबस्ती, जमींदारी प्रथा से भी ज्यादा गहरी और मारक थी। 1991 ई. के बाद उपभोक्तावादी पूंजीवाद को ज्यादा खनिज, ज्यादा जंगल, ज्यादा जमीन चाहिए। कल तक बाहुबली बिल्डर दबंगई के बल पर अपना पेशा चला रहे थे। नई आर्थिक नीति और 2008 की महामंदी ने रियल एस्टेट को सबसे ज्यादा मुनाफा देने वाले सेक्टर में बदल दिया है। वही रंगदार-बिल्डर अब प्रतिष्ठित कॉरपोरेट है। जमीन की लूट की गति हमारे अनुमान से भी ज्यादा तेज है। स्वाभाविक है कि झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा आदि राज्यों में इस सेक्टर का सबसे बड़ा शिकार आदिवासी समुदाय है। ....यही जलते प्रश्न नए उपन्यास की अंतर्वस्तु हैं"।[18]

'फाँस' (2015) प्रसिद्ध कथाकार संजीव का यह उपन्यास किसानों की समस्या पर केन्द्रित है। यह उपन्यास संजीव ने किसानों को समर्पित किया है। समर्पण में संजीव जी लिखते हैं कि 'सबका पेट भरने और तन ढकने वाले देश के लाखों किसानों और उनके परिवारों को जिनकी 'हत्या' या 'आत्महत्या' को हम रोक नहीं पा रहे हैं'। इस उपन्यास का सृजन संजीव जी ने महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के अपने एक वर्ष के अतिथि लेखक (2011-12) के दौरान किया। यहाँ पर उन्हे विदर्भ के विभिन्न जिलों की भूमि और भूमि पुत्रों की दशा-दिशा और दुर्दशा देखने और समझने का अवसर मिला। इस उपन्यास के विषय में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं कि 'अपनी इस साहित्यिक विरासत के आधार पर आज यही कहने को जी चाहता है कि भूमंडलीकरण के आक्रामक दौर में नष्ट होती हुयी ग्राम संस्कृति और आत्महत्या के लिए लिए विवश किसानों को केंद्र में रखकर किया जाने वाला कथा-सृजन ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकता है'(उपन्यास के फ्लैप से साभार)। नामवर सिंह जी ने इसे जहां भूमंडलीकरण कि भयावह स्थिति के संदर्भ मे किसानों कि स्थिति कि बात कि है वहीं पर प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिकहते हैं कि 'भारत में अब तक तीन लाख से अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या कि है। यह मानवता के इतिहास की एक भयावह त्रासदी है और आमनवीय समाज-व्यवस्था का भीषण अपराध भी। इस त्रासदी और अपराध के प्रतिरोध की प्रवृत्ति पैदा करने वाला यह उपन्यास 'फाँस' प्रेमचंद के कथा साहित्य की प्रगतिशील परंपरा का आज की स्थिति में विकास करेगा'(उपन्यास के फ्लैप से साभार)।

[18]रणेंद्र का साक्षात्कार(हिंदी पत्रिका ,तहलका) रुबीना सैफी ,

Vol. 2, Issue 24, April 2017
वर्ष 2, अंक 24. अप्रैल 2017
ISSN 2454-2725
Jankriti
जनकृति
April 2017
अप्रैल 2017
बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका/ Multilingual International Monthly Magazine
प्रधान संपादक: कुमार गौरव मिश्रा
Editor-in-chief: Kumar Gaurav Mishra
आवरण चित्र: सौरभ जखमोला/Cover pic: Saurabh Jakhmola

ISSN 2454-2725
www.jankritipatrika.in

विषय सूची

साहित्यिक विमर्श (कविता, नवगीत, कहानी, लघु-कथा, व्यंग्य, ग़ज़ल, संस्मरण, आत्मकथा, पुस्तक समीक्षा, आप बीती, किस्से कलम के)

कविता

अनिल अनलहातु, अंजू जिंदल, डॉ. प्रमोद पाण्डेय, डॉ. पुष्पलता, दुर्गेश वर्मा, गरिमा कांसकर, गौरव गुप्ता, पूजा, पुरुषोत्तम व्यास, राजकुमार जैन, सत्या श्याम 'कीर्ति', शशांक पाण्डेय, सुबोध श्रीवास्तव

ग़ज़ल

टिकेश्वर प्रसाद जंघेल, विश्वंभर पाण्डेय 'व्यग्र'

कहानी

- लेन-देन (सिंधी कहानी)[मूल- मोतीलाल जोतवानी, अनुवाद- देवी नागरानी]
- बदलता परिवेश: राजेश कुमार 'मांझी'
- वो उर्दू वाली गर्ल: शक्ति सार्थ्य

लघुकथा

- आस्था का किनारा: अरुण गौड़
- पहचान: विजयानंद विजय

पुस्तक समीक्षा

- आईना-दर-आईना[डी.एम.मिश्र]:समीक्षक: अनिरुद्ध सिन्हा
- जमाने में हम [आत्मकथा: निर्मला जैन]: एक जमाना ऐसा भी रहा- समीक्षक: एमरेन्सिया खालखो
- एक और आवाज़: मनीषा

व्यंग्य

- नागनाथ सांपनाथ का चुनावी उत्सव: एम.एम.चंद्रा
- संसद में अद्भुत दलित चिंतन: ओमवीर करण
- धर्मवीर कर्मवीर से लेकर बयानवीर तक: राकेश वीरकमल

हाईकू

- आनंद बाला शर्मा

- इस खूबसूरत गृह को बचाना ही होगा (पर्यावरण चिंतन): संदीप तोमर
- गंदी बस्ती: विकास को मुंह चिढाती झुग्गियां: निष्ठा प्रवाह
- समकालीन कविता के सरोकार: बृजेश नीरज

शोध आलेख

- राजेश जोशी की कहानियों में मध्यवर्ग (संदर्भ 'मेरी चुनिंदा कहानी'): प्रियंका गुप्ता
- अमरकांत की कहानी कला और मध्यवर्ग: पीयूष राज
- 'मैं पायल': किन्नर जीवन की व्यथा, विस्थापन और संघर्ष का दस्तावेज: पार्वती कुमारी
- पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण और जैनेंद्र (विशेष संदर्भ-'पत्नी' कहानी): आदित्य कुमार गिरि
- ECR श्रेणी के प्रवासित श्रमिकों हेतु भारत सरकार के कार्यक्रमों का समीक्षात्मक अध्ययन: अखिलेश कुमार सिंह
- साहित्य और सत्ता का संबंध: आलोक कुमार यादव
- साहित्य के अध्ययन में तुलनात्मक साहित्य की भूमिका: अमृत कुमार
- 'स्वर्ग विराग' कश्मीर के दर्द को दर्शाती कविताएं: अमतुल राबिया
- महात्मा गाँधी की दृष्टि में स्त्री: आशीष कुमार
- भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यासों में मूल्य संक्रमण: भानु प्रताप प्रजापति
- भक्ति आंदोलन में वैश्विक एकता के सूत्र: भारती
- पर्यटन के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार 'किन्नर देश में': डॉ. स्नेहलता नेगी
- मेवात की सांस्कृतिक झलक: डॉ. रूपा सिंह
- 'महामिलन' उपन्यास में चित्रित यथार्थ: कुलदीप
- हिंदी काव्य में सामाजिक स्वरूप का प्रतिबिम्ब: नीरज कुमार सिन्हा
- विसंगातिबोध के कहानीकार अमरकांत: प्रदीप त्रिपाठी

जनकृति अंतरराष्ट्रीय पत्रिका/ Jankriti International Magazine ISSN 2454-2725
(बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका/Multilingual International Monthly Magazine) www.jankritipatrika.in

भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में मूल्य संक्रमण

भानु प्रताप प्रजापति
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद,
मो. **9441376914, 9453699452**
ईमेल:**bppraja@gmail.com**

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक जीवन में बहुत ही व्यापक स्तर पर परिवर्तन या बदलाव आया है। भूमंडलीकरण तथा सूचना संक्रांति के इस आधुनिक यांत्रिक युग में हर कोई ज्यादा से ज्यादा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति तथा धन की इच्छा रखने लगा है। आज का मनुष्य अपने भौतिक जीवन को सुख-सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए बहुत से ऐसे कार्यों को करता जा रहा है जिसे उसको नहीं करना चाहिए। नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि उसके लिए कोई मूल्य ही नहीं रहे। अर्थात हमारे जीवन-मूल्य लगातार संक्रमित होते जा रहे हैं। जहाँ पर हमारी प्राचीन उक्ति **'वसुधैव कुटुंबकम'** में समस्त मानव-जाति अर्थात मनुष्यता के कल्याण की भावना निहित थी उसे आज भूमंडलीकरण द्वारा उपजी उपभोक्तावादी संस्कृति या अपसंस्कृति ने उखाड़कर रख दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे समाज तथा साहित्य पर भी पड़ रहा है। आज जो समाज निर्मित हो रहा है उसमें जीवन-यापन करने वाला लगभग प्रत्येक मनुष्य अपने प्राचीन जीवन-मूल्यों को भूलता जा रहा है और नवीन जीवन मूल्यों को अपनाता जा रहा है। ये नवीन जीवन मूल्य बहुत ही विसंगति पूर्ण हैं। डॉ. श्यामा चरण दूबे अपनी पुस्तक **'समय और संस्कृति'** में लिखते हैं कि "समकालीन भारतीय समाज तीव्र संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं-एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नए मूल्य ला रही है, जिन्हे अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंध अनुकरण ने एक नई चिंता को जन्म दिया है-अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।.......हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं।"[1] वह आगे लिखते हैं कि "संक्रमण के इस दौर में सांस्कृतिक अस्मिता का ह्रास भी एक गंभीर संकट के रूप में उभर रहा है। वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक विकास और सामाजिक विकास की असमान गति और विसंगतियों से सामाजिक मान्यताएँ क्षीण हो रही हैं और सांस्कृतिक मूल्य विशृंखलित हो रहे हैं।"[2]

भूमंडलीकरण का इतना व्यापक प्रभाव हमारे जीवन तथा समाज पर पड़ रहा है कि आज साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। मौजूदा समय में यह साहित्य के लिए एक ज्वलंत मुद्दा तो है ही, साथ ही वर्तमान समय के साहित्य का सबसे ज्यादा विवेचित और विश्लेषित होने वाला एक महत्वपूर्ण विषय भी है। वस्तुत: हिन्दी साहित्य के अंतर्गत भूमंडलीकरण, उदारीकरण, तथा निजीकरण जैसे मुद्दों पर चर्चा लगभग पिछले पच्चीस वर्षों से हो रही है। आज लगभग सभी नए-पुराने साहित्यकार भूमंडलीकरण द्वारा उपजी अपसंस्कृति से विचलित और प्रभावित होकर इसे अपनी रचनाओं खासकर कविता, कहानी, उपन्यास तथा अन्य विधाओं में विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, आदि के माध्यम से विवेचित तथा विश्लेषित कर रहे हैं। आज साहित्य की जितनी भी विधाओं में भूमंडलीकरण

[1]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-134, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005
[2]श्यामा चरण दूबे, समय और संस्कृति, पृष्ठ-130, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005

की विभीषिका से संबंधित साहित्य का सृजन हो रहा है उन सभी विधाओं में हिंदी उपन्यास सबसे अग्रणी है। हिंदी उपन्यासों में भूमंडलीकरण से उपजी विभिन्न समस्याओं तथा विसंगतियों का चित्रण बहुत ही व्यापक स्तर पर दिखाई देता है। हिंदी के समकालीन उपन्यासकारों ने सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण या मूल्य-संक्रमण की पीड़ा को अपनी रचनाओं में बहुत ही सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति दी है। हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव तथा इससे पैदा हुई अपसंस्कृति के यथार्थ को अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाले उपन्यासकारों में **काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, संजीव, एस. आर. हरनोट, रवीद्र कालिया, रवीद्र वर्मा, राजू शर्मा, गिरिराज किशोर, अखिलेश, प्रदीप सौरभ, रणेन्द्र, राकेश कुमार सिंह, विनोद कुमार, कुणाल सिंह, स्वयं प्रकाश, बद्रीसिंह भाटिया, पंकज सुबीर, अजय नावरिया, विजय सौदाई, सत्यनारायण पटेल,** तथा महिला उपन्यासकारों में **अलका सरावगी, ममता कालिया, मधु कांकरिया, कमल कुमार, नीलाक्षी सिंह, सुषमा जगमोहन, निर्मला भुराड़िया** आदि प्रमुख हैं।

ममता कालिया के उपन्यास **'दौड़'** में तिरोहित होते जा रहे मानवीय जीवन-मूल्यों को दिखाया गया है। यह एक प्रकार से मानवीय-संबन्धों के ह्रास की कथा है। आज आधुनिकता के नाम पर जो परिवर्तन या बदलाव हो रहा है उसका असर हमारे मानवीय-संबन्धों पर भी पड़ रहा है। अतिशय भौतिक वादी आज की यह युवा पीढ़ी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सबको एक सीढ़ी की तरह इस्तेमाल कर रही है। इनके लिए बंधन, अपनापन, परिवार, मानवीयता सब दोयम दर्जे की चीजे हैं। इस उपन्यास में 'रेखा' और 'राकेश' अपने दोनों बेटों **'पवन'** और **'सघन'** को जीवन की दौड़ में पिछड़ने देना नहीं चाहते थे, उन्हे वह समय के साथ-साथ आगे बढ़ने के लिए सदैव प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते रहे। लेकिन उनका किया धरा एक दिन उन्ही पर भारी पड़ने लगा। पहले तो इन लोगों ने उन्हे दौड़ना सिखाया और जब वे दौड़ने लगे तब उन्हे लगा की बच्चे तो उनसे बहुत दूर होते जा रहे हैं। उन्हे दौड़ना आखिर किसने सिखाया ? **'पवन'** और **'सघन'** आज के दौर के ऐसे युवा हैं जिनके लिए मानवीय-मूल्य, रिश्ते-नाते, संस्कृति, परिवार, तथा परम्पराओं आदि के लिए उनके मन में कोई प्रेम या श्रद्धा नहीं है। इसका उदाहरण हमें तब देखने को मिलता है जब **'राकेश'** अपने बेटे **'पवन'** से एथिक्स की बात करते हैं तो **'पवन'** गुस्से में कहता है कि "मेरे हर काम में आप यह क्या एथिक्स, मोरैलिटी जैसे भारी-भरकम पत्थर मारते रहते हैं। मैं जिस दुनिया में हूँ वहाँ एथिक्स नहीं, प्रोफेशनल एथिक्स की जरूरत है।"[3] एथिक्स एवं मोरैलिटी की बात सिर्फ **'पवन'** के लिए पत्थर के समान नहीं है बल्कि यह उसके जैसे प्रत्येक उस युवा का है जो इस तरीके की सोच रखते हैं।

सुषमा जगमोहन का उपन्यास **'जिंदगी ई-मेल'** भी मानवीय-सम्बन्धों, संवेदनाओं, एवं विघटित होते मूल्यों की ही व्यथा-कथा है। इसमें एक परिवार के विघटन की कथा को बहुत मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस तरह आज का तकनीकी और सूचना तंत्र सम्पन्न व्यक्ति आधुनिक सूचना संक्रांति के सहारे सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच तो गया है लेकिन इस लक्ष्य प्राप्ति में वह अपने प्राचीन जीवन-मूल्य, संस्कार तथा कर्तव्यों को एकदम से भुला दिया है। इसके लिए उसे अपने पारिवारिक तथा सामाजिक-सम्बन्धों एवं सभी नैतिक-मूल्यों की तिलांजलि भी देनी पड़ी है। वह अपनों से बहुत दूर जा चुका है। उपन्यास में कनाडा में नौकरी कर रही एक पत्नी की विवशता एवं सोच को दर्शाया गया है। अधिक धन कमाने की चाह और रुतबे के लिए उपन्यास की नायिका कनाडा चली जाती है। यहाँ संबंध सिर्फ टेलीफोन और ईमेल के जरिये ही जीवित बचे हैं। उपन्यास का पात्र **'दीप'** शायद भोगा हुआ यथार्थ ही तो कहता है "सॉरी, बेटा। हमने कनाडा जाने का बहुत गलत कदम उठाया। इसी कनाडा ने मेरा घर और हमें अलग कर दिया। अब लगता है, मुझे राम की तरह वनवास

[3]दौड़ (उपन्यास), ममता कालिया, पृष्ठ सं.-66

ISSN 2454-2725
www.jankritipatrika.in

मिल गया हो।"[4] अधिक धन की इच्छा और भौतिक उन्नति ने व्यक्ति को स्वार्थी बना दिया है। एक वृद्ध तथा बीमार पिता के प्रति एक बेटे तथा बहू की क्या ज़िम्मेदारी होनी चाहिए इनसे आज की पीढ़ी अनभिज्ञ हो चुकी है। आज की पीढ़ी अपने कर्तव्यों तथा मूल्यों के प्रति जागरूक नहीं रही। बल्कि इससे वह किनारा करते जा रहे हैं। इन्ही सब विसंगतियों तथा विघटित होते जीवन-मूल्यों को उपन्यास में बख़ूबी चित्रित किया गया है।

काशी नाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' भी मनुष्यता के इसी क्षरण की ही कहानी है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे मानवीय तथा पारिवारिक-संबंध डगमगाने लगे हैं। प्रस्तुत उपन्यास में विघटित होते सामाजिक-सांस्कृतिक तथा मानवीय-मूल्यों की सफल अभिव्यक्ति हुई है। भूमंडलीकरण ने आज ऐसी अपसंस्कृति विकसित कर दी है कि आज अपने भी पराए लगने लगे हैं। इसका अंदाजा उपन्यास के पात्र 'रघुनाथ' के इस कथन से लगाया जा सकता है। "देखो जग्गन, 'परायों' में अपने मिल जाते हैं लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे - थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना थी ! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरी कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन देन नहीं।"[5] इस प्रकार भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में मूल्य संक्रमण की सफल अभिव्यक्ति हुयी है। इस दौर के उपन्यासों में मानवीय सम्बन्धों का ह्रास, पारिवारिक विघटन की समस्या, नयी पीढ़ी की पुरानी पीढ़ी के प्रति सोच, अनादर की भावना, वृद्धावस्था की समस्या, अकेलेपन का संत्रास, संस्कृति का क्षरण, मानवीय तथा नैतिक मूल्यों का पतन आदि समस्याओं तथा विसंगतियों पर काफी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। लगभग सभी उपन्यासकारों ने भूमंडलीकरण की त्रासदी को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है तथा उसके भयंकर दुष्परिणामों की ओर भी संकेत किया है। आज जरूरत है हमें अपसंस्कृति (भूमंडलीकरण) से बचने की, उससे सचेत होने की। इसके साम्य पक्ष तथा वैषम्य पक्ष को पहचानने की। इसके सही पक्ष का स्वागत करना है और इसके वैषम्य पक्ष का तिरष्कार। नहीं तो हमारे तिरोहित होते मूल्यों के साथ-साथ हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा। हमें मूल्यहीन नहीं बनना है बल्कि अपने सभी प्रकार के मूल्यों की रक्षा करनी है। आज जरूरत है हमें अपने मूल्यों के संरक्षण की, उनके प्रति प्रेम की तथा उन्हे पोषित और पल्लवित करने की।

संपर्क

भानु प्रताप प्रजापति

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय हैदराबाद,

मो. 9441376914, 9453699452

ईमेल:bppraja@gmail.com

[4]ज़िंदगी ई-मेल (उपन्यास), सुषमा जगमोहन, पृष्ठ सं.-105
[5]रेहन पर रग्घू (उपन्यास), काशीनाथ सिंह, पृष्ठ सं.-98

जनकृति अंतरराष्ट्रीय पत्रिका/ Jankriti International Magazine
(बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका/Multilingual International Monthly Magazine)
ISSN 2454-2725
www.jankritipatrika.in

प्रमाण पत्र

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

'साखी' एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र का संयुक्त आयोजन

राष्ट्रीय संगोष्ठी

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता, 'हंस' और राजेन्द्र यादव

दिनांक : 20-21 अक्टूबर 2016

राधाकृष्णन सभागार, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/डॉ० भानुप्रताप प्रजापति, शोध छात्र, हिन्दी विभाग हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने 'साखी' एवं भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की तथा "राजेंद्र यादव के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ" विषयक शोध पत्र प्रस्तुत किया।

2015 - 2017 Centenary Year

प्रो० अवधेश प्रधान	प्रो० सदानन्द शाही
सह-समन्वयक	समन्वयक
भोजपुरी अध्ययन केन्द्र,	भोजपुरी अध्ययन केन्द्र,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

क्रमांक 47

उच्च शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश शासन की 'उत्कृष्ट केन्द्र योजना' के अन्तर्गत

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

राष्ट्रीय संगोष्ठी

(17-18 नवम्बर, 2012)

भारतीय साहित्य का परिकल्प

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/श्रीमती/डॉ० भानु प्रताप प्रजापति

ने द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की तथा "भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास"

विषय पर शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

प्रो० पवन अग्रवाल
आयोजन सचिव

प्रो० कैलाश देवी सिंह
संयोजक-कार्यशाला एवं अध्यक्ष